स्वामी तपोवनम ग्रन्थावलि : १

हिमगिरि-विहार

[मलयालम भाषा में लिखित मूल ग्रन्थ का हिन्दी-रूपान्तर]

मूल लेखक

स्वामी तपोवनम जी महाराज

हिन्दी-रूपान्तरकार

सुधांशु चतुर्वेदी

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग, श्री केरलवर्मा कालेज त्रिचूर-४ (केरल)

प्रकाशक

स्वामी महादेववनम उत्तरकाशी (उत्तर-प्रदेश)

अनुमति

श्री परमहंस महादेववनम द्वारा आनीत 'हिमगिरि-विहार' के हिन्दी-संस्करण के प्रथम प्रामाणिक प्रारुप का विलोकन कर प्रसन्नता हुई। श्री सुधांशु चतुर्वेदी कृत भाषान्तर सुस्पष्ट एवं प्राञ्जल है। श्री परमहंस तपोवनम जी महाराज परमहंस सम्प्रदाय के अमूल्य रत्न थे। उनकी विद्वत्ता, वैराग्य, तपोनिष्ठ-जीविका सुविदित है। 'हिमगिरि-विहार' में उनके सौन्दर्य एवं कला-प्रेम का चित्रण है। भारत के संन्यासी की दृष्टि से ही सारा वर्णन होने से एक नवीन आभा है। मूल मलयालम से अनभिज्ञ हिन्दी-जानकारों को यह प्रकाशन लाभान्वित करेगा यह निःसंशय है। आस्तिक व कला-रसज्ञों के द्वारा यह कृति सम्मान प्राप्त करे। हमारे प्रिय महादेववनम जी धन्यवादाई हैं। उनका श्रम सफल है।

शांकरो
महेशानन्दगिरिः
श्री ध्रुवेश्वर मठ, काशी

श्री सन्यास आश्रम
आश्रम मार्ग दिल्ली-८

हिमालय-स्तवन

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

•

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधः सानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥

—कुमारसम्भवम् (कालिदासः)

स्वामी तपोवनम जी महाराज

जन्म : सन् १८८६ निधन : १९५७

स्वामी तपोवनम जी महाराज

[संक्षिप्त जीवनी]

इस 'हिमगिरि-विहार' ग्रन्थ के मूललेखक स्वामी तपोवनम जी महाराज ऐसे पुण्यात्मा थे जो संसार का अधकार-पुंज सत्य रूपी सूर्य की आँखों से छिपा लेने के पहले ही वासना के चंगुल से मुक्त हो सके थे। बचपन में ही उनमें मुक्ति-मार्ग के प्रति जो अगाध प्रेम प्रकट हो गया था वह जीवन के 'द्वात्रिंशत्' के बीतते बीतते अदम्य हो गया और इसलिए उन्होंने ईश्वर की प्रबल प्रेरणा के वशीभूत होकर इस संसार रूपी वन को छोड़ कर जहाँ, काम-क्रोध आदि हिंसक पशुओं के द्वारा आत्म-विनाश की सम्भावना सदा बनी रहती है, शम, दम आदि गुणों को पुष्ट करने में समर्थ वातावरण के हिमगिरि-प्रदेशों की शरण ली थी।

कहा जाता है कि तपोवनों के जन्म और पूर्वचरित्र को जानने की आवश्यकता नहीं होती है। फिर भी उनके जीवन का परिचय प्राप्त करना सामान्य लोगों के लिए मार्गदर्शी तथा मानसिक विकास देने वाला होता है। इसी विचार से स्वामीजी महाराज का कुछ परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

● बाल्यकाल—सन् १८८९ (तदनुसार वि० संवत् १९४६) में स्वामी तपोवनम जी ने मार्गशीर्ष महीने के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन जन्म लिया था। पालघाट तालूक के आलत्तूर के पास मुटप्पल्लूर गाँव में एक पुरातन एवं प्रतिष्ठित नायर-परिवार में उनका मातृगृह था। किन्तु कोट्टुवायूर गाँव के करिम्पोट में अपने पितृगृह में ही वे बचपन से रहते आये थे। इनके माता-पिता के शुभ नाम थे श्रीमती कुंजम्मा और श्री अच्युतन नायर।

यह बालक बाल्यकाल से ही भक्ति-मार्ग की ओर झुका हुआ था, तथा पुराण-कथाओं में भगवान की लीलाओं को सुनने एवं मिट्टी की मूर्तियों की पूजा करने में विशेष दिलचस्पी दिखाता था। बच्चे की जन्म-पत्री में 'केमद्रुम-योग' था, जिसका यह फल था कि वह अकिंचन एवं भिक्षु बन जाएगा, तथा 'केसरि' आदि के भी योग थे जो घोषणा करते थे कि वह ऐश्वर्य एवं संपूज्यता के शिखर पर बैठेगा। ज्योतिषी लोग असमंजस में पड़ गये कि इन विरुद्ध फलों को कैसे जोड़ा जाए। पिता तो बड़े संपन्न एवं धर्म-निष्ठ थे।

उनका उद्देश्य था कि पुत्र को नवीन शिक्षा की परम कोटि पर पहुँचा कर इसे लौकिक दृष्टि से एक अत्युच्च पद पर पहुँचाना चाहिए। इस साध्य के लिए उनके पास साधन भी कम नहीं थे। किन्तु क्या जन्म-पत्री का फल भी कभी अन्यथा हो सकता है ?

बालक अंग्रेजी पाठशाला में पढ़ने लगा। पर जब हाई स्कूल में पढ़ रहे थे तभी उन्होंने स्कूल जाना छोड़ दिया। जब पिता ने डाँटा तो बालक ने उत्तर दिया कि "मैं ने सिर्फ विद्यालय ही छोड़ा है, विद्याभ्यास नहीं छोड़ा है।" उसके इस उत्तर से पुत्र के विषय में बिना नींव का बनाया गया पिता का आशा-महल ढह कर चूर चूर हो गया। उन्हीं दिनों वे पितृघर में रहते हुए अंग्रेजी और मलयालम में धार्मिक एवं आध्यात्मिक पुस्तकें, जितनी मिल सकती थीं, सब का श्रमपूर्वक अध्ययन करते रहे।

आध्यात्मिक विषयों में अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तभी इन्हें संस्कृत पढ़ने की इच्छा हुई। परिणाम-स्वरूप कोडुङल्लूर हाई स्कूल के अध्यापक श्रीशंकरन नायर से काव्य, श्री कृष्ण शास्त्री से नाटक, अलंकार आदि तथा श्री वेंकिटाचल शास्त्री से व्याकरण, न्याय आदि का इन्होंने अध्ययन किया। इस प्रकार संस्कृत भाषा का ज्ञान पाकर वे कई वेदांत-ग्रंथ स्वयं और पंडितों की सहायता से पढ़ते रहे। इस तरह बचपन ही से मलयालम, तमिल, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के धार्मिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथों का वे ज्ञान प्राप्त करते रहे। स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि अर्वाचीन महात्माओं और शंकर, रामानुज आदि प्राचीन महात्माओं की जीवनी का भी उन्होंने उत्सुकता के साथ अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त वे ईश्वर के पूजापाठ में भी संलग्न रहे।

•

वे जब सत्रह-अठारह बरस के थे, तभी उन्होंने 'विभाकरन' नामक एक खंड-काव्य लिख कर प्रकाशित कराया। बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में उनके पिता का देहांत हो गया। पिता की मृत्यु के बाद उनकी यादगार में 'विष्णु यमक' नामक एक स्तोत्र-ग्रंथ इन्होंने लिखा और प्रकाशित कराया। इस प्रकार इन्होंने साहित्य-रचना छोटी आयु से ही प्रारम्भ कर दी थी। महात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धा और आदर बचपन से ही उनके मन में था। केरल कालिदास कहलानेवाले श्री केरलवर्मा वलिय कोइत्तंपुरान आदि के

नाम पर इन्होने कई वर्द्धापन-श्लोक लिख भेजे थे और उनसे आशीर्वाद के पत्र पाकर चरितार्थ एवं कृतार्थ हुए थे। एक बार इन्होने 'आपबाचेरी तंप्रांकल' के दर्शन किये थे और अभिनदन के पद्य सुनाकर उन का आशीर्वाद प्राप्त किया था।

● **सन्यास-ग्रहणेच्छा**—उस समय स्वामी जी का शुभ नाम पी० चिण्णु कुट्टी नायर था। बधु, मित्र और आसपास के लोग उन्हे 'सन्यासी' ही पुकारा करते थे। सुबह का स्नान, भस्म-लेपन, बिना कुछ खाये पिये दस-ग्यारह बजे तक पूजा-पाठ आदि करना, लौकिक विषयो से विरक्ति, एकांत मे अकेले बैठ-कर चिंतन करना, आदि देखकर समार ने उन्हे यदि विलक्षण व्यक्ति समझा था तो इस में आश्चर्य की कोई बात नही। यद्यपि पिता की मृत्यु के बाद वे स्वतत्र हो गये थे, तथापि वे धार्मिक, ईश्वरीय एव प्रशात जीवन बिताते रहे। बधु-जनो ने विवाह करने पर विवश किया, पर वे उस से निवृत्त ही रहे। धन कमाने और कमाये हुए धन को बढाने का जो परामर्श उन्हें समय-समय अपने बन्धु से मिलता था, उस की भी उन्होने सदा अवहेलना ही की।

वे कभी कभी अपने मित्रो से कहा करते थे कि मैं परिव्राजक बन कर हिमालय-प्रदेशो मे घूमना चाहता हू तथा शास्त्र-चिंतन और ईश्वर-चिंतन मे जीवन बिताने की मेरी इच्छा है, परन्तु अब स्वदेश छोडकर जाना उचित नही लगता। इनका माता का उस समय उन्ही दिनो उनका इकलौता भाई विद्या-भ्यास मे सलग्न था और उसकी देख-रेख करने का उत्तरदायित्व उन्ही पर था। अत उन्होने उस समय देश छोडना उचित नही समझा। सर्वस्व त्यागकर सन्यासी-जीवन बिताने की इच्छा का वे दमन करते रहे।

धीरे धीरे वेदांत-शास्त्र के श्रेष्ठ ग्रथो के अध्ययन की इच्छा तीव्र होती गयी। किन्तु इसे पूर्ण करने का उस समय उनके पास कोई उपाय नही था। आखिर उन्होने भाव नगर (काठियावाड) की यात्रा की। वहाँ के रहने वाले श्री स्वामी शात्यानद सरस्वती के साथ रह कर इन्होंने कई महान ग्रथो का अध्ययन किया। लेकिन वे अधिक समय तक वहाँ न रह सके। उन्हें घर लौटना पडा। फिर भी कई महात्माओ और विद्वानो के दर्शन एव सत्सगति उन्हे प्राप्त हुई थी।

● **लोक-सम्पर्क**—सन् १६१२ के बाद के पालघाट नगर में वे अधिक समय रहे और वहाँ के कुछ मित्रो की प्रेरणा से श्री गोपालकृष्ण गोखले की यादगार मे "गोपालकृष्ण" नामक एक मासिक पत्र का संपादन करने लगे। पर

दो ही सालों मे यह उत्साह कम हो गया और उसका प्रकाशन समाप्त कर दिया।

उन दिनो वे श्री रामुण्णि मेनोन (जो बाद में 'मातृभूमि' के संपादक बने) आदि मित्रो की प्रेरणा से राजनैतिक सभाओ में राजनीति पर भाषण भी दिया करते थे। राजनीति पर ही नही, धर्म, साहित्य, वेदांत आदि विषयों पर भी जहाँ-तहाँ व्याख्यान दिया करते थे। उनके व्याख्यान मुमधुर, गम्भीर एव आवर्षक होते थे। इन्ही भाषणो से वे युवक लोगों के आदर का पात्र बन गये थे। एक बार उनके भाषणों की प्रशंसा करते हुए एक मशहूर व्याख्यानदाता ने उन्हे लिखा था कि 'भाषण-कला में मुझे एक विनीत शिष्य बना लेने की कृपा करें।" एक कोषिक्कोट, (कालीकट) तलश्शेरी आदि नगरों की राजनैतिक महासभाओ में भी उन्होने भाषण दिये थे।

इसके अतिरिक्त वे विविध विषयों पर अखबारों मे लेख भी लिखा करते थे। अधिकतर कोषिक्कोट मे निकलनेवाली 'मनोरमा' मे ही लिखा करते थे। श्री के० एम० पणिक्कर की अध्यक्षता मे ओलवक्कोट्ट के अखिल केरलीय साहित्य-समाज के सम्मेलन में उन्होंने 'साहित्य का प्रमुख लक्ष्य' पर जो भाषण दिया, वही केरल-भाषा मे उनका आखिरी भाषण है।

● सत्संग—सत्ताईस-अठाईस वर्ष की आयु मे आकर उन्होंने ईश्वर की प्रेरणा से लेखन और भाषण कार्य छोड दिये। मन में एक प्रकार की विरक्ति आ गयी। किन्तु अध्यात्म-ग्रन्थो का अध्ययन, ध्यान-भजन आदि वे नियम-पूर्वक करते रहे। पंडितों और महात्माओ के दर्शन के लिए वे कभी-कभी मद्रास शहर मे जाकर रहा करते थे। वहाँ कई पंडितो के साथ सत्सग होता था। श्रीरामकृष्ण मठ के तत्कालीन अधिपति स्वामी सर्वानंद जी से भी उन्होने बातचीत की थी। मद्रास मे 'अडयार' उनके लिए प्यारा स्थान था।

इस काल मे दक्षिण भारत के कई पुण्य क्षेत्रो के उन्होंने दर्शन किये थे और जहाँ-तहाँ कुछ दिनो तक रहकर पंडितो एवं-महात्माओ का सत्सग किया था। चिदवर मे महामहोपाध्याय दंडपाणि दीक्षित तथा अवधूत चट्टंपि स्वामी जी के और अरुणाचल मे श्री रमण महर्षि के इन्होने दर्शन किये थे। इस प्रकार कई महात्माओ से मिलकर और ज्ञान की बातें करके वे अपनी ज्ञान-संपत्ति बढ़ाते रहे। पालक्काट्ट (पालघाट) के पास आलत्तूर मे रहते समय ब्रह्मानंद स्वामी तथा शंकर स्वामी से वे पहले ही मिल चुके थे।

सन् १९२० में उन्हें कलकत्ता से श्री स्वामी शान्त्यानंद सरस्वती का एक पत्र मिला। वह पत्र शास्त्र-चिंतन एवं सत्संगति में कुछ दिन बिताने का निमन्त्रण था। उसके पाते ही सत्संगति में उत्सुक स्वामी जी कलकत्ता रवाना हुए। कलकत्ता जाकर वहाँ शहर के बाहर एक बाग में वे स्वामी जी के साथ रहने लगे। स्वामी जी उन दिनों द्वारका के शारदा मठ के शंकराचार्य के पद पर विराजमान थे। वहाँ के निवास-काल में कई पंडितों तथा साधु-संतों के दर्शन तथा उनकी सत्संगति उन्हें नित्य प्राप्त होती थी। मनन-चिंतन भी नियमपूर्वक चलता था। यह जान कर कि वे अविलंब सन्यासी होने वाले हैं, शंकराचार्य जी उन्हें 'चिद्विलास' के नाम से पुकारने लगे। वहाँ रहते हुए उन्हें बेलूर मठ में जाकर स्वामी शिवानंद जी, स्वामी ब्रह्मानंद जी आदि श्री रामकृष्ण मिशन के कई महात्माओं से मिलने का सौभाग्य मिला।

वहाँ से श्री काशी के रास्ते हरिद्वार में जाकर रहने लगे। वहाँ भी आर्यसमाज के नेता स्वामी श्रद्धानंद जी आदि कई महात्माओं के दर्शन किये। फिर वे कुछ दिन हृषीकेश में जाकर रहे। वहाँ स्वामी मंगलनाथ जी, स्वामी मूलुस्वामि जी, स्वामी प्रकाशानंद जी आदि विद्वान महात्माओं के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कुछ दिनों के बाद वहाँ यात्रा कर दिल्ली के रास्ते मथुरा, वृन्दावन, पुष्कर, द्वारका आदि पुण्य-क्षेत्रों के दर्शन करते हुए द्वारका से जहाज़ के द्वारा बंबई और फिर वहाँ से रेल के द्वारा अपने देश में सकुशल आ पहुँचे।

● महानिष्क्रमण—उस यात्रा के बाद स्वामी जी का रहन सहन बिलकुल बदल गया। केवल ध्यान भजन और शास्त्र-चिंतन के अतिरिक्त और किसी काम में उनकी रुचि नहीं थी। एकांत, सुन्दर वनों तथा पर्वतों को वे अधिक प्यार करने लगे। भोजन केवल एक ही बार करते थे। अनेक व्रत और लम्बे उपवास करने लगे। इस कारण उनका शरीर दुबला हो गया था। फिर भी आध्यात्मिक चिंतन और चर्चा में अपना सारा समय बिताते थे। पालघाट नगर में रहनेवाले विक्टोरिया कॉलिज के संस्कृत अध्यापक श्री रंग नायर, वकील श्री कुंजुराम पतियार, वटवन्नूर श्री नारायण मेनोन, वैद्य श्री नारायणन नायर आदि कुछ शिक्षित एवं ईश्वरीय चर्चा में रसिक लोगों के सिवा और सब मित्रों से उन्होंने अपने सम्बन्ध और व्यवहार कम कर लिये थे। इस प्रकार दो-तीन वर्ष बीत गये।

इसी बीच छोटे भाई ने बी. एल. परीक्षा पास करके पालघाट में वकालत शुरु कर दी थी। स्वामी जी को ऐसा लगा कि अपने जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने, अर्थात् अपनी चिन्तन इच्छा पूरी करने का समय आ गया है। प्रज्वलित वैराग्य की आग को वे अब ढके रखने मे असमर्थ हो गये। सन् १९२३ के भाद्रपद महीने की जन्माष्टमी के दिन उन्होंने अपनी सांसारिक सपत्तियों को ठुकरा कर महानिष्क्रमण किया। अपने भाई से केवल इतना ही कहा था कि "मैं कुछ तीर्थों मे घूमना चाहता हूँ।"

ओलवक्कोट रेलवे-स्टेशन पर जब गाड़ी चलने लगी तो उनके मनोभावों को बहुत कुछ जानने वाले उनके भाई ने गद्गद् कठ से प्रार्थना की थी कि "जल्दी ही लौट आएँ", पर उन्होंने कोई उत्तर न दिया।

● सन्यास—स्वामीजी नासिक के पास पचवटी मे पहुँचे और स्वामी हृदयानन्द नामक एक महात्मा के पास रहते हुए योग-दर्शन आदि ग्रथो का अध्ययन करते रहे। इसके बाद जबलपुर के पास नर्मदा नदी के तट पर उन्होंने सन्यास-ग्रहण किया, अर्थात् गेरुआ कपड़ा पहनकर साधु और भिक्षु बन गये।

वहाँ से प्रयाग और अयोध्या मे महात्माओ के बीच कुछ दिन रहने के बाद हृषीकेश मे जाकर रहने लगे। अद्वितीय ब्रह्म मे चित्त-समाधि का अभ्यास करने लगे। भिक्षा के अन्न से शरीर का पालन करते रहे। इसके बाद उन्होंने वहाँ कैलास आश्रम के अध्यक्ष एव ब्रह्मनिष्ठ परम पूज्य जनार्दन गिरि स्वामी जी से शास्त्र-विधि के अनुसार सन्यास की दीक्षा ली। इस प्रकार वे शकर-सप्रदाय के परमहस साधु बन गये।

● तपस्या—और हिमगिरि-विहार हृषीकेश के एक तृण-कुटीर मे स्वामी जी कुछ दिन रहे। शीतकाल में वे हृषीकेश मे निवास करते थे और गरमी के दिनों में उत्तर काशी आदि हिमालय के ऊँचे प्रदेशों में विहार किया करते थे। वहाँ के विहार का पर्याप्त वर्णन इस ग्रथ मे किया गया है। सन् १९२५ और १९३० मे तिब्बत की यात्रा की और वहाँ के सन्यासी-मठों मे निवास करते लामाओं के दर्शन किये। 'कैलास-यात्रा' नामक ग्रथ मे उसका पूरा विवरण है।

हृषीकेश मे ध्यान-भजन के साथ साथ वे शास्त्र-चिन्तन में भी अपना समय बिताते थे। स्वयं कई ग्रथों को पढते रहने के साथ-साथ प्रसिद्ध विद्वान श्री गोविन्दानन्द स्वामी जी से बृहदारण्यक भाष्य के वार्तिक भी सुनते रहे।

तदुपरान्त अपने एक मित्र विद्यालंकार उपाधिधारी ब्राह्मण के साथ खंडन-ग्रंथ का भी अध्ययन किया।

इस प्रकार चार-पाँच वर्ष के बाद स्वामी जी हृषीकेश मे ही नही आसपास के सब प्रदेशों मे विख्यात हो गये। स्वामी जी के वैराग्य, त्याग, ज्ञान-निष्ठा आदि की सर्वत्र सराहना होने लगी। लोग उनकी कई तरह की सेवा करने के लिए तैयार हो गये। फिर भी त्याग-वृत्ति मे, परम निष्ठा मे, लगे स्वामी जी उन की सेवा को ग्रहण नहीं करते थे। वेदांत-श्रवण के इच्छुक साधु-संत एवं सत्संग के अभिलाषी दूसरे भक्तों से वे सदा घिरे रहते थे। सवेरे दो-एक घंटे साधु-संतो के लिए प्रस्थानत्रय-भाष्य का पाठ होता था। पाठ का श्रवण करने, सत्संग करने अथवा केवल दर्शन करने आदि के अभिलाषी लोगों की अधिकता के कारण स्वामी जी सर्दी के कम होते ही हृषीकेश छोड़कर हिमगिरि पर सौ मील ऊपर उत्तरकाशी के लिए प्रस्थान किया करते थे।

स्वामी जी सहज ही एकांत-प्रिय थे। हम जितना ही हिमालय के ऊपर चढ़ते जाते हैं, उतना ही अधिकाधिक एकांत और शांति मिलती जाती है। जब से स्वामी जी सांसारिक संबंधों का परित्याग कर हिमालय में तपस्या-वृत्ति में रहने लगे, तब से वे हृषीकेश से निम्न, प्रदेशों में जाकर कहीं नही रहे। कई राजाओं और धनियों ने प्रार्थना की, फिर भी हिमालय को छोड़ निम्न प्रदेशो मे जाकर रहने में वे कभी राजी न हुए। यहाँ तक कि इस बात के लिए हृषीकेश में आयी हुई एक रियासत की महारानी द्वारा कई बार की हुई प्रार्थना को भी उन्होंने ठुकरा दिया।

स्वामी जी के ऐसे त्याग, उपराम स्वभाव तथा प्रसन्न, प्रेममय एवं स्वच्छन्द जीवन के कारण लोग उनसे बड़ा प्रेम और आदर करते थे। उत्तर काशी, गंगोत्री, बदरीनाथ आदि हिमगिरि के उन्नत एवं एकान्त-सुन्दर तीर्थ ही उनके प्रिय निवास-स्थान थे। उत्तरकाशी, गंगोत्री और बदरीनाथ के पहाड़ी लोग स्वामी जी को देवता के समान मानते थे। वेदांत-श्रवण के इच्छुक सन्यासी-साधक लोग इन स्थानों पर स्वामी जी के साथ रहा करते थे। यद्यपि उनसे वेदांत-विद्या का अध्ययन करने के इच्छुक उन के कई शिष्य थे, तथापि वे किसी को गेरुआ कपड़ा देकर यति-धर्म मे शामिल नहीं करते थे।

इस प्रकार स्वामी जी के अलौकिक जीवन से प्रभावित होकर राजा लोग, रानियाँ, अमीर, गरीब, शिक्षित, अशिक्षित सब तरह के लोग हृषीकेश आदि स्थानों पर उन के दर्शन कर चरितार्थ हो जाते थे। जब एक बार पंडित

मदनमोहन मालवीय जी हृषीकेश गये तो उन्होंने स्वामी जी की कुटी में जाकर उनके दर्शन किये थे और बड़ी देर तक बातें की थी ।

कुछ भक्तों ने स्वामी जी से निवेदन किया था कि यदि वे हृषीकेश में स्थिर रूप से रहना चाहते हों तो हम उनके लिए निवास बनाने को प्रस्तुत हैं। पर स्वामी ने यह बात स्वीकार नहीं की। स्वामी जी नहीं चाहते थे कि हृषीकेश में, जहाँ लोगों की संख्या एवं व्यवहार बढ़ते जा रहे हैं, स्थिर रूप से रहें। स्वामी जी का अभिप्राय जानकर उनके भक्तों में से एक ने, जो लखनऊ की छोटी अदालत के जज थे, उत्तरकाशी में स्वामी जी के रहने के लिए एक कुटी बना दी। स्वामी जी ज्यादातर वहीं रहा करते थे। वहाँ से छप्पन मील ऊपर के गंगोत्री धाम में भी स्वामी के लिए एक कुटी बनायी गयी थी। वहाँ जाकर भी स्वामी जी कुछ महीनों तक रहा करते थे। यों ब्रह्मवस्तु में ही चित्त को समाधि लगाते तथा ब्रह्म-विद्या का प्रचार करते ऋषि-पुंगवों से संकुल हिमगिरि के प्रदेशों ही समाधि-पर्यन्त वे विराजमान रहे।

● ग्रन्थ-रचना—ऋषीकेश में रहते हुए उन्होंने चार पाँच महीनों में ही मलयालम भाषा के प्रेम एवं इसकी प्रकृति और संस्कृति के कारण इसमें कुछ ग्रंथों की रचना की थी। वे ग्रंथ ईश, केन और कठ उपनिषदों के शंकर-भाष्य के अनुवाद थे। शाण्डिल्य सूत्र की एक विस्तृत व्याख्या भी उन्होंने लिखी है, किंतु उसका प्रकाशन नहीं हुआ है। 'कैलाश-यात्रा' और 'हिमगिरि-विहार' नामक दो ग्रंथों का प्रकाशन मलयालम में हो चुका है। 'हिमगिरि-विहार' का श्री टी. एन. केशवपिल्ला एम. ए. एल. टी. ने अँग्रेजी में अनुवाद किया है। स्वामी जी ने सन् १९२९ में उत्तरकाशी में रहते हुए 'श्री सौम्य-काशीश'—उत्तरकाशी-विश्वनाथ—स्तोत्र के नाम पर वेदांत-संबंधी एक संस्कृत-ग्रंथ की रचना की। विश्वनाथ के मंदिर में विश्वनाथ के ही सामने प्रतिदिन रचे हुए पद्य वे सुनाते रहे। सन् १९३१ में बदरीनाथ में श्रीबदरीश-स्तोत्र' नामक ग्रंथ की रचना की। सन् १९३२ के बाद प्रतिवर्ष गंगोत्री में जाकर रहा करते थे। उन दिनों वहाँ के लोगों की प्रार्थना मानकर उन्होंने 'श्री गंगोत्री क्षेत्र-महिमा', 'श्री गोमुखी-यात्रा' और 'श्री गंगा-स्तोत्र' नामक ग्रंथों की रचना भी संस्कृत में की थी। ये सब ग्रंथ उत्तरप्रदेश में प्रकाशित हुए हैं। श्री बदरीश-स्तोत्र का प्रकाशन बदरीनाथ के मुख्य पुजारी 'रावल जी' श्री वासुदेवन नंपूतिरी ने पहले किया था। दूसरे सब ग्रंथों का

प्रकाशन गुजरात के श्री वल्लभराम शर्मा नामक विद्वान ने, जो स्वामी जी के एक प्रमुख गृहस्थ शिष्य है, किया है। 'श्री बदरीश स्तोत्र' कोल्लकोट श्री पी. गोपालन नायर की मलयालम व्याख्या के साथ तथा 'श्री सौम्य काशीश स्तोत्र' स्वामी श्री परमानंद तीर्थपाद की मलयालम व्याख्या के साथ प्रकाशित हुए है।

उत्तर भारत के कई मित्रो, भक्तों तथा शिष्यो की इच्छा को पूर्ण करने के लिए स्वामी जी ने खुद अपनी जीवनी 'ईश्वर-दर्शन' के नाम से लिखी है। इस ग्रंथ को श्री वल्लभराम शर्मा ने देवनागरी लिपि में तथा श्री पी. कृष्ण पिल्ला ने मलयालम लिपि में प्रकाशित किया है।

● विदेह-मुक्ति—इस प्रकार ग्रंथ-रचना और धर्मोपदेशो से ससार का अनुग्रह करते हुए जीवनमुक्त होकर विराजमान स्वामी जी का स्वास्थ्य सन् १९५६ मे खराब हो गया। अजीर्ण ही उन्हे मुख्य रोग था। किंतु उन्होने यह बात किसी को नही बतायी थी। जब शरीर दुर्बल होने लगा तभी शिष्य लोग भी रोग को बात समझ गये। यद्यपि शरीर दुर्बल हो गया था, तथापि उन्होंने शरीर के अचल होने तक अपने नियमो एवं दैनिक चर्याओं को नही छोडा था। चिकित्सा द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाये रखने की इच्छा रखनेवाले शिष्यो से स्वामी जी सदा यही कहते रहे कि शरीर का धर्म नियम से चलता रहेगा, ज्ञानी को भी कुछ न कुछ शारीरिक प्रारब्ध भोगना पडेगा, पर उस प्रारब्ध मे भी उसे जगत के मिथ्या होने की बुद्धि तथा आत्मानुभूति आश्वासन देती रहेगी।

स्वामी जी की बीमारी की बात जानकर अनेक महात्मा लोग और साधारण लोग उत्तरकाशी के श्री तपोवन-कुटीर मे आते रहे। उन सब को वे पहले के समान उपदेश देकर आशीर्वाद देते रहे। परन्तु १६ जनवरी सन् १९५७ के ब्रह्म-मुहूर्त में स्वामी जी अपना प्रारब्ध शरीर छोड़कर विदेह-मुक्त हो गये। माघ महीने की पूर्णमासी का दिन सारे भारत के हिन्दुओं के लिए एक पुण्य-तिथि है। उत्तरकाशी के विश्वनाथ मदिर मे उसी दिन महोत्सव मनाया जाता है। उत्तर प्रदेश के कई स्थानो से उस उत्सव में भाग लेने के लिए अनेक भक्त लोग आया करते हैं। इस प्रकार १६ जनवरी १९५७ में वहाँ आये हुए भक्त लोगों, अनगिनत साधु-सतो तथा ब्रह्मचारियो के साथ श्री तपोवन स्वामी जी के भौतिक पिंड को उन के शिष्यों ने गगा-जल में नहलाया, चदन व भस्म लगाया और विधिपूर्वक एक मंच में बिठाया।

फिर सौम्यकाशीश मंदिर के पास के भरद्वाज कुंड में ले जाकर उत्तर भारत की विधि के अनुसार उस भौतिक पिंड को गंगाजी को भेंट कर भक्तिपूर्वक गंगा में गोता लगाया और फिर सब इधर-उधर चले गये।

किसी भी ज्ञानी को कहीं न कहीं अपना भौतिक पिंड छोड़ देना पड़ता है। उस से उनकी ज्ञाननिष्ठा या मुक्ति का कोई उत्कर्ष अथवा अपकर्ष नहीं होता। जीवन्मुक्त स्वामी जी महातपस्वी भी थे, शायद इसीलिए उत्तरायन काल की माघ-पूर्णिमा के दिन ब्रह्म-मुहूर्त में ही वे ब्रह्म में विलीन हो गये—

> श्यामोऽधवा त्रियदुपेनशरच्छशाङ्कः
> किं वा दशावतरणेऽन्यतमो महर्षिः।
> आहोस्वशङ्करयतिर्भगवान् त्रिभेदः
> धीमानयं विजयतेऽत्र तपोवनं सः।

इस प्रकार स्वामी तपोवनम जी का परम पवित्र जीवन एवं उनके उपदेश सदैव मानव-वर्ग को परमानंद-प्राप्ति की प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ सिद्ध हो।

—सुधांशु चतुर्वेदी

अवतारिका

भारत की वर्तमान स्थिति अध्यात्मिक कारुणिक है। वर्तमान पीढ़ी के हम लोग जो दरिद्र, अशिक्षित, आलसी, गुलाम, अल्पजीवी और चुँधले हैं, उस अलौकिक जननी की सन्तान होने का दावा कठिनाई से ही कर सकते हैं। परन्तु सौभाग्यवश, इन दुर्भाग्यपूर्ण दिनो मे भी कुछ अमूल्य निधियाँ जिन्होंने हमारा परित्याग नही किया है—हमारा हिमालय, हमारी गंगा, हमारे मन्दिर, हमारे देवालय और तीर्थ और ऋषियो की पुरातन संस्कृति—इनका पुन.स्मरण हमे युगान्त-निद्रा से जाग्रत करने के लिए पर्याप्त है। एक ऐसे विश्व को जो आन्तरिक संघर्ष से विच्छिन्न है, शान्ति और सद्भाव का सन्देश प्रदान करने और अत्यधिक पाषाण-हृदय भी विश्व-बन्धुत्व की भावना भरने में समर्थ है। आज जो धुआँ हमें आच्छादित किये हुए है, जब तिरोभूत हो जाएगा, तो प्रकाश हमारा आलिंगन कर सकेगा। जब हमें अपवित्र करने वाले धुँधले बादल तिरोहित हो जाएंगे तब पूर्णचन्द्र अलौकिक आभा के साथ जगमगाने लगेगा। कुछ विद्याभिमानी लोगो ने अपनी मूर्खतापूर्ण बक-झक में कहा है कि भारतीयो में राष्ट्रीय उद्‌गारों का अभाव रहा है। ओह ! वे जानते ही क्या हैं—

> अपि मानुष्यमापस्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ ?
> मनुष्याः कुर्वते तत्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः।
> अत्र जन्म-सहस्राणां सहस्रैरपि भारते
> कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्य-सञ्चयात्॥

पुराणों का भी यही अभिमत है। जब स्वर्गवासी आत्माएँ अपने सत्कर्मों के प्रभाव को अलौकिक आनन्दानुभूति मे खोने लगती हैं, तब वे पृथ्वी पर पुनर्जन्म लेने के लिए प्रार्थना करती है, जिससे कि वे कार्य, जो देवताओं और असुरों के लिए भी असम्भव हैं, सम्पन्न करने में समर्थ हो सकें और ऋषियो का कथन है कि लाखों योनियों में भटकने के पश्चात् भारतभूमि में एक बार जन्मलाभ हो जाता है, क्योंकि जिन्हें स्वर्ग अथवा मोक्ष की लालसा है, उनके लिए भारत एकमात्र कर्मभूमि है। ऋषियों ने हमारे पर्वतों का गुणगान इस प्रकार किया है—

> विस्तारोच्छ्रयिणो रम्या विपुलश्चित्रसानवः।

और हमारी नदियों का—

विश्वस्य मातर. सर्वाः पापहराः स्मृताः ।

ऐसे भारतीय के लिए जो अपने पूर्वकाल को नही भूला है, चाहे वह गांधार से *कामरूप तक या काश्मीर से कन्याकुमारी* तक कहीं भी भ्रमण करे, अपने इतिहास की वीरगाथाओं के अतिरिक्त और कुछ सुनने, प्रेरणायुक्त कलाकृतियों को देखने, शक्तिवर्धक और जागृत कर देने वाली परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित करने के अतिरिक्त और कुछ नही रह जाता।

किन्तु भारत को आश्चर्यजनक स्थान प्रदान करने वाली सब वस्तुओं में अग्रणी वास्तव मे हिमालय पर्वत है जो कि उसके मस्तक पर हीरक-जटित मुकुट के समान चमचमाता है। कवि-कल्पना के अनुसार पृथ्वी के मानदण्ड के रूप में अथवा गगन को अवलम्ब देने वाले सुदृढ़ स्तम्भ के समान रूप और आकृति की ऐसी उत्कृष्टता से सम्पन्न है जो पर्वत-मालाओं पर उसकी प्रभुता को घोषित करता है। केवल दर्शकों को ही नहीं बल्कि स्मरण करने वालों को भी आश्चर्य और प्रशंसा से प्रेरित करता है और आनन्दोन्मत्त कर देता है। वहाँ देवाधिदेव के श्वसुर, निष्कलंक, अजेय, सुषमा-निधान गौरी के पिता विराजमान हैं। कौन उनका सम्मान नहीं करता ? कालिदास आदि कवियों के द्वारा इस दैवी पर्वत के वर्णन को सुनकर कौन व्यक्ति स्वयं गौरवान्वित नही होता—

यज्ञांगयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्री धरणक्षमं च।
प्रजापति. कल्पितयज्ञभागः शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥

कुमारसम्भव से उद्धृत यह श्लोक श्रुतियों के इस कथन की ओर इंगित करता है।

हिमवतो हस्ती यज्ञभागः।

अर्थात् ब्रह्मा ने हिमवान को अपना सोम के समान यज्ञ के कुछ अपरिहार्य अंगों के स्रोत होने की मान्यता देने के लिए हाथी के रूप में प्रदान किया। नीलकंठ दीक्षित अपनी कविता 'गंगावतार' में कहते हैं—

यदीयनीहारकणा नितरन्त किरन् मृगाङ्कः प्रथते सुधाकरः।
यदीयगण्डोमल एव कश्चन प्रयाति कैलाम इति स्थिरं यशः॥

अर्थात चन्द्र को अपनी उपाधि 'सुधाकर' (अलौकिक अमृत का उत्पादक) इन पर्वतों के हिमकणों को यत्र-तत्र विकीर्ण करके प्राप्त होती है और

जिसका हम कैलास के रूप में स्तवन करते हैं, वह इस पर्वत की एक शिला ही है। जब हिमालय को 'देवतात्मा' अथवा 'यज्ञभुक्' के रूप में वर्णित किया जाता है तब वे व्यक्ति जो इस वर्णन को रूपकात्मक दृष्टान्त या अतिशयोक्ति समझते हैं, समझा करें। फिर भी एक बात निश्चित है—जब भारत की उत्तरोत्तर सीमा को स्रष्टा के शिल्प-कौशल की पराकाष्ठा समझा जाता है उसमें दो मत नहीं हो सकते। किन्तु क्या केरलवासी इस गौरव-किरीट के सम्बन्ध में, जो भारत को सुशोभित करता है, कुछ भी जानते हैं ? हम अपनी सन्तान का लालन-पालन उन्हें कुछ अपभ्रष्ट शब्दों—जैसे एवरेस्ट, किंचिनचंगा की पुनरावृत्ति करके करते हैं। मुझे ऐसा स्मरण होता है कि कहीं पढ़ा था कि इंगलैंड में भी ऐसे अज्ञानी हैं जो तावीज़ (Talisman) को कवि और एच. जी. वैल्स (H. G. Wells) को किसी स्थान का नाम समझते हैं। यदि इंगलैंड के समान भौतिक विकास से सम्पन्न देशों में ऐसा है तो हम अपने देश में क्या आशा कर सकते हैं। भारत के कितने राजाओं ने हिमालय तक की यात्रा की है। केवल जनक के समान मैसूर-नरेश श्री कृष्णराज वडेयार को कैलास और मानसरोवर के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यदि केरल भारत के दक्षिण सिरे पर समुद्र और पर्वतों से घिरा हुआ एक छोटा सा प्रदेश है तो उस से क्या ? एक हजार वर्ष पूर्व से भी अधिक एक अनाथ नम्पूतिरि बालक ने केवल अपनी तीव्र प्रज्ञा के आधार पर सम्पूर्ण ज्ञान पर अधिकार किया, अपने समस्त प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और ब्रह्मसूत्र इत्यादि पर विस्तृत भाष्य लिखे। वेदान्त को पुनर्जीवित किया और अजेय शक्ति और दिग्दिगन्त तक फैली हुई ख्याति के साथ स्वयं को काश्मीर के शारदा-मन्दिर के सर्वव्यापी सिंहासन पर आरूढ किया। श्री नारायण ने अपने को बदरी में एक नम्पूतिरि ब्राह्मण के रूप में वहाँ उच्च पुरोहित नियुक्त किया। समय समय पर अति मानवीय शक्तियों का प्रदर्शन किया और अपने ३२ वें वर्ष में ब्रह्म में विलीन हो गये। क्या यह सचमुच आश्चर्यजनक जीवन-घटना नहीं है जो कि किसी भी व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट कर सके ? क्या केरल के बच्चों में एक भी ऐसा होगा जो, कि बदरी के मन्दिर और ज्योतिर्मठ, जिसकी स्थापना स्वयं शंकर ने उस स्थान में की है, के दर्शन करने की अभिलाषा नहीं रखता ? किन्तु हम लोगों में कितने ऐसे हैं जो अपनी इच्छा कार्यान्वित कर पाते हैं ? हिमालय तक की यात्रा सचमुच कोई बच्चों का खेल नहीं है। केरल से बहुत कम ही लोग इतनी लम्बी और

कष्टप्रद यात्रा-हेतु अग्रसर होते हैं; और उससे भी कम लोगों को अपनी जन्म-भूमि का स्मरण अपनी घोर यात्रा के समाप्त होने के उपरांत रहता है। यदि कुछ लोगो को स्मरण रहे भी तो ऐसे व्यक्ति—जिनमें अनिवार्य महत्त्वकांक्षा की एकनिष्ठता और साहित्यिक प्रतिभा इतनी है कि इस प्रकार से संचित ज्ञान को अपने कम सौभाग्यशाली भाइयों के हित के लिए लेखबद्ध कर सकें—वास्तव मे इने-गिने होगे। शायद कोई एक हो, अथवा कोई भी न हो। यह सत्य है कि पाश्चात्य लेखको ने हमे अँग्रेजी भाषा मे हिमालय का वर्णन प्रदान किया है, किन्तु सामान्यतः उनके पर्यवेक्षण एवं विचार छिछले हैं और उनके निजी उद्देश्यों तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त उनकी रचना की पहुँच उन सब लोगो तक नही है जो उनकी भाषा से अनभिज्ञ है। सौभाग्यवश इस अनिच्छिन्न वस्तुस्थिति में अभिनन्दननीय परिवर्तन हुआ है।

जिस पुस्तक को आज मै केरलवासियो के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ—वह है 'हिमगिरि-विहार'। इस पुस्तक का प्रथम भाग १९४१ ई० मे प्रकाशित हुआ था। वे महान् सन्यासी जिन्होने यह पुस्तक लिखी है अब विश्व में श्री तपोवनम स्वामी के रूप मे विख्यात है। उनका नाम चिप्पु कुट्टि नायर था। उनका जन्म पालघाट के निकट मुडप्पालर में पुत्तन वीडु नामक एक प्राचीन और सम्भ्रान्त नायर परिवार मे हुआ था। 'हिमगिरि-विहार' के तीनो भागो मे हिमालय के अनेक धर्मधामो एवं तीर्थ-स्थानो का वर्णन किया गया है। बीच बीच मे बहुत से शहरों, गाँवो, मन्दिरो, आश्रमो, नदियों, झीलो, पहाड़ियो, गुफाओ, जगलो आदि का वर्णन है। इनके अतिरिक्त हिमालय के रमणीय मनोमोहक दृश्यो की झलकियाँ उस क्षेत्र की प्राकृतिक सम्पत्ति और सबसे बढ़कर यहाँ के निवासियो, उनकी वेशभूषा, उनकी भाषा, उनका धर्म, उनके रीति-रिवाज उनके तौर-तरीके और उनके दैनिक जीवन की परिचर्या—इन सबका वर्णन सन्तुलित और सही ढग से किया गया है।

'विहारस्तु परिक्रमः' यह अमरसिंह का कथन है। 'विहारो भ्रमणे' मेदिनीकार कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग पुस्तक मे पैदल-यात्रा के लिए विद्वत्तापूर्ण बारीकी के साथ प्रयुक्त किया गया है। 'हिमगिरि-विहार' मे स्वामी जी विश्व के समक्ष हिमालय की पद-यात्रा में अर्जित अगाध ज्ञान-राशि उपस्थित करते हैं। किंतु इसे यात्रा-वर्णन मात्र की संज्ञा देना अनुचित है।

अपने पाठकों को यात्रा-वर्णन के योग्य रोचक तथ्यों को प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य कदाचित् नहीं था। स्पष्टतया उनके कई अन्य उद्देश्य हैं। कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिमालय का प्रत्येक स्थान पवित्र है, अनुपम सौंदर्य का कोष है। पर्वत का कोना-कोना अपना विस्मयकारी इतिहास रखता है। हमारे महर्षियों ने यहीं रहकर असम्प्रज्ञात समाधि में पदार्पण किया, ब्रह्मानुभूति की ओर पूर्णता के उच्चतम शिखर तक उठे। अब हमारे एक महर्षि ने उस पवित्र भूमि का कोना-कोना छान डाला है। इसके अन्तरतम के रहस्यों को समझा है। उनका जो संग्रह, विश्लेषण और अंकन किया है, वह सब हमें इस क्षेत्र के बारे में जानना चाहिए। यह स्वाभाविक ही है कि हमारे हृदयों को जाग्रत आत्माभिमान से प्रकाशित होना चाहिए, हमें आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार से पवित्र हो जाना चाहिए और अन्तिम सत्य पर विचार-विमर्श करने योग्य हो जाना चाहिए। स्वामीजी हमारे मस्तिष्क को प्राकृतिक सौन्दर्य के विवरण द्वारा आकृष्ट करते हैं। वे इसे हिमालय की बर्फ के समान ही पवित्र अंकित करते हैं और हमें अनूठे अध्यात्मिक उपदेश प्रदान करते हैं। उन्हें प्राचीन भारत की रीतियों में सुदृढ़ विश्वास है। साथ ही वे आधुनिक मान्यताओं के बारे में आशंकित नहीं हैं। यदि इन परिस्थितियों में पुराण-पंथी और आधुनिक लोग हिमगिरि-विहार को रोचक पाते हैं तो यह स्वाभाविक ही है।

स्वामी जी यात्रा-वृत्तों के साथ-साथ हमें उपनिषदों, विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों, पुराणों तथा साथ ही साथ क्षेत्रीय परम्पराओं का अगाध ज्ञान इहलोक और परलोक लाभ के लिए प्रदान करते हैं। लेखक का भाषा-नैपुण्य पुस्तक के आकर्षण में चार चाँद लगा देता है। वे जटिल से जटिल विचारों को सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने की सरस, सुबोध और ओजपूर्ण शैली पर अधिकार रखते हैं। प्रत्येक वस्तु जिसे उनकी चमत्कारपूर्ण तूलिका का स्पर्श प्राप्त हुआ है शाश्वत बन गयी है और पाठकों के मस्तिष्क पर अक्षुण्ण छाप छोड़ जाती है। उनकी पुस्तक के प्रत्येक अवतरण में हम इस कथन को सार्थक पाते हैं कि सौन्दर्य सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य है। जब हम पुस्तक का अध्ययन समाप्त करते हैं, मस्तिष्क में केवल तीन बातें बच रहती हैं—एक विषाद, एक सुख और एक प्रार्थना। विषाद यह कि हम परम पावन हिमालय की निकटवर्ती हरी-भरी घास या प्रस्तर-खण्ड के रूप में उत्पन्न नहीं हुए। सुख यह कि किसी दुरूह यात्रा की कठिनाइयों और थकान का अनुभव किये बिना ही तथा बिना एक भी पैसा खर्च किए हम उस सम्पूर्ण क्षेत्र में विचरण

कर सके हैं। प्रार्थना यह कि स्वामी जी का यह ग्रन्थ तथा उनके अन्य ग्रन्थ भी उनके यश की अभिवृद्धि करते रहें। स्वामी जी ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना द्वारा हमें अपार आभार का ऋणी बना दिया है। ऐसी ही पुस्तकें पठनीय होती हैं। वे हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती हैं। वे नास्तिक को आस्तिक, आस्तिक को अन्तर्निरीक्षक और अन्तर्निरीक्षक को मोक्षाभिलाषी बनाती हैं।

उल्लूर

तिरुवनन्तपुरम्

[महाकवि, साहित्यभूषण, राव साहब
उल्लूर एस० परमेश्वर ऐय्यर
एम ए, बी. एल,
एम आर. ए. एस. आदि।]

प्रागनुनय

[हिन्दी-रूपान्तर की ओर से]

पूज्य स्वामी तपोवनम जी के ग्रन्थ 'हिमगिरि-विहार' के हिन्दी-रूपान्तर को हिन्दी-जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं अति हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। मूलतः यह ग्रन्थ मलयाळम भाषा मे लिखा गया था। फिर इसका अंग्रेजी मे रूपान्तर हुआ। आज तक इस रूपान्तर के पाँच सस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह हिन्दी-रूपान्तर मलयाळम भाषा में लिखित मूल ग्रन्थ से ही तैयार किया गया है।

१६ जनवरी १९५७ ई० (बुधवार) को प्रात पाँच बजे अपने शिष्य ब्रह्मचारी सुन्दरानन्द जी के हाथों से गगाजल से निर्मित तीन चम्मच काफी पीकर 'अब मैं आराम करता हूँ' कह कर शरीर छोडनेवाले स्वामी तपोवनम के बारे मे मैंने अपनी बाल्यावस्था मे ही बहुत कुछ सुन रखा था। अत जब मुझे उनके इस ग्रन्थ का रूपान्तर करने का अवसर मिला तो मैं अति उल्लसित हो गया।

भक्ति-भावना से ओत-प्रोत मेरा अन्तस्तल भक्ति एव दर्शन-सम्बन्धी ग्रंथों के रसास्वादन मे अतिशय आनन्द की अनुभूति करता रहा है। 'रामचरितमानस' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' तो मैं बचपन से ही अपने वात्सल्य-मूर्ति पिता प० प्रभुदयाल चतुर्वेदी एव ममता-मूर्ति माता श्रीमती जानकी जी के ललित कंठ से सुनता रहा हूँ। हम पाँचों भाई और दोनो बहिनें जब कभी-कभी एक साथ नहा-धो कर उच्च स्वर मे इन्हे पढने लगते थे, तो कुछ समय के लिए मेरा घर 'आनन्द-संगीतशाला' का रूप धारण कर लेता था। अपने माता-पिता की शीतल छाया से अलग होकर भी मेरी भक्ति-लता ज्यों की त्यों लहलाती रही, क्योंकि मुझे १२ वर्ष की अवस्था में ही 'हनुमान चालीसा', 'शिव चालीसा', सत्पंच चौपाई' तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'रामचरितमानस' के अधिकांश स्थल कंठस्थ हो गये थे, जिन्हें मैं अब भी समयाभाव के कारण रास्ते चलते गुनगुनाता रहता हूँ। यही कारण है कि भक्तिभाव-भरित ऐसे ग्रन्थ का अनुवाद-कार्य मेरी रुचि के सर्वथा अनुकूल ही रहा है।

देववाणी सस्कृत में एम० ए० कर लेने के पश्चात् भी मेरी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हुई। अपने पूज्य चाचा श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी

द्वारा दक्षिण के भक्ति-सम्बन्धी तथा अन्य सुन्दर साहित्यिक अमूल्य ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में करने का निर्देश मिला। इसलिए मैंने अपने एम. ए. (हिन्दी) में दक्षिण की अत्यधिक समृद्ध एवं मनोहारी भाषा मलयाळम को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाया। एम. ए (हिन्दी) पास करने के पश्चात् मुझे स्वामी शंकराचार्य जैसे दिग्विजयी आचार्य की जन्मभूमि कालटी (केरल) जैसे सुरम्य प्रदेश को देखने की लालसा हुई। वहाँ पहुँचने के पश्चात् केरल की इस ललित-कामिनी के रमणीय वक्ष स्थल एवं परम पुनीत गोद में मेरा यह रसिक मन अपने को भूल-सा गया। इसी बीच मलयाळम के कई सुन्दर ग्रंथों का रूपान्तरण भी मैंने किया है, जिन में, 'ओटयिल् निन्नु', 'कन्यका', 'वेलुत्तम्पी दलवा', 'बाल्यकाल सखी', 'सुधा', 'प्रतिध्वनि', 'परीक्षा', भारत-पर्यटनम्', राम मौत से सेना', 'अंधा गायक', ग्राम-बालिका', 'वे फिर मिले', 'सन्ध्या' आदि प्रमुख हैं।

इस अनुवाद-धारा में आनन्दपूर्वक गोता लगाते हुए मुझे 'आनन्द-अनुवाद सिन्धु' की ओर खींच लिया—हमारे अभिन्न हृदय बन्धुवर डॉ० के. भास्कर नायर एवं श्री पी. के केशव नायर ने, जिनके सुनिर्देशन का अनुसरण कर बन्धुवर श्री टी. एन केशव पिल्ला ने एक शुभ प्रभात में अपनी अरुणिम स्मिति के साथ मेरे कालेज के होस्टेल में (जिस का मैं इस समय 'वार्डन' हूँ) दर्शन दिये और तीन घंटे तक मैंने उनसे दर्शन की भाषा में ही बातें कीं, जिसकी उन्हें कभी स्वप्न में भी आशा न थी। अतः उस गम्भीर वार्तालाप का प्रभाव उन पर पड़ा और उन्होंने मुझे यह ग्रंथ अनुवादार्थ दे दिया। इसको मैं पहले भी एक बार पढ़ चुका था।

लगभग दो महीने तक रात-दिन तन-मन से मैं इस ग्रंथ के अनुवाद में लगा रहा और परम पिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्पूर्ण भी हो गया। इसी बीच में मुझे बन्धुवर श्री पिल्ला का पत्र मिला कि स्वामी तपोवनम् जी महाराज के शिष्य-प्रवर स्वामी महादेवनम उत्तरकाशी से पधार रहे हैं, और वे मेरे आश्रम (साधना-कक्ष) में आकर मुझ से कुछ वार्तालाप करना चाहते हैं। (उनके द्वारा पत्र में होस्टल के मेरे कमरे के लिए 'आश्रम' शब्द का प्रयोग किया गया था। कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि उस दिन के वार्तालाप से इस कमरे का मेरे ऊपर आश्रम जैसा प्रभाव पड़ा था।)

अस्तु! एक दिन प्रातःकाल मुझे युगल मूर्ति के दर्शन हुए, जिनमें एक पूर्व-कथित मान्य महोदय थे और दूसरे पूज्य स्वामी महादेवनम जी। उनकी ओजस्वी सरल मूर्ति का प्रभाव मुझ पर पड़ा। बाहर से कुछ खाने-पीने के

आदी न होने पर भी मेरे स्नेह-रस-रूपी चाय का उन्होंने स्वागत किया। फिर हम तीनों रामकृष्णाश्रम गये, वहीं पर स्वामी ईश्वरानन्दजी और स्वामी मृडानन्द जी आदि के अनुरोध से हम लोगों ने भोजन किया। उन्होंने मुझे स्वामी विवेकानन्द-सम्बन्धी सभी ग्रंथ भेंट किये, क्योंकि मैं उस समय स्वामी विवेकानन्द पर एक 'बाल-उपन्यास' तैयार कर रहा था। आश्रम की शीतल छाया में बैठ कर हम लोगों ने इस ग्रंथ की प्रकाशन-सम्बन्धी चर्चा भी की।

× × ×

स्वामी तपोवनम जी अपने 'हिमगिरि-विहार' द्वारा यही सन्देश देते हैं कि हिमालय प्रदेश में ही नहीं, सारे संसार के कण-कण में उसी परम प्रभु की झलक दीख पड़ती है, जिस पर ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति एवं संहार आधृत है। इसीलिए हमारे कवि-पुंगव तुलसीदास जी ने कहा—

सियाराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

मानव भी उस प्रकृति से भिन्न नहीं है, यह भी उसका ही एक अवयव है। इस में भी उसी ब्रह्म का चैतन्य वर्तमान है। तुलसीदास जी के ही शब्दों में—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुख राशी॥

परन्तु जितना ही वह इस संसार के सुख-भोगों में डूबा रहता है और उनके लिए पाशविक वृत्ति को अपनाता जाता है, उतना ही उसका ईश्वरीय चैतन्य कलंकित होता जाता है। इसके विपरीत जितना ही वह क्षणिक भोगों से अलग रहता है और उस ब्रह्म का दिन-रात चिन्तन करता रहता है, उतना ही उनके अन्तर का चैतन्य निखर उठता है और वह ब्रह्म को जानने पर ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्मविद् 'ब्रह्मैव भवति।'

× × ×

प्रस्तुत ग्रंथ श्रद्धेय स्वामी महादेवनम, डॉ० के. भास्कर नायर, श्री पी. के. केशवनायर और श्री टी. एन. केशवपिल्ला की अक्षुण्ण प्रेरणा के फलस्वरूप इस रूप में प्रकाश में आ सका है, अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना, मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। साथ ही मैं

आदरणीय डॉ० सत्यदेव चौधरी का भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इसकी पाण्डुलिपि को अति मनोयोग से पढ़ा है और इसे यथावत् सुधार कर व्यवस्थित रूप दिया है। इनके सक्रिय सहयोग के बिना यह अमूल्य ग्रंथ कदाचित् इस रूप में और इतना शीघ्र सहृदय पाठकों के कर-कमलों में समर्पित कर सकना सम्भव न हो पाता।

हिन्दी विभाग,
श्री केरल वर्मा कालेज
त्रिचूर–४ (केरल)

—सुधांशु चतुर्वेदी

ग्रन्थ-परिचय

हिमालय के प्रांगण में अवस्थित अनेक तीर्थधामों की जो यात्राएँ स्वामी तपोवनमजी महाराज द्वारा आज से लगभग २५-३० वर्ष पूर्व की गयी थी, 'हिमगिरि-विहार' ग्रन्थ में उन्हीं का सांस्कृतिक वृत्त प्रस्तुत किया गया है। यह सन्यासी कितना तपस्वी, वीतराग, कर्मनिष्ठ, निर्भीक, प्रकृति-प्रेमी और कष्ट-सहिष्णु है—यह इन वृत्तों के पढ़ने से ज्ञात होता है। विभिन्न स्थलों एवं प्राकृतिक दृश्यों का जो विवरण उन्होंने दिया है वह इतना सजीव एवं चित्रमय है कि एक क्षण के लिए तो सामान्य पाठक को भी यही प्रेरणा देता-सा प्रतीत होता कि सब कुछ छोड़-छाड़ कर परम पावन हिमगिरि की गोद में जा विश्रान्ति ग्रहण की जाए।

इस ग्रंथ में महामना सन्यासी के उपदेश, वेदान्त एवं उपनिषद्-परक चर्चाएँ तथा अन्य शास्त्रीय सिद्धान्त भी यत्र तत्र अनुस्यूत हैं। एक यात्रा-वृत्त की दृष्टि से ये स्थल पठन-प्रवाह में निःसन्देह बाधा उपस्थित करते हैं, किन्तु लेखक महोदय मूलतः एक तपोनिष्ठ सन्यासी हैं। वस्तुतः हिमालय के धर्मधामों में वे पैदल यात्रा आत्मिक शान्ति की प्राप्ति करने के लिए ही गये थे। अतः आनन्द-तरंग की मौज में आकर यात्रा-संस्मरणों के साथ उनकी लेखनी से उक्त चर्चाओं का भी निःसृत होते रहना नितान्त स्वाभाविक था। एक श्रद्धालु पाठक की दृष्टि में ये स्थल अमूल्य निधि हैं, तथा आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करते हैं। साथ ही, लेखक के गम्भीर अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के परिचायक हैं और उनकी उदार मनस्विता के द्योतक भी।

भौगोलिक दृष्टि से तो यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है ही—'ग्रन्थ' के अन्तर्गत यत्र तत्र जिन स्थानों का नामोल्लेख किया गया है उन सब पर यथावत् प्रकाश डाला गया है—सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं है। इस ग्रन्थ से वहां के निवासियों की रीति-नीति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कश्मीर और तिब्बत के भू-भाग आज अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। इनकी जो स्थिति आज से २५-३० वर्ष पूर्व थी, वह आज राजनीतिक कारणों से बदल

गयी है। अतः मेरा विश्वास है कि एक समय आएगा जब इन भू-भागों का अध्ययन करने वाले इतिहास-लेखकों को यह ग्रन्थ भी एक अमूल्य सन्दर्भ का काम देगा।

मलयाळम भाषा से हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत करके रूपान्तरकार ने श्रद्धेय स्वामी तपोवनम जी महाराज के प्रति अपनी जो श्रद्धा और कृतज्ञता अभिव्यक्त की है उसमें हिन्दी-जनता को एक अमूल्य निधि उपहार-स्वरूप स्वतः मिल गयी है। हिन्दी भाषा में हिन्दीतर भाषाओं से अनुवादित ऐसे ग्रन्थ भारत की भावात्मक एकता में निःसन्देह सहयोग प्रदान करेंगे।

—सत्यदेव चौधरी

एफ ११/१२ माडल टाउन,
दिल्ली-९

हिमगिरि-विहार

विषय-सूची

पहला भाग

१. हृषीकेश ९

२. उत्तरकाशी २१

३. जम्नोत्री और गंगोत्री ४३

४. केदारनाथ ५५

५. बदरीनाथ ६१

६. शारदा-क्षेत्र ८१

दूसरा भाग

७. अमरनाथ १०१

८. ज्वालामुखी ११०

९. रिमाल सरोवर १२९

१०. मणिकर्णिका और वशिष्ठ १२७

११. त्रिलोकीनाथ १३२

१२. पशुपतिनाथ १५१

१३. चन्दननाथ १७१

१४. सोवरनाथ १८३

१५. मानस और कैलाश २००

तीसरा भाग

१६. थोलिंग मठ २१३

१७. मानसरोवर २१२

१८. श्रीगोमुख २५५

१९. उपसंहार ... २८१

पहला भाग

१. हृषीकेश

: १ :

ईश्वर ही सत्य है और सत्य ही ईश्वर। सत्य वस्तु की शरण में सत्य जीवन बितानेवाले कई वर्णों के लोग, कई आश्रमों के लोग, विशेषकर कई सम्प्रदायों के अनगिनत साधु लोग जिस मनोहारी स्थान में, जिस एकान्त-गभीर वनांतर में, जिस पावनतम भागीरथी के किनारे, तपस्या-वृत्ति में निवास करते आ रहे हैं, वही स्थान है हृषीकेश।

सुप्रसिद्ध हरिद्वार से हिमालय के जंगलों से होकर उत्तर की दिशा में १४ मील यात्रा करें तो पुण्यक्षेत्र हृषीकेश पहुँच जाते हैं। चारों ओर हरियाली में फैली हुई विशाल और घनी वनराजि का, खास कर पूरब और उत्तर की दिशा में व्याप्त मणिकूट आदि पहाड़ियों का, तथा गहरी नीलिमा में नितान्त निर्मलता के साथ बहती हुई विशाल पुण्य-सलिला भागीरथी का, अलौकिक सुषमा-पुंज उस वनभूमि को अतीव रमणीय तथा आकर्षक बना देता है। रैम्य नामक महर्षि अपने हृषीकों को, अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत करके यहाँ तपस्या करते थे, अतः यह स्थान हृषीकेश कहलाता है। 'स्थल पुराण' कहता है कि एक बार विष्णु भगवान् ने आम की शाखा पर बैठे हुए रैम्य को दर्शन दिये और भगवान् के भार से आम्र शाखा कुब्जा (कुबड़ी) हो गयी, अर्थात् झुक गयी। तभी से इस जगह का नाम 'कुब्जाम्रक' पड़ गया। अस्तु!

इस सुरम्य, शान्त और सघन वनराशि को देखते ही यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि यह पुण्यक्षेत्र पुरातन काल में महर्षियों का अति प्रिय तप:स्थान रहा होगा। सप्तर्षियों से लेकर कई मुनि-पुंगव तथा श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि अनेक राजाधिराज इन्हीं स्थानों पर तप करते थे। कहा जाता है कि पुरातनकाल के ऋषिगण ही नहीं, मध्यकाल के भगवान् शंकर, पूज्यपाद रामानुज आदि आचार्य भी इस श्रेष्ठ तपोवन में आकर शांति-लाभ करते थे। ऋषियों की वही पुण्यभूमि अब तक विरागी साधु-महात्माओं की विहार-भूमि बनी चली आ रही है।

कुछ वर्ष पहले तक दुर्गमता एवं अन्न-विरलता के कारण फल-मूलों पर जीवन बितानेवाले इने-गिने महान् निःस्पृह महात्मा लोग ही यहाँ स्थिर रूप से निवास कर सकते थे। लेकिन इन्हीं महात्माओं की परिचर्या में लीन श्रद्धालु भक्तजनों की उदारता से धीरे-धीरे ये सब कठिनाइयाँ दूर होने लगीं, और ये स्थान सुगमयात्रा तथा सुखवास के योग्य बनने लगे। इधर अब तो काल-चक्र की तीव्र गति के द्वारा अनेक आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गये हैं। हृषीकेश जो कभी सिंह, व्याघ्र, गज आदि के गर्जन से गूँज उठता था, अब मोटर-गाड़ी आदि वाहनों के शब्द से निरन्तर भरा रहता है। जिस हृषीकेश को तितिक्षु-जन ही बहुत बड़ी कठिनाइयों को झेलकर प्राप्त कर सकते थे, वह आज सब लोगों के लिए सुलभ हो गया है। कभी यह स्थान बिच्छू, साँप आदि के डर से तथा मलेरिया के प्रकोप के कारण वर्ष में चार महीनें जन शून्य हो जाता था, किन्तु आज वर्ष भर समान रूप से जन-निबिड़ रहता है। किन्तु इस सुख-सुविधा का एक अनभीष्ट परिणाम यह भी हुआ है कि एकान्त में भजन की इच्छा रखनेवाले लोगों को बाधा अवश्य पहुँचती है। काल-देवता के प्रताप को रोकने का सामर्थ्य भला किसमें है?

किंतु काल-परिवर्तन के द्वारा कितनी ही काया-पलट क्यों न हो गई हो, हृषीकेश अब भी पहले की तरह एक ऋषि-भूमि के रूप में विराजमान है। यहाँ के अधिकांश निवासी शान्त और सन्तोषी स्वभाव के हैं, और इनमें से अनेक वेदान्त-विद्या में निष्णात भी हैं। ये लोग विचार-सागर, वृत्तिप्रभाकर आदि वेदान्त-विषयक ग्रंथों को पढ़ते रहते हैं। यहाँ की अशिक्षित औरतों में भी ब्रह्म विद्या के प्रमाण, प्रमेय, अविच्छेदक, अविच्छिन्न इत्यादि शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या करने की सामर्थ्य है। यह उनकी सत्संगति, कथा-श्रवण में जागरूकता तथा सुसंस्कृति का प्रमाण है, जिस पर हमें आश्चर्य होता है। किन्तु इसके विपरीत दक्षिण भारत के बड़े-बड़े संस्कृतज्ञ भी "जीवन का लक्षण क्या है? मोक्ष का स्वरूप क्या है?" आदि प्रश्नों के उत्तर देने में कठिनाई का अनुभव करेंगे। यह उनका अपराध नहीं है। दक्षिण में वैदान्तिक संस्कृति के लिए सुविधाएँ बहुत कम हैं। अच्छा, यह बात जाने दो, हृषीकेश में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी ऐसे दीख रहे हैं मानो "शिवोऽहं, शिवोऽहं" की भावना रखते हों, तथा शम, दम, मैत्री, करुणा आदि दैवी गुणों से मंडित हो गये हों। गायें, बंदर आदि पशु, अबाबील, बतक, चंडूल आदि छोटे पक्षी, और चूहे, गिलहरी, नेवले आदि छोटे जीव यहाँ महात्माओं के पास आकर खाना खाने में

तनिक भी भयभीत नहीं होते। यह साधु जब हृषीकेश में रहा करता था तब पर्णशाला में भिक्षान्न खाते समय गिलहरी तथा अनेक पक्षी समीप आ जाया करते थे और जबरदस्ती रोटी आदि ले जाकर खाया करते थे। यदि गंगा-किनारे भोजन होता था तो बड़ी-बड़ी मछलियाँ सहभोजी बन जाती थीं। बंदर न केवल हाथ में खाना लेकर खाते ही थे, बल्कि यदि उन्हें नहीं दिया जाता था तो खाने की चीजें बलपूर्वक छीनकर खा जाते थे। गायों का मनुष्यों के प्रति प्रेम तथा उनकी शांति देखकर आश्चर्य होता है। जो जानवर मनुष्यों को देखकर भाग जाते हैं, उन्हें इन के प्रति इतना प्रेम और अधिकार कैसे मिला ? प्रेम से प्रेम पैदा होता है और द्वेष से द्वेष। वस्तुतः इन्हीं महात्माओं की शांति-महिमा ही यहाँ के सब जीव-जन्तुओं की शांति-प्रियता तथा स्वभाव-मधुरिमा का कारण बन गयी है। यहाँ सबको आत्मवत् समझकर अहिंसा-तत्त्व का बड़ी सावधानी से पालन किया जाता है। शुद्ध अहिंसा के सामने क्रूरता करुणा बन जाती है, भीती मैत्री बन जाती है और चपलता शांति।

हृषीकेश में दीर्घकाल से पुण्यात्मा तापस्वी जनों के लिए सुख-सुविधाएँ प्राप्य रही हैं। यहाँ पतित-पावनी भागीरथी बहती है। भागीरथी के दोनों ओर—उत्तर और पूर्व की ओर—फैले हुए वनान्तर-भाग एकांत-प्रेमी, समाधिस्थ तत्त्ववेत्ताओं के लिए आनन्द की वर्षा करनेवाले हैं। जो प्रबुद्ध लोग निर्विषय रूप से शान्ति-सुख की अनुभूति की इच्छा करते हैं, उनके लिए ऐसे एकांत प्रदेश अमरावती के समान हैं। यही कारण है कि आत्माराम बनकर, आत्म-क्रीड़ा में लगे हुए, उपरत-वृत्ति सिद्ध लोग हृषीकेश की शरण लेते हैं।

इन साधकों के लिए हृषीकेश का निवास पुण्यपरिपाक से प्राप्त एक महान् अनुग्रह है। जो सत्यवस्तु को अपरोक्ष रूप में देखकर तृप्त होने के जिज्ञासु हैं, उनका मुख्य कर्तव्य श्रवण, मनन आदि का निरन्तर अनुष्ठान है। यह तथ्य है कि श्रवण आदि का अभ्यास विजन-देश में ही हो सकता है। यह एकान्त-मनोहर हृषीकेश वन हमारे मन के विकारों को दूर करता है तथा सहज ही चित्त को प्रसन्नता और आनन्द प्रदान करता है। जिस प्रकार घर में बैठकर, पढ़ने की अपेक्षा विद्यालय में जाकर पढ़ना परिपक्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए अधिक हितकर है, उसी प्रकार कोई कितना ही बुद्धिमान् व्यक्ति क्यों न हो, अकेले ब्रह्म-विचार करने की अपेक्षा ब्रह्मविदों तथा ब्रह्माभ्यासियों के बीच बैठकर ब्रह्म-विचार करना ज्ञान को शंकाहीन करके परिपक्व बनाने में अधिक सहायक सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि मुमुक्षुओं के ब्रह्माभ्यास के लिए

भारत में सबसे महान् विश्वविद्यालय हृषीकेश है।

इसके अतिरिक्त, यह स्थान भागीरथी की उपासना के लिए भी कितना उपयुक्त है। भागीरथी में एकान्त स्नान करने तथा भागीरथी-तट पर बैठकर एकान्त भजन करने की जितनी सुविधा इस पुण्यक्षेत्र में है, वह यहाँ से नीचे गंगा-तट के दूसरे मंदिरों में अलभ्य है। ब्रह्म-चिंतकों के लिए गंगा-सेवन कितना श्रेयस्कर है। चित्त-शुद्धि ब्रह्मज्ञान का मुख्य आधार है और चित्त-शुद्धि के उपायों में मुख्य उपाय निःसन्देह गंगा-स्नान है। यह ज्ञानेच्छुओं के प्रति आदरणीय है। श्रद्धापूर्वक गंगा-जल में स्नान करना, गंगा-जल को पी लेना, गंगाजी की पूजा करना, गंगाजी का भजन करना, "हे मातृगंगे! हे भागीरथी! हे जगज्जननी! हे जटा-शंकरी!" आदि शब्दों में, गद्‌गद् स्वर में, गंगा का नाम-संकीर्तन करना—ऐसे पुण्य शब्दों के द्वारा भागीरथी की निष्काम उपासना से चित्त-शुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस युग में दूसरा कोई उपाय मिल ही नहीं सकता।

: २ :

श्रुति इस प्रकार कहती है —

> यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता।
> अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

"इसकी बुद्धि में जो काम स्थित है, वे सब जिस समय समूल नष्ट हो जाते हैं, उस समय मर्त्य अमर बन जाता है। इसी शरीर में वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।"

बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'धम्मपद' भी यही उपदेश देता है—"चाहे नग्नभाव हो, चाहे जटाभार; चाहे स्नानादि से हीन शारीरिक मलिनता हो, चाहे, उपवास; चाहे भूमि-शयन हो, चाहे भस्मादि का विलेपन; और चाहे निश्चेष्ट एकासन-स्थिति हो, किन्तु जो मनुष्य अभिलाषाओं को नहीं जीतता, उसे कोई पवित्र नहीं बना सकता।"

काम-विजय ही कैवल्य रूपी परम पुरुषार्थ है। काम-विजय में ही मनुष्य के कर्तव्यों की परिसमाप्ति है। काम-विजय ही परम शांति और परम-सुख है। अणिमादि सिद्धियों से महत्तर सिद्धि भी यही काम-विजय है। निर्भीक,

स्वतंत्र तथा आनंदमय जीवन के लिए एकमात्र उपाय इच्छाओं पर विजय ही है। जिसमें कोई इच्छा नहीं रह गयी है, उसके सामने कोई बाधा नहीं आती। इच्छाहीन व्यक्ति को कोई दुःख या क्लेश नहीं सताता। जो इच्छाओं से मुक्त है वह साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप है। वह सर्वाधिपति है। इहलोक में सम्राट् तथा परलोक में ब्रह्मादि ऐसे व्यक्ति के सेवक बन जाते हैं। परन्तु इच्छाओं को जीतना आसान नहीं है। सामान्य-जन के लिए इच्छा-पिशाचिका के हमले से बच सकना असंभव है। जिस प्रकार एकादशी व्रत रखनेवाला व्यक्ति व्रतभग के डर से भोजन नहीं करता, तो भी उसका मन भोजन में आसक्त रहता है, उसी प्रकार विषयों को बलपूर्वक त्यागकर जो काम-विजय करता है तो भी उसका मन विषयों में आसक्त रहता है। जब तक सदा और सर्वत्र आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक मन कामनाओं से छुटकारा नहीं पा सकता। जो व्यक्ति आत्म-बोध के अतिरिक्त दूसरे उपायों से काम-विजय की कोशिश करता है, वह मानो कमलनाल से मत्त मातंग को बाँधना चाहता है। "नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते"—आत्मज्ञान के समान महा दिव्य और महा महिमामय और कोई पदार्थ इस संसार में है ही नहीं। सभी झंझटों का बीज कामान्धकार है। उसे दूर करके करोड़ों सूर्य की प्रभा के साथ स्वयं प्रकाशमय बनकर चमकनेवाले हे आत्मज्ञान! तू ही धन्य है। तू सर्वदा हमारे हृदयों में सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान रह!

सन् १९२० की बात है। एक ब्रह्मचारी के रूप में मैं हृषीकेश में आकर कुछ दिनों तक रहा था। उस समय ऐसे कई बूढ़े महात्माओं को मैंने प्रणाम किया था और उन से मिलकर बातें की थीं। वे आत्मबोध रूपी तलवार से काम-वैरी को जीतकर, सदा अपने स्वरूप में रम रहे थे। वे न्याय, वेदांत आदि शास्त्रों के प्रकाण्ड पंडित थे, और परम वैराग्य का जीवन व्यतीत कर रहे थे। आज उन में से अनेक काल-धर्म को प्राप्त हो चुके हैं। इनकी निवास-भूमि 'झाड़ी' कहलाती थी, जो कि चारों ओर गंगा से घिरी, तथा निबिड़ वनों से भरी होती थी। मानो वह एक छोटा-सा एकांत द्वीप हो। हृषीकेश की यह झाड़ी जो *महात्माओं की विहार-भूमि तथा मनोहारी प्रकृति की विलास-भूमि है,* सारे उत्तर भारत में मशहूर है। किंतु गंगाप्रवाह के कारण यह स्थान आज शून्यप्राय हो गया है। आज धीरे-धीरे ऐसे महात्माओं की संख्या हृषीकेश में कम हो रही है, जो कामादि दोषों को भस्मसात् कर निवृत्ति-निरत होगये है, तो भी कुछ समय पहले तक ऐसे महात्माओं की यहाँ कोई कमी न थी।

ऐसे महापुरुषों के केवल दर्शन ही अनेकानेक धार्मिक ग्रथो और उनकी व्याख्याओ से बढ़कर आत्मोत्कर्ष प्रदान करते है। हृषीकेश के उन महात्माजी की कहानी तो सुविदित है जो बाघ के मुँह में दबाकर ले जाने पर "शिवोऽहं, शिवोऽहं" का मत्र जपते रहे। यदि यही एक घटना सुननेवालों के हृदय में असीम साहस और विवेक पैदा कर देती है तो यह कहने की ज़रूरत ही क्या है कि उस विज्ञान-निधि और शांति-स्वरूप दिव्य शरीर के दर्शन से हमारे हृदय में कितने उत्कृष्ट भाव पैदा होगे।

इन्ही महात्माओ मे एक श्री विशुद्धानद स्वामीजी थे। यह वैराग्य, त्याग आदि गुणो से मडित थे, ब्रह्म-विद्या मे निष्णात थे और काम-विजेता थे। यही महात्मा 'बाबा काली कमलीवाला' के नाम से मशहूर थे। वे केवल एक काला कबल पहनते थे। केवल भिक्षा-वृत्ति से जीवन बिताते थे। वे महान् विरक्त तपस्वी थे। वह द्रव्यों का परिग्रह या सग्रह नही करते थे। उनका रहन सहन धर्मानुसार और निष्कलक था। किन्तु इतने उत्कृष्ट गुणों से संपन्न होने पर भी उनकी ख्याति नही थी। विद्वानो का यह कथन कि यश के योग्य व्यक्तियों को प्राय यशोदेवी नही अपनाती, कितना ठीक है। इस तरह वे अज्ञात रूप मे जीवन बिताते रहे। किन्तु प्रारब्ध की विचित्र गति ही कहिए, आगे चलकर लक्ष्मी उनकी सेवा करने लगी। यह लक्ष्मी की विलक्षणता ही है कि जो उससे प्रेम नही करता, वह उसके प्रेम मे लग जाती है। लक्ष्मी उनकी चिरदासी हो गयी। अनेक धनाढ्य लोग उनके नौकर-चाकर हो गये। स्वामीजी के मन मे यह सकल्प हो आया था कि हृषीकेश मे अन्न-वस्त्रादि के बिना कष्ट झेलनेवाले साधु-महात्माओ को ज़रूरत की चीज़ें देकर उनकी सेवा करनी चाहिए। इसलिए वे द्रव्य-स्वामी बन बैठे। किंतु इस सपत्ति की दशा में भी एषणा या भोग की इच्छा उन्हे छू तक नही गयी थी। वे भिक्षु थे और हमेशा भिक्षुक की तरह ही जीवन बिताते थे। विराग की मूर्त्ति बनकर विराजमान 'बाबा काली कमलीवाला' के समान और कोई दृष्टात बिरला ही मिलेगा। यदि कोई साधु प्रारब्ध के वशीभूत होकर द्रव्य का अधिपति बन बैठे तो उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह उन्ही से सीखना चाहिए। हृषीकेश तथा हिमालय के कई अन्य स्थानो पर साधुओ की सेवा-शुश्रूषा तथा इसी प्रकार के दूसरे धार्मिक कर्मों का जो प्रबन्ध उन्होंने किया था वह कितना विस्मयकारी है! हृषीकेश तथा केदारखंड के नाम से ज्ञात हिमालय की यह पुण्यभूमि जब तक भागीरथी और अलकनन्दा रूपी देव-नर्तकियों से परिपूत

रहेगी तब तक उनका धन्य नाम आदर के साथ प्रकीर्तित रहेगा।

अहोभाग्य ! इस प्रकार 'काली कमली वाला' आदि कई आधुनिक यतीन्द्रों के, तथा अत्रि, अंगिरा आदि कई पौराणिक महर्षियों के पाद-पांसुओं से परिपावन हृषीकेश में मैं कई बार आकर रहा और ब्रह्म-विद्या में रमकर आनंदानुभूति करता रहा। ऐसा मेरा विचार है कि यह मेरी सुकृत-राशि का ही रमणीय तथा मधुर फल है। भागीरथी-तट के एकान्त उटज में ब्रह्म-विचार तथा ब्रह्म-शास्त्र में निमग्न होकर संसार को भूलकर दिन को क्षण के समान बितानेवाले हृषीकेश के ऋषि-जीवन के विषय में यही कहना पर्याप्त है कि वह अत्यंत वांछनीय है।

यह हमें स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर-तत्त्व-चिंतन में रुचि रखने वाले बहुत कम व्यक्ति ही ऐसे ईश्वरीय जीवन के अधिकारी होते है। ऐसे व्यक्ति विवेकपूर्वक समझ लेते है कि यह संसार कदली-काड के समान असार है, विष-मिले मिष्ठान्न के समान त्याज्य है तथा मृग-तृष्णा के समान अवास्तविक है। यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध है कि सब लोग सभी वस्तुओं के अधिकारी हों। भौतिकवादी व्यक्ति सदा यही प्रलाप करते हैं कि लौकिक व्यवहार ही सब कुछ है। इससे रहित जीवन व्यर्थ है। तत्त्वचिंतन अक्रिया-शीलता है। विषयोपभोग से रहित जीवन पाषाण-दशा है। तपस्या करना मूर्खता है। एकान्तवास कारागृह है और आत्मानुभूति बौद्धिक विभ्रांति है। ऐसे भौतिकवादी हृषीकेश जैसे सुरम्य स्थलों में विचरने के अधिकारी नहीं हैं। किंतु यदि ईश्वर की कृपा हो तो कुछ काल के बाद, अर्थात् कुछ जन्मों के बाद, वे भी विषयों के दुष्ट-नष्ट भाव को जान लेंगे और विचारमार्ग के पथिक बन जाएंगे। सृष्टि के आरंभ से ही ऐसे लोग सदा विद्यमान रहे हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। पंडितों के लिए यह अज्ञात नहीं है कि सुरगुरु की परंपरा में ऐसा एक वर्ग पहले ही दुनिया में विद्यमान था जो ईश्वर और आत्मा का निषेध करके देहात्मवाद का नारा लगाता था। इन चार्वाकों के वर्ग में आज के भौतिकवादी भी आते हैं। किन्तु इससे हमें चिन्तित नहीं होना चाहिए। वस्तुत. विपक्षी जन परोक्ष रूप से हमारे सदा सहायक ही होते हैं। उन्हीं के कारण हमारे विचारों में दृढ़ता आती है। इन नास्तिक जनों की सृष्टि भगवान् ने इसी उद्देश्य-पूर्ति के लिए ही की है।

: ३ :

हृषीकेश-गंगा के इस पार और उस पार अति रमणीय वन है, जिसमें दधि के समान श्वेत पुष्प-गुच्छों मे सुशोभित आटलोटक के पौधे है, हरे-भरे सैकडो फलो से विभूषित बिल्व वृक्ष है, बीजो को उदारता के साथ गिरानेवाले पुराने वेणुवृन्द हैं, पल्लव, फूल और फलों से लदे कई तरह के वृक्ष तथा वल्लियां हैं। हाथी, सुअर, भालू और चीते आदि इस पार और उस पार विहार करते है। उस पार तो कही और भी अधिक है। मयूरों की ऊँची आवाज रह-रहकर वनान्तरो को मुखरित करती है। वे मदोन्मत्त होकर अपने पंख फैलाकर आनन्द-ताडव करते है। जो रक्तमुख और कृष्णमुख वानर किलकारियाँ भरते इधर-उधर दौडते-भागते है, वे मोरों की नृत्य-कुशलता देख अपनी सारी चपलता छोड थोडी देर के लिए शान्तिपूर्वक बैठ जाते हैं। कभी-कभी तो यह साधु भी मोरो के नृत्य-महोत्सव मे शामिल हो जाता है और इसका मनमयूर नाच उठता है। सच तो यह है कि परमात्मा के प्रेम मे अपने को भूले हुए महर्षि-पुगव ही मयूर रूप मे नृत्य करते है और भक्ति मे उन्मत्त ऋषि-जन ही वानर रूप मे आनन्दोल्लास मनाते है। हिमालय की महिमा मे और ऋषियों की विभूति मे श्रद्धालु कोई भी पुरुष इस कथन में सहज विश्वास कर सकता है। यद्यपि जगली कुक्कुट मोरो के सजातीय है। पर मोरो की मोहक सुन्दरता, नृत्य और आमोद को अपनी आँखो के सामने देखकर भी उनके हृदय में जरा भी ईर्ष्या या मत्सर पैदा नही होता। बल्कि वे तो अपनी कूक के द्वारा उन का अभिनन्दन करते हैं और अपनी स्त्री-जाति के साथ आनन्द से चारो ओर घूम-फिरकर चुगते-चुगते विहार करते है। उनका यह सात्त्विक स्वभाव कितना प्रशसनीय है। जो लोग दूसरो की उन्नति मे असहिष्णु बन जाते है, विद्वेष के कारण अशान्त-हृदय रहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे इन वन-कुक्कुटों को अपना गुरु बनाएँ और उनसे ईर्ष्या न करने की शिक्षा लें। हिरण उछल-कूद मचा रहे हैं। वे बार-बार यात्रियों के सामने से बिना हिचक के गुजर जाते हैं। यह वन कई प्रकार के विचित्र जीव-जन्तुओं से सुशोभित है। ईश्वर ने इन्हें अपने हाथों से सींचा है। हिमालय के ये बगीचे प्रकृति-निरीक्षक तथा मननशील व्यक्तियों के लिए अत्यन्त हृदयहारी है। एकान्त-सुन्दर वनान्तरों का यह स्वभाव है कि वह भक्तो मे अधिक भक्ति, ध्यानशीलो मे अधिक ध्यान, भीरुओं मे अधिक भय और कामियों मे अधिक काम पैदा करते है। इसलिए भजन तथा निदिध्यासन के इच्छुक लोगों के हृदय मे ऐसे रमणीय वन भक्ति तथा समाधि के अंकुर को

बढ़ाने में अधिक सहायक होते हैं। लेकिन यहाँ यह संकेत करना आवश्यक है कि आदमियों के हमले से हृषीकेश की वन-शोभा धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है, और यदि इस प्रकार आगे भी ऐसी स्थिति रही तो जल्दी ही यहाँ के सब वन जनपद बन जाएँगे।

सन् १६२० में मैं एक सत्यान्वेषी की हैसियत से उत्तरप्रदेशों में भ्रमण करने गया और वहाँ के कई प्रसिद्ध महात्माओं के दर्शन करने के बाद हृषीकेश तथा हिमालय के दूसरे स्थानों का मुझे विशेष रूप से अनुभव हुआ। इस बार मैं सत्य-निर्णय का जिज्ञासु होकर, महापुरुषों से श्रद्धालु बनकर एक विनीत-प्रकृति नायर युवक के रूप में हृषीकेश में प्रविष्ट हुआ था। किंतु दूसरी बार सन् १६२३ में मैं सत्यवस्तु से निःशंक होने पर भी सत्यनिष्ठा से अचंचल अभिलाषा रखनेवाले, ध्यान-भजन में लीन एक मलयाली साधु के रूप में हृषीकेश पहुँचा था। वहाँ मैं साधु-संतों की संगति, ब्रह्म-चिंतन और उसके अनुरूप शास्त्र-चिंतन तथा गंगा-सेवन में ही अपना समय आनन्दपूर्वक बिताता रहा।

यहाँ विभिन्न सम्प्रदायों तथा जातियों के साधु-महात्माओं के दर्शन मिल जाते थे। इसलिए भारत के भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक मत-भेदों को जान लेने और उनके गुण-दोषों पर उनके साथ चर्चा करने का अवसर आसानी से मिल जाता था। यद्यपि हमारे पुरातन ग्रंथों के अनुसार ब्राह्मण-जाति ही सन्यास की अधिकारी है, तो भी उत्तर प्रदेश में ऐसा भी एक सम्प्रदाय है जिसमें मेहतर और तेली भी गेरुआ कपड़ा पहने सन्यासी बनकर परमात्मा का भजन करते हैं। यह तो सब को ज्ञात है कि गोरे लोग भी हिन्दू-धर्म में श्रद्धा रखकर गेरुए कपड़े पहनकर साधुओं का जीवन बिता रहे हैं। काल के बदलने के साथ राजनैतिक बातों के समान धार्मिक कृत्यों में भी स्वतंत्र आदर्श, परिवर्तन और कई रीतियाँ जन्म लेती हैं। स्वतंत्र-चिन्तन तथा धार्मिक नियमों में सुधार वस्तुतः संकुचित बुद्धि के लोगों को जरा भी पसन्द नहीं आता। फिर भी, उदारचेता मानव उसका सानन्द स्वागत किये बिना नहीं रहते।

दक्षिण के लोगों के लिए हृषीकेश का निवास ही परम तपस्या है। वहाँ अति शीतल गंगाजल में स्नान करना, इसी जल से दूसरे काम करना, वहाँ रहते हुए अपरिचित अनाज खाना और कड़ी सर्दी व गर्मी सहना वस्तुतः एक महान् तपस्या है। परन्तु परमात्मा के चिन्तन में शारीरिक कष्टों को सहना सिर्फ बाहरी तपस्या है। आत्म-साक्षात्कार का सच्चा साधन आंतरिक तपस्या है। इसलिए हमें यह तत्त्व कभी नहीं भूलना है कि सच्ची आन्तरिक तपस्या में

ही मन लगाकर एक मुमुक्षु को काम करना चाहिए। आत्म-स्वरूप का विवेचन ही आतरिक तपस्या है। जो इस महान् आतरिक तपस्या का अनुष्ठान नहीं करते, वे हृषीकेश मे नही, कैलास मे ही जाकर रहें, तो भी निर्वाण के विषय में, अर्थात् मानसिक शाति को प्राप्त कर अपने जन्म को चरितार्थ करने मे, वे कोई लाभ प्राप्त नही कर सकते। इसके बदले जो इस आतरिक तपस्या का तत्परता के साथ अनुष्ठान करते है, वे चाहे स्वदेश मे रहें, अपने घर में रहें, नगर के बीच रहे या व्यवहार के बीच—चाहे जहाँ भी रहे, वे धीरे-धीरे उस महत्तम शाति-पद मे पहुँचकर निर्वृत्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

हृषीकेश का शीतकाल बहुत ही सुन्दर, हृदयहारी तथा शातिदायक है। इस कारण कई साधु-महात्मा देश-देशातरो से भी शीतकाल मे यहाँ पहुँच जाते हैं और भजन मे लीन होकर शातिमय जीवन व्यतीत करते हैं। साधु लोग राजा-महाराजाओ के समान स्वेच्छाचारी होते है। यदि राजा की दौलत उसे मनमानी करने की शक्ति प्रदान करती है तो साधु को उसका अकिंचन भाव ही इसके लिए समर्थ बना देता है। एक राजा की बढ़ी-चढ़ी सपत्ति से बढकर एक साधु का अपरिग्रह तथा अविचारित लाभ का सतोष ही उन्हें देशाटन करने मे मदद देता है। आज भी जबकि राग-बहुलता तथा भोग-लम्पटता का बोलबाला है, हिमालय प्रदेशो में ऐसे अनेक साधु-परिव्राजक मिल जाएगे जो धन को हाथ से छुए बिना कल के खाने की चिंता किये बिना, केवल परमेश्वर-परायण बनकर बडी तितिक्षा तथा अविचारित लाभ की प्रसन्नता के साथ जीवन बिताते हुए निरशक भाव से घूमते रहते है। कई सौ रुपये खर्च करके, अनेक सामग्रियाँ इकट्ठी करके, कुछ भारतीय और यूरोपीय यात्री कभी-कभी तिब्बत की यात्रा करते है। मगर एक साधु तो हाथ से पैसा छुए बिना, नगे पैर, निरातक होकर आनन्दपूर्वक तिब्बत का सफर करके, कई दिनों तक वहाँ रहकर लौट आता है। एक अमीर का आर्थिक बल एक साधु की आत्मशक्ति की अपेक्षा कितना नि सार होता है? एक राजा अपनी आर्थिक शक्ति से जिन महान् कार्यों की सिद्धि नही कर सकता, उनकी सिद्धि एक साधु अपनी आत्म-शक्ति से कर लेता है। आत्मशक्ति और उससे पैदा होनेवाले पूर्ण विराग, पूर्ण सतोष, पूर्ण तितिक्षा आदि गुण एक साधु को अमूल्य निधि है। यह निधि उसके जीवन को सब रूप से समर्थ तथा आनन्दमय बना देती है। इस आत्मबल से सपन्न परिव्राजनशील कई महात्मा लोग हिमालय के ऊँचे प्रदेशो से तथा पंजाब आदि निम्न प्रदेशो से शीतकाल मे हृषीकेश मे आकर एकत्रित होते है।

यह साधु भी अधिकतर शीतकाल में हिमालय के ऊँचे प्रदेशों से उतरकर, हृषीकेश-महिमा का उपभोग करने मे आनन्द लेता है । हृषीकेश मे पहुँच जाने पर वहाँ मलयाली साधुओं की सगति में बैठकर अपनी मातृभूमि तथा मातृभाषा की स्मृति आना स्वाभाविक है । याद आ जाने पर मैं मातृभूमि की उन्नति की दिल खोलकर प्रार्थना किया करता हूँ । "नास्ति मातरमाश्रम", माता से बढकर और कोई आश्रम नही है । वस्तुत यह ऋषियो का सिद्धात है कि सन्यासी होने पर माता और मातृभूमि को नही भूलना चाहिए ।

हिमालय प्रदेशो में पवित्रतर बदरिकाश्रम, गगोत्री, जम्नोत्री आदि पुण्यधामों की ओर तीर्थयात्रा करनेवाले पुण्यवान् हृषीकेश से ही अपनी यात्रा शुरू करते है । हृषीकेश मे गगानदी को पार करके हिमालय के रमणीय शाखा-पर्वतो के अन्दर घुस जाते है । मन को लुभानेवाली वनराजि से आच्छादित पहाड़ो की तराइयो में, दिव्य सुषमा से सम्पन्न भागीरथी के किनारे से होकर ऊपर की ओर चलनेवाला एक यात्री—हिमालय तथा भागीरथी के प्रभाव तथा उनकी महिमा मे श्रद्धा रखनेवाला एक यात्री—इस रजो-जटिल ससार को बिलकुल भूल जाता है । उसका मन एक अलौकिक सत्त्वभूमि की ओर उठ रहा होता है । वह महान् शाति तथा सुख की अनुभूति करता है । प्रकृति की रमणीयता उसके मन की रजस्तमोवृत्तियों को दूर कर देती है । यद्यपि हिमालय के कई दूसरे दुर्गम प्रदेशों की तरह इस मार्ग मे किसी यात्री को भयानक वन तथा अत्युन्नत शिलाओं को पार नही करना पड़ता, तो भी किसी प्रकृति-निरीक्षक यात्री की कुतूहलता को बढाकर उसे आनन्द देनेवाली रमणीय वस्तुओ की यहाँ भी कमी नही है । पहाडो की घाटियो मे स्वच्छद बहनेवाली गंगा और अलकनदा की शोभा ही निराली होती है । यहाँ छोटे-मोटे पहाड़ो की कतारें तथा विशाल वन अति हृदयाकर्षक हैं । यह ठीक है कि सुषमाकर हिमालय सब कही हिमालय ही है । किसी भी भाग मे हिमालय के स्वरूप तथा गभीरता में कमी नही दीख पड़ती । लेकिन यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि हिमालय के स्वरूप तथा गभीरता की प्रशसा जो मै यहाँ कर रहा हूँ और आगे भी कई प्रसगो मे करूँगा, वह अपनी दृष्टि में जैसा दिखाई पड़ता है, उसी के अनुसार है । यदि दूसरी कुछ आँखें शायद हिमालय को देख उसे केवल पत्थर, मिट्टी, जल-धाराओं तथा पेड़-पौधों का एक समाहार-मात्र समझें और हिमालय प्रदेशों को नीरस, निर्जन, निर्जीव तथा सूखे प्रदेश जान लें तो इसमे मेरा कोई दोष नही है । आँखो की भिन्नता से दृष्टिकोणो की भिन्नता

होना नितान्त स्वाभाविक है।

हृषीकेश में सात आठ मील पूरब की ओर पहाड़ की चोटी पर नीलकंठ नामक एक पुण्यभूमि है। यह हाथियों की विहार-भूमि है, उन्मत्त मयूरों के केकारव से मुखरित है। यहाँ के श्यामल रंग के बिल्व वृक्षों, घने वनान्तरों से होकर नीलकंठ की ओर का मार्ग किसी का भी मन बहलाये बिना नहीं रहता। नीलकंठ की ही तरह हृषीकेश के पास और भी कई दर्शनीय स्थान हैं। तात्पर्य यह कि वे विरक्त महात्माओं तथा प्रकृति-निरीक्षकों के लिए देखने योग्य हैं। निर्विषय तथा निर्जन वनों में साधारण जनता का मन नहीं रम सकता।

हृषीकेश से तीन मील पूर्वोत्तर की ओर स्थित 'लक्ष्मण झूला' भी एक तीर्थस्थान माना जाता है। वहाँ से कुछ दूर की ब्रह्मपुरी में भी कुछ लोग यात्रा करते हैं। वस्तुतः भक्तजन ही अपने श्रद्धाभरे नेत्रों से ऐसे स्थानों की महिमा देख पाते हैं। जिनके नेत्रों में श्रद्धा नहीं है, उनके लिए गंगा, हृषीकेश, हरिद्वार, बदरिकाश्रम, काशी, रामेश्वर, आदि पुण्यधाम बिलकुल निरर्थक है। उनके सामने इनकी महत्ता प्रकाशित नहीं होती। इसका कारण है कि इन्द्रियों के लिए अव्यक्त परोक्ष विषय श्रद्धाहीन नास्तिकों की बुद्धि में नहीं आया करते। जो महामति लोग किसी में श्रद्धा किये बिना केवल अपनी इन्द्रियों को मुख्य मानते हैं, उनके लिए तो न कोई तीर्थ है और न तीर्थयात्रा है, न कोई पुण्य है और न पाप, न परलोक है और न परमेश्वर ही।

●●

२. उत्तरकाशी

: १ :

पर्वतसम्राट् हिमालय के बीच 'वारणावत' नामक एक पवित्र शाखा-पर्वत विराजमान है। इसी को आधार बनाकर अनेक पुराण-कथाएँ लिखी गई हैं। इस ऊँचे पर्वत की चोटी देवदारु आदि दिव्य वृक्षों से ढकी हुई है। इसका प्रांत देश कई तरह के रमणीय वृक्षों से ढका हुआ है। पहाड के प्रांत भागों में इधर-उधर कुछ छोटे गाँव भी हैं। पहाड के पूरब और दक्षिण की घाटियों में महाभागा भागीरथी निरन्तर प्रणव-ध्वनि के साथ प्रवाहित होती रहती है। यह पुराण-प्रसिद्ध उत्तरकाशी क्षेत्र, वरुणा और असी नामक दो तीर्थ-नदियों के बीच में, जो भागीरथी में आकर मिलती हैं, पाँच कोस की सीमा में वारणावत पर्वत के एक ओर एक रमणीय भूमि है। इसी पहाड़के पूरब की तराई में जाह्नवी-तट का एक मोहक मैदान ही काशीक्षेत्र का केन्द्र है। इस मैदान में पूर्वकाशी के समान श्री विश्वनाथ आदि कई देव निवास करते हैं, मणिकर्णिका से लेकर अनेक तीर्थ है, तथा पहाड़ी ब्राह्मणों की एक बस्ती है। यदि पूर्वकाशी नागरिकता और आडंबर में मग्न भारत का एक बडा नगर है तो उत्तरकाशी बिलकुल अनागरिक, अनाडंबर और पुरानी परंपरा में ही विराजमान शुद्ध सात्त्विक *हिमालय का एक छोटा-सा ग्राम है। पूर्वकाशी के विश्वनाथ यदि जनता की* निबिड़ता, कोलाहल तथा पुष्पवृष्टि से सदा पीडित है तो उत्तरकाशी के विश्वनाथ जनशून्यता, नि.शब्दता में निर्विशेष, सर्वदा आनंद-समाधि में लीन विराज रहे है। *पूर्वकाशी के संन्यासी यदि बडे-बडे आस्थानों पर बैठे विक्षेप-बहुलता के* कारण एक अशान्त जीवन बिता रहे है तो उत्तरकाशी के यतीन्द्र पहाड़ी गुफाओं एवं छोटी-छोटी कुटियों में रहते हुए समाधियुक्त शांत जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

लीजिए, उत्तरकाशी की पूर्व दिशा में हरिपर्वत तथा दक्षिण में पुराण-प्रसिद्ध ऊँचा वालखिल्य पर्वत विश्वनाथपुरी को घेरे खड़ा है। उस शांत

गभीर वातानिग्य पर्वत मे कई अनोखी गुफाएँ दिखायी पड़ती है, जहाँ बाल-खिल्य आदि अनेक ऋषि पुगव तपस्या मे लीन रहा करते थे । श्रद्धालु बूढे महात्माओं का कहना है कि हिमालय के सभी प्रदेशो मे आज भी ऐश्वर्यशाली महर्षि लोग गुप्त रूप में रहा करते हैं और घूमा करते है तथा पुराण-ग्रन्थो का कहना है कि कलियुग मे मनुष्य-रूप की अपेक्षा वे पक्षी और वृक्षो के रूप मे अधिक विहार किया करते है । बालखिल्य पर्वत के पास ही एक गभीर वन के अन्दर नचिकेता का निवास-स्थान भी दिखायी पडता है । यहाँ 'नचिकेता तालाब' नामक एक सरोवर नचिकेता के नाम पर प्रसिद्ध है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि श्रुति-प्रसिद्ध नचिकेता की निवासभूमि यही प्रदेश है ।

श्रद्धा और वैराग्य की मूर्ति नचिकेता का विस्मयकारी चरित्र तो प्रसिद्ध है जो मृत्यु लोक में जाकर मृत्यु भगवान् से ब्रह्मविद्या सीखकर कृतकृत्य होगये थे । उनकी अनन्य ज्ञानमहिमा तथा वैराग्य आदि सात्विक गुण वेद-पुराणो मे एक स्वर से गाये गये हैं । जब पुण्यात्मा नचिकेता के केवल नाम-सकीर्तन से ही कोई देश पवित्र हो सकता है, तो साक्षात् उनके पाद-पद्म-परागो से तीर्थ बने इन हिमालय प्रदेशो की पवित्रता का क्या कहना ? ऐसा एक मोहनकाल, अर्थात् एक सुवर्ण युग, प्राचीन भारत का था, जबकि जितेन्द्रिय, फल-मूलो पर जीवन बितानेवाले ऋषीश्वर हिमालय के एकात वनातरो मे रहते हुए बाहरी दुनियाँ को भूलकर तत्त्वचिंतन में डूबे रहते थे । आध्यात्मिक दृष्टि से इस ज़माने को तो उस काल की अपेक्षा बिलकुल फीका, एक पाषाण-युग या पाषण्ड युग ही मानना पडता है । जब तक अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक तत्त्वो की अनुभूति साक्षात् नही होती, तब तक उन ऋषियों का मन तृप्त नही होता था । आध्यात्मिक तत्त्वों को वे श्रुतियो द्वारा या गुरुजनो द्वारा जानकर सन्तुष्ट नही होते थे, बल्कि उनके साक्षात् दर्शन के लिए वे लालायित और प्रयासशील रहते थे । उन्हीं के परिश्रम से भारत आध्यात्मिक-भूमि के नाम से सारे ससार मे प्रसिद्ध है । इतना ही नही, वे अनगिनत ग्रन्थ भी जिनमे तत्त्व शास्त्रो का अमूल्य निरूपण है, उनके अनुभव-प्रधान चिंतन का ही सुपरिणाम है ।

इस प्रकार विषयी जीवन को तृणवत् छोडकर मन को अतर्मुखी बना कर आन्तरिक तत्त्वो का अनुशीलन करनेवाले ऋषिपुगवों का वह अतिपावन सत्ययुग आज भारतवर्ष से बिलकुल गायब हो गया है । आगे भी कभी भारत-माता को ऐसे ही पुत्रो को जन्म देने का सौभाग्य मिलेगा या नही, यह सर्वज्ञ परमेश्वर ही जान सकते हैं । आज ज्यो-ज्यो जीवन मे विषय-बहुलता बढ़ती

जाती है, त्यों-त्यों मन बहिर्मुखी होकर बाहरी दुनिया मे ही घूमता-फिरता है। वह अन्तर्लोक मे विहार करके आन्तरिक तत्त्वों को खोजने मे रुचि नही रखता। बहिर्मुखी कर्मों में व्यस्त होकर जो बाहरी दुनिया में घूमते रहते है उनको सिर्फ बाहरी वस्तुओं का ही ज्ञान होता है, आतरिक तत्त्वों की अनुभूति नही होती। अन्दर के आत्म-तत्त्वो को देख लेना हो तो एकात स्थान मे शान्तिपूर्वक बैठकर अन्तर्मुखी चिंतन करने की आवश्यकता है। रजोवृत्ति मे लीन आज के लोगों के लिए तो किसी को देखे बिना और किसी से सबध किये बिना एकात स्थान मे एकाकी हो कर थोडे दिनो तक जीवन बिताना भी असभव हो जाता है। शाति, वैराग्य आदि सात्त्विक धर्मों की आज कोई महिमा नही मानी जाती। उनका जमाना बीत गया है। राग, द्वेष, लोभ, दम्भ अहकार तथा इन्द्रियो को कभी विश्राम न देनेवाले मोहक रजोगुणो का ही यह युग है, अर्थात् रजोवृत्ति को छोड सात्त्विक कर्मों का आदर और प्रशसा करनेवाले लोग आज बहुत कम है।

यदि आत्मीय उन्नति ही प्राचीनकाल के लोगो का लक्ष्य था तो भौतिक समृद्धि ही नवीनकाल के लोगो का लक्ष्य है। वे आत्मा के अनुसधान मे जितना कठिन परिश्रम करते थे, उतना ही ये भौतिक अन्वेषण मे करते है। उस समय के ऋषियो के पवित्र तपोमय जीवन और इस समय के लोगो के अपवित्र भोगमय जीवन, उनकी आत्मनिष्ठा और इनकी भौतिक निष्ठा आदि पर विचार करके देखें तो इसमे आश्चर्य नही है कि ये दोनों काल उत्तर-दक्षिण ध्रुवो की भाँति असमान दिखायी देते है। किन्तु क्या करें, यह सोचकर शाति पाये बिना और कोई चारा नही है कि भलाई-बुराई, उन्नति-अवनति और सम्पत्ति-विपत्ति सब स्थिरभाव से नही रहते, बल्कि चक्र-नेमि-क्रम से परिवर्तित होते रहते हैं। फिर भी, ऋषि-पुगवो की निवास-भूमि हिमालय के एकात रमणीय स्थानों मे घूमते समय भारतवर्ष की इस कायापलट को याद करके दुःखी हुए और गहरी साँस लिये बिना रहने का साहस इस साधु के मन में नही होता था। ऐसा मेरा विचार भी नही होता कि मातृभूमि से प्रेम करनेवाले किसी भी विचारशील भारतीय मे ऐसा साहस हो सकता है।

: २ :

अहो ! कामिनी, कनक आदि नाना विषयों के पीछे दौडते हुए गर्दभ-न्याय से, कितने ही दुःख क्यों न भोगे तो भी विषयासक्ति को छोडने के लिए मनुष्य तैयार नहीं होते। वे नहीं जानते कि विषय सुखरूपी शरीर का सिर दुःख है और बिना सिर के कोई शरीर असभव है। वे यह तत्त्व भूल जाते है कि जितना ही अधिक विषयों का उपार्जन करके उनका आनद भोगा जाता है उतना ही उनमे से निकलनेवाले दुःख भी अधिकाधिक भोगने पडेंगे—"अङ्गं गलित, पलित जात, दशविहीन जात तुण्डम्"। फिर भी, कायिक आसक्ति जरा भी कम नही होती। दश-नियुत-शत वय की जीर्ण दशा में भी नव-वय के जैसे प्राणियों के लिए देह अत्यधिक प्रिय ही रहती है। इस प्रकार 'सुख-सुख' की चिंता मे दुःख को तथा 'जीवन-जीवन' की चिंता मे भयानक मृत्यु को प्राप्त कर मनुष्य-जाति सदा ससार-चक्र में भ्रमती रहती है। इस द्वन्द्व-रूप ससार में दुःख से सुख को, मृत्यु से जीवन को, अपमान से मान को तथा ताप से शीतलता को अलग करके उपभोग करने की सामर्थ्य किसमे है ? हाय, महामाया के शक्ति-वैभव पर जितनी ही चिंता की जाती है, उतनी ही वह आश्चर्यमयी दिखायी दे रही है।

पिंजडे में बंद शेर की तरह देहेन्द्रियों के पजर में बद्ध होकर मनुष्य कुछ सीमाओं का उल्लघन करने मे असमर्थ रहते हैं। वे इस पर विचार नही करते कि जितने ही ऊँचे स्वातत्र्य-साम्राज्य मे वे जितनी ही अधम दुर्दशा की ओर पतित हो गये हैं। मनुष्यो की इस भ्रष्ट तथा शोचनीय दशा पर सभी धार्मिक-ग्रंथों ने एक-कंठ से दुःख प्रकट किया है। सब धार्मिक ग्रथ और धर्माचार्यों ने इस बात पर सहमत होकर उपदेश दिया है कि अन्य विषयों मे कितनी ही विप्रतिपत्ति क्यों न हो, तो भी मनुष्य अपने सच्चे स्थान पर स्थित नहीं हैं, बल्कि अपनी सहज दशा से कितनी ही नीचता की ओर वे भ्रष्ट हो गये हैं, और इस भ्रष्टता को पहचानकर वहाँ से स्वय उद्धार पाकर अपनी सहज दशा को पहुँच जाना ही परम पुरुषार्थ है। देखिए महामाया की शक्ति !

माया के अधिकार को तोडे बिना जब तक मनुष्य बद्ध दशा मे पडा रहता है, तब तक एक पंडित और एक कीडे में कोई भेद नहीं होता। ज्ञान-क्रिया-शक्तियाँ तो भगवान् ने दोनों को दी हैं। जो मनुष्य देहेन्द्रियो मे आसक्ति रखकर दोनो प्रकार की इन्द्रियों के विषय के व्यवहार मे सुख-दुःख भोगते हुए जीवन बिताते हैं, जो अपनी

विशेष-बुद्धि को बधन-मुक्त करने में नही, बधन को और भी मजबूत करने के काम मे लाते हैं । उन्हे यह अधिकार नहीं है कि वे अपने को विशेष बुद्धि से सपन्न समझें और उसके द्वारा अपने को अन्य जीवो से महान् मानें । अधिकाधिक बंधन और दु ख ही विशेष बुद्धि का परिणाम है । तो फिर, ऐसी विशेष बुद्धि से वह कौन-सी महत्ता मनुष्य को मिल जाती है जो दूसरे प्राणियों में नही होती, इसमे जरा भी शका नही है कि शरीर मे आत्मबुद्धि की स्थापना करके उसमें बद्ध तथा आसक्त होकर, अधिकाधिक विषयो का उपार्जन करके भोग करने में उतावले मनुष्यो की विशेष बुद्धि ही उनके लिए अधिक बधन और अधिक दुःख का कारण बनती है । लेकिन यदि किसी का यह तर्क है कि विशेष बुद्धि से युक्त मनुष्य दूसरे जीवो की अपेक्षा ऐहिक जीवन को अधिक सुखपूर्वक बिता सकता है तो उनको चाहिए कि वे 'शोपनहोर' नामक एक महान् चिन्तक की इस बात पर गौर से विचार करें । वे यो कहते हैं —

"जानवर आदि जतुओ को वर्तमान काल को छोड भूत-भविष्य की कोई चिंता या डर नही लगता । इसलिए वर्तमान में जो कुछ मिल जाता है, वे उसे व्यग्रता छोड़कर शाति मे भोग लेते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि इस बात में जानवर मनुष्यों से भी पक्वबुद्धि है । यह लज्जा के साथ मानना पड़ता है कि प्रकृति के कारण उन्हें जो मानसिक शाति मिल जाती है वह अक्सर नाना प्रकार की चिंताओ और भीतियों से सुख-चैन खोकर व्यग्र रहने वाले हम मानवों को नहीं मिलती ।"

वे ही, और कही, मनुष्यो की इच्छाशक्ति का विवरण इस प्रकार देते है :—

"यह कहना कठिन है कि मनुष्य कितना असंतृप्त जीव है । एक विषय के लाभ में उसे कोई तृप्ति मिल जाती है तो उस तृप्ति मे मन विराम नही पाता, वरन् कई नई इच्छाएँ फिर से उठ खडी होती हैं—उलटे उसकी इच्छाओ का कोई अत नहीं दीखता ।"

यही दशा उन मनुष्यो की है जो अपने मे विशेष बुद्धि से संपन्न तथा विद्या-विचक्षण होने का अभिमान रखते हैं । यदि मनुष्य बुद्धि के कारण किसी विशेष सुख का अनुभव करते है तो मानसिक दु.खो का विचार करने पर वह निस्सार सिद्ध होता है । किंतु इसका मतलब यह नही समझना चाहिए कि महा-सुकृत-फल के रूप मे शास्त्र जिसकी घोषणा करते हैं वह मानव-शरीर

एवं उसमें स्थित विशेष-बुद्धि सर्वथा अनर्थ के ही कारण हैं। हमें इस विशेष बुद्धि से इस संसार में महत्तम कार्यों को सिद्ध करना है। बंधनों की माया को नष्ट कर परमार्थ परमात्म-वस्तु को प्राप्त करने का मुख्य साधन है—विशेष बुद्धि। इसमें संदेह नहीं कि ऐसी बुद्धि से युक्त मनुष्य-जीवन धन्य है। कहने का मतलब यह है कि यदि माया का तिरस्कार करने के बदले उसमें लीन रह-कर अधिकाधिक विषयों को पाने और उसके द्वारा बंधन तथा दु:ख को बढ़ाने में ही उस विशिष्ट बुद्धि का विनियोग किया जाता है तो दूसरे जीवों की तुलना में मनुष्य जाति की विलक्षणता अकिंचित् है। वस्तुतः माया को जीत लेना ही मानव-जीवन की मुख्य प्राप्य-वस्तु है।

इस प्रकार की प्रचंड-प्रतापशालिनी महामाया को जीत लेने के वास्ते माया-नियामक करुणानिधि परमेश्वर की शरण में आये बिना और कोई रास्ता नहीं है। साक्षात् परमेश्वर, कामदहन और तपोमूर्त्ति श्री विश्वनाथ जहाँ विद्यमान हैं, वहाँ माया का प्रवेश नहीं होता। अतः श्री काशी में श्रीविश्व-नाथ के चरणारविन्दों के आश्रय में रहनेवाले महात्मा लोग महामाया को जीतते हुए ही विराजमान हैं। भगवान् के पादों पर दत्तचित्त उन लोगों के पास माया फटकने भी नहीं पाती। कामिनी व कांचन सपने में भी उनको छू नहीं सकते। नाम-यश की भ्रांति तक उनके पास नहीं पहुँच सकती। राग-द्वेषों से भरा और नाना प्रकार की मोहन-वस्तुओं से भारान्वित एक जगत् शश-विषाण के समान उन के सामने शून्य होता है। दुःख में सुख, अनात्मा में आत्मा आदि का भ्रम, उसमें से उत्पन्न आशापाश अथवा मानसिक दुर्बलता—ये सब विश्वनाथ-पुरी में घुस नहीं पाते। माया के जादू माया के तत्त्वों से अनभिज्ञ प्राकृत जनों को छोड़ महेश्वर के भक्तों पर प्रभाव नहीं डाल सकते। माया कितनी ही प्रचंड क्यों न हो, तो भी परमेश्वर-कृपा के वरायुध से युक्त पुरुष उसका सामना कर उसे जीत सकता है। सब शास्त्रों का सिद्धांत यह है कि माया-विजय के लिए ईश्वर की करुणा के सिवा और कोई हथियार नहीं है।

इस प्रकार जिस देश में, जिस देव के सामने, महामाया की मोहन-प्रवृत्तियों का प्रवेश नहीं होता, 'उत्तरकाशी' तथा 'सौम्य काशी' के नाम से मशहूर उस पुण्यक्षेत्र में विश्वनाथ की सन्निधि में मैं पहले पहले सन् १९२४ के अप्रैल महीने में गया था। हिमालय पर्वत मेघ-गर्जन का बाजा बजाते और वृष्टि की पुष्प-वर्षा करते हुए अपने घर में आये इस नवागत साधु का स्वागत कर रहा था। साधु-महात्मा सब कहीं आदर के पात्र हैं। नगर के बीच में हो, या

पहाड़ की चोटी पर —वे समान रूप से आदर पाते हैं। सन्यासी विष्णुस्वरूप हैं। पंडाल की तरह फैलकर नीचे लटकी काली घटाएँ तथा तोरणों की भाँति पहाड़ों की बगल में नीचे लटका इन्द्रधनुष इस साधु को अत्यन्त आनन्द देता था। हिमगिरि के हृदय में विराजमान उत्तरकाशी की एकान्त रमणीयता और नितान्त पवित्रता ने मेरे अंतरतम को बहुत ही आकर्षित कर दिया था। इस प्रकार साधु और भक्तरूप में हिमालय के द्वारा प्रेमपूर्वक स्वागत किये जाने पर, मैं यद्यपि उस बार अधिक समय तक वहाँ नहीं रहा, तो भी बाद में कई बार वहाँ जाकर अधिक दिनों तक ब्रह्मविचार में लीन ईश्वरीय जीवन बिताता रहा।[1] चित्त को सत्त्वगुणी बनाये सदा ईश्वर के ध्यान और उसके शास्त्र-विचार में निमग्न होकर अनन्य-चित्तता के साथ एक आनंदमय जीवन बिताने में इतनी अनुकूल तपो-भूमियाँ तुहिन-गिरि में सुलभ होती हैं। हिमगिरि का शिखर! भागीरथी का तट! विश्वनाथपुरी! महात्मा महर्षि-पुंगवों की विहारभूमि! बड़ा ही रमणीय निर्जन वन-प्रदेश! इनसे बढ़कर तत्त्वनिष्ठा के साथ एक सन्यासी-जीवन बिताने में भला और कौन-सी अनुकूलता अपेक्षित है?

विश्वेश्वर मंदिर से लगभग दो मील उत्तर की ओर जाने पर वहाँ विशाल तथा सुन्दर धान का खेत दिखायी पड़ता है। वहाँ से कुछ और ऊपर की ओर जाने पर काशी क्षेत्र की उत्तरी सीमा 'असी' नामक एक छोटी नदी तथा भागीरथी का संगम है। वहाँ से उत्तरी दिशा में वल्ली-गुल्मादियों से निबिड़, वृक्षराजियों से विराजित एवं निर्झराम्बु-निषिक्त कमनीय वनों से अलंकृत पर्वतों की तराइयाँ भी प्राप्त होती हैं। जब-जब मैं उत्तरकाशी में रहा, वहाँ के खेत और असी-किनारे का रमणीय वन चित्त-समाधि के साधन बन जाते थे। उन स्थानों पर बैठकर मैं चिंतन-सरणी में बहते हुए अलौकिक शांति का अनुभव किया करता था। चूँकि उत्तरकाशी में गंगातट की निम्न भूमि भी लगभग पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर है, इसलिए हिमालय के निम्न स्थानों के समान गर्मी में प्रचंड ताप या वर्षा में मलेरिया आदि का अनर्थ यहाँ नहीं होता।

---

1. इन लेखों के लिखने के बाद सन् १६३५ में उत्तर काशी में कुछ प्रेमी जनों के उत्साह से इस शरीर के लिए निवास-कुटी बनायी गयी, और सन् १६३६ से यह साधु अधिकतर वहीं रहा करता था। किंतु प्रतिवर्ष ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण और भाद्रपद महीनों में गंगोत्री में तथा किसी वर्ष माघ और फाल्गुन महीनों में हृषीकेश में जाकर रहा करता था।

वर्षा मे पहाड़ की तराइयों से नीचे की ओर उतरकर बहुत ही निकट चलनेवाले काले बादलों के समूह प्रतिदिन बरसते हुए मन को उन्मेष से भर देते हैं। यहाँ के जाड़े के बारे में तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाला है। बरसात के शुरू होने पर हिमपात के कारण धवल बन जानेवाली पर्वत-श्रेणियाँ तथा शीत की अधिकता से मनुष्यों का आवागमन ही नहीं, पक्षियों की आवाज़को भी रोकनेवाली गम्भीर प्रशांति कितना आनन्द व आश्चर्य पैदा कर देती है।

वारणावत पर्वत की चढ़ाई को बड़ा पुण्य मानकर पुराणों ने प्रशंसा की है कि उस पर एक कदम आगे बढ़ने से एक यज्ञ करने का फल मिल जाता है। 'बाराहट' नामक तराई के ग्राम से लगभग चार मील ऊपर की ओर चढ़ जाने पर हम वारणावत-गिरि के ऊँचे शिखर पर पहुँच जाते हैं। सौम्य काशी क्षेत्र के अन्तर्गत श्रीविश्वनाथ के मंदिर की स्थिति से अनुगृहीत एक सुन्दर ग्राम है 'बाराहट'। कठिन होने पर भी कभी-कभी तराई से ऊँची-चढ़ाई के उस गिरिशिखर की ओर चढ़ जाना मेरे लिए एक स्फूर्तिदायक तथा विनोदमय तपस्या-कर्म था। एक या डेढ़ घंटे तक पर्वतारोहण करने में कुछ कष्ट तो होता है, फिर भी गिरिकूट मे पहुँच जाने पर कितने ही पवित्र तथा सुन्दर दर्शन प्राप्त होते हैं। गिरिशिखर से हिमगिरि की मजुल और मनोहारी प्राकृतिक सुषमा को देखकर हम आनन्दपूर्ण हो उठते हैं। दक्षिण में हिन्दुस्तान के मैदान तक विशालता मे फैली हुई हरी-भरी पर्वत-पंक्तियाँ, उत्तर में शिलामय शैलराजियाँ तथा उसके ऊपर धवल हिम-कूट-राशियाँ, बहुत ही शोभाभरी और हृदयाकर्षक दिखायी देती हैं। वहाँ हमें हिमालय का घन-गंभीर-भाव भी दृग्गोचर होता है। नीचे नितान्त नीलिमा में जाह्नवी सर्वाकार निःशब्द शान्त भाव से बहती जा रही है। संक्षेप मे सिर्फ़ इतना ही कह देता हूँ कि वारणगिरि के आरोहणरूपी तपस्या के अनुष्ठान में परमेश्वर-प्रसाद के अदृष्टफल के अतिरिक्त प्रकृति-सुषमा का पीयूष इच्छानुसार पीकर आनन्दोन्मत्त होने का इष्ट फल यहीं प्राप्त होता है। उत्तरकाशी में पहली बार रहते हुए वहाँ के गोपालाश्रम के निवासी और 'गुरुवायूरप्पन'[1] तथा रमण महर्षि के भक्त एक केरलीय सन्यासिवर्य से प्रेरणा पाकर मैंने 'श्रीगुरुपवनपुराधीशपंचकम्' नामक जो रचना वहाँ की थी, उसे यहाँ प्रस्तुत कर इस अध्याय-खण्ड का

१. 'गुरुपवनपुराधीश' मलयालम में 'गुरुवायूरप्पन' कहलाते हैं।

उपसंहार कर रहा हूँ—

१. गोपीगोकुलमालपत्सुमुरली मन्दस्वरैर्हर्षयन्,
गोपीमंडलमध्यगः स्मितमुखो माधुर्यवीशाङ्कुरः।
गोपालश्चिकुरोल्लसच्छिखिशिखण्डाऽस्रखण्डदीप्तिश्चिरम्,
गोपालाश्रमविश्रमी विजयतां विश्वैकमुग्धाकृतिः॥

२. काशी कुञ्जवती परन्न भवतो भूपद्विषो भूरियं,
यत्रास्ते खलु शंकरस्तव पदाम्भोजैकभक्तः स्वयम्।
त्वत्पादाम्बुजसंभवा पुलिनवत्त्येषा हि सा जाह्नवी,
वृन्दायामिव राधिकेश! रमतामत्रैव गोपीजनः॥

३. शुद्धं बुद्धमबुद्धिगम्यममलं यद्ब्रह्म वेदान्तिनाम्,
तत्त्वं कृष्ण! किशोरविग्रह! विभो तत्त्वं न किञ्चित् परम्।
राधावल्लभ! रामराष्ट्रविलसद्धतेशमूर्तिर्भवा—
न्नेहेऽन्यं पुरुषार्थमात्मनि सदा संक्रीडमानोऽस्खलम्॥

४. विश्राणोऽनरणं शरीरमरुणं स्थित्वापि तं भासयम्,
लोकानां गुररप्यगौरतरैः क्रीडैश्च बालकर्मैः।
सच्च त्यच्च हि यस्य रूपमपि च प्रच्छेदि दुश्चैनमाम्,
शीलः श्रीरमणः श्रीवामरतत कृष्णस्य पुष्यातु नः॥

५ भट्टश्रीरथ विल्वमंगलयतिः प्रख्यातभक्ताग्रणी,
रूपं यस्य विलोक्य नेत्रयुगयोः साफल्यमासेदतुः।
तद् रूप तव दिव्यदिव्यमनिलाधीश! प्रभो! कृष्ण! मे,
साक्षादक्षिपथं गमिष्यति कदा चित्तं च वर्धिष्यते॥

: ३ :

हृषीकेश से मैं ज्यादातर उत्तरकाशी के लिए प्रस्थान किया करता था। हृषीकेश से सौम्यकाशी की ओर के उस अतिधन्य और अधिक रमणीय हिमालय मार्ग को देखकर यदि पाठक खुश होना चाहते हैं तो लीजिए, उधर की ओर प्रस्थान करके मेरे पीछे-पीछे चलते आइये। बम्बई, पैरिस, लदन आदि नगरों

की प्रासाद-पंक्तियों से परिवेष्टित, बहुत से आडम्बरों से संकुल, वसतरुवरों से मुखरित और बिजली दीप मालाओं से देदीप्यमान राजमार्गों में भी जो सुख नहीं मिलता, वह सुख इन हिमगिरि-सरणियों में मिलता है। इन पर चलने के लिए सभी पाठक उम्मेद के साथ मेरे पीछे आएंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

हृषीकेश से सौम्यकाशी की ओर मुख्यतः तीन मार्ग हैं। उनमें सबसे सरल तथा मेरे लिए सबसे अधिक परिचित मार्ग से हम यात्रा करेंगे। हृषीकेश-भूमि से पश्चिमोत्तरी दिशा में जानेवाले रास्ते से कुछ ऊपर की ओर चढ़ते जाएँ तो झिल्ली-झंकारनाद से निनादित गम्भीर वन का आरम्भ होता है। वनान्तर में प्रविष्ट होकर एक-दो मील समतल-भूमि पर चलने के बाद फिर ऊँचे पहाड़ आ जाते हैं और इसलिए चढ़ाई भी शुरू हो जाती है। पर पहाड़ों के पार्श्वभाग भी वनों से आच्छादित बने रहते हैं। विभिन्न भाँति की विटपियों, वल्लियों और गुल्मों से भरी-पूरी निबिड वनराजि का सौंदर्य व गाम्भीर्य न्यूनाधिक-भाव के बिना पर्वत के शिखर तक एक रूप से विराजमान है।

अहो, कितना रमणीय वन है! कृत्रिम सुन्दरता तो क्षणिक होती है, पर अकृत्रिम सुन्दरता अमर होती है। मानव-कर या मानव-बुद्धि से बिलकुल असम्बद्ध, ईश्वर के ही हाथों निर्मित सौंदर्य-सपत्ति ऐसे वनान्तरों को छोड़ और कहीं सपूर्ण रूप से प्रकट नहीं होती। सौंदर्यानुभूति का आनंद ही नहीं, बल्कि बहुमुखी ईश्वरीय लीलाओं के प्रत्यक्ष-वीक्षण का एक असाधारण सुख भी यहाँ भरा रहता है। सब प्रकार के लोक-व्यवहार यहाँ चित्रित-से दिखायी देते हैं। समाचार-पत्रों को पढ़े बिना ही यहाँ खड़े होकर चारों ओर देखनेवाले एक बुद्धिमान् की बुद्धि में ससार के सभी समाचार समा जाते हैं। लीजिए, मर्कटयूथ का नेता अनेक मर्कट-युवतियों के साथ विहार कर रहा है कि इतने में एक दूसरा बड़ा-सा बंदर इन मर्कटियों के पास पहुँच जाता है, और इनका प्रियतम उसके साथ महासग्राम करके वनान्तर को थर-थर कंपा देता है। देखिए, दूसरी ओर एक और समूह किसी खाद्य-वस्तु के लिए जर्मन-युद्ध को भी पीछे करते हुए भयानक लड़ाई में लगा है। आपस में दाँत दिखाते, साहस के साथ लड़ते, कुछ डरकर भागते और कुछ उनके पीछे दौड़ते कोलाहल मचा रहे हैं। अहो! कामिनी और कांचन सब कहीं कलह के ही कारण हैं। ये रक्तमुख मर्कट बड़े धूर्त होते हैं। लीजिए, इन कृष्णमुखों के समूह का निरीक्षण कीजिए। ये बड़े भक्त तथा शात होते हैं। दूर ऊँचे वृक्षों की

शाखाओं पर झगड़ा या अधिक चपलता किये बिना वे ईश्वर-चिंतकों के समान चुपचाप बैठे हैं।

लीजिए, अब दूसरी ओर देखिए। वन-कुक्कुट और वन-मयूर धीरे-धीरे चलते हुए जो भी अन्नकण मिल जाते है उन्हें इच्छानुसार चोंच मारकर चुग लेते हैं। 'यह नहीं', 'वह नहीं' की शिकायत किये बिना और दरिद्रता का स्वप्न में भी अनुभव किये बिना संतोष के साथ जीवन बितानेवाले ये बड़े ही सुकृती है। लेकिन दूसरी तरह के छोटे पक्षियों का एक समूह क्षुधा से पीड़ित हो, खाने की इच्छा में इस वन मे खाना पाये बिना, दूर देशों की ओर आकाश-मार्ग से शीघ्रता से उड़ता जा रहा है। दूसरे कुछ पक्षी खाद और वल्मीकों मे स्वेच्छापूर्वक आनंद करनेवाले कीड़े-मकोड़ों तथा पिपीलिकाओं को निगल जाने में लगे हैं। शिव! शिव! इनको इतना पता नहीं है कि ये इन छोटे-मोटे जीवों को खा जाते है तो इनसे बड़े जीव कभी इन्हे भी खा जाएगे—

"अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्,
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्।"

यह सर्वत्र प्रचलित ईश्वरीय मर्यादा की महिमा समझना कितना ही कठिन है। लीजिए, ये दूसरे कुछ विहग आहार-विहारों से विराम पाकर, ऊँचे वृक्षों की शाखाओ पर बैठे दीर्घ स्वर मे मधुर गान अलापते संतोष का अनुभव कर रहे हैं। वन में सर्वाधिपत्य जमाने वाले राजा कहाँ है? जान पड़ता है कि व्याघ्रादि जन्तु मानो यह समझकर अपने घरों में ही विलीन बैठे हैं कि अपना अधिकार जमाने का यह समय नही है, और इसीलिए वे बाहर आकर अपना प्रभाव प्रकट नही करते। इस प्रकार मनुष्य-समाज मे जो विषय-भोग, विषय नैमित्तिक कलह, सापत्तिक-दरिद्रता, जन्म-मरण, राजत्व-प्रजात्व, आदि व्यवहार दिखायी देते है, वही इस प्राणि-समाज मे भी अनवरत होते रहते है। ऐसे समाज में होनेवाली ऐसी बातें ही तो समाचार-पत्र सुनाते रहते है। प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षण करने मे जो पुरुष समर्थ है उसकी बुद्धि मे सारा ससार सभी चेष्टाओं के साथ उपस्थित हो जाता है; और यदि उपस्थित हो जाता है तो उसे परोक्ष लोक-वार्ताएं पढने की क्या आवश्यकता? प्रतिदिन तीन बार निकलनेवाला पत्र भी कोई नया समाचार नही लाता। जो है ही नही, वह होना भी नहीं है, और जो है उसके होने मे किसी नवीनता के लिए स्थान भी नही है। प्रकृति के रहस्य को, दूसरी बातों मे कहे तो ईश्वर की महिमा को जो नहीं जानता, उसके लिए तो सब नये और निराले हैं। पर प्रकृति-रहस्य को जाननेवाले के

लिए किसी में कोई नवीनता या आश्चर्य होता ही नहीं है। अच्छा अब प्रकृत विषय पर आएँ।

हृषीकेश से यो छः सात मील निविड़ वनान्तरों से ऊपर की ओर चढ़ते जाएँ तो 'नरेन्द्र नगर' नामक स्थान उपलब्ध होता है। यह 'टहरी' नामक स्थान इन हिमालय-प्रदेशों के राजा के गृष्मावास की एक रमणीय भूमि है। यहां से पर्वत-शिखरों से होकर टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता गर्भाकृति में पश्चिमोत्तरी दिशा में जा रहा है। नरेन्द्रनगर से बारह मील की दूरी पर स्थित 'कुंजीकोट' नामक प्रसिद्ध स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इस स्थान पर पर्वतों में चीते रहते हैं। यद्यपि मैं उस रास्ते से कभी-कभी अकेले यात्रा करता था, तथापि मुझे तो किसी चीते के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला है। हिमालय के पुण्यात्मा व्याघ्र कैसे पापात्माओं की नज़रों में आ सकते हैं? अथवा यह भी विचार मेरे मन में आता है कि शायद मेरे सुकृत-परिपाक से देवात्मा हिमालय ने शार्दूलों को लाकर मेरे सामने विघ्न उपस्थित न करने की कृपा की हो और इसलिए मुझे उनका दर्शन न मिला हो। पर्वत के प्रांत-भागों के वनों से होकर मार्ग फिर भी आगे ऊपर की ओर बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार वन-शैलों और शैल-नितंबों में इधर-उधर स्थित कई गाँवों को पार करके पच्चीस मील की यात्रा करने पर पवित्र-पावनी परम-देवता भागीरथी के दर्शन उपलब्ध होते हैं। हृषीकेश में बिछुड़ी हुई जाह्नवी माता यहां फिर भी अक्षि-पथों में प्रत्यक्ष होकर आशीर्वाद देती है। अहा! हिमालय के अन्दर निरव-निर्मल तथा नितान्त सुन्दर होकर प्रवाहित गंगा का केवल दर्शन ही कितना आनन्ददायक है। हे गंगे! हे देवी! हे जगज्जननी! तुम्हारी सुन्दरता तथा तुम्हारी महिमा का व्यास-प्रभृति महर्षि-पुंगवों ने ऊंची आवाज़ में जो गान किया है उसका रहस्य तुम्हारे पास आकर तुम्हारे चरण-कमलों की परिचर्या करनेवालों को छोड़ दूसरे जन कैसे जान सकते हैं?

गंगा के उस पार टहरी-नरेश की मुख्य राजधानी 'टहरी' नामक नगर स्थित है। नगर कहने से उसे बहुजन-समाकुल और बहुत ही परिष्कृत कोई महानगर नहीं समझना चाहिए। थोड़े-से लोगों, इने-गिने मकानों, थोड़े-से व्यापारों और व्यवहारों के साथ यह एक छोटा-सा प्रधाननगर है। वह आडंबर एवं अविस्तृत होने पर भी बड़ा ही रमणीय है। ऊँचे पर्वतों से आवृत भागीरथी गंगा तथा उसकी पोषक नदी 'भिल्लगंगा' गंगा के बीच, समुद्र की सतह से दो हजार दो सौ पचहत्तर फुट ऊँचाई पर स्थित यह पर्वतनगर प्रकृति-

शोभा के क्रीडा-स्थल के रूप मे विराजित है । उत्तरकाशी की ओर यात्रा करनेवालो को गगा पार कर टहरी नगर मे प्रवेश करने की आवश्यकता नही होती, तो भी मैं केवल कौतूहलवश वहाँ जाकर रहा था ।

प्रख्यात स्वामी रामतीर्थजी ने अमेरिका की यात्रा से लौटकर इसी टहरी नगर मे अपने अन्तिम दिन व्यतीत किये थे। भिल्लगणा नदी के किनारे एक कुटीर में वह रहा करते थे और इसी नदी मे उन्होने अपने शरीर का परित्याग किया था । इस मार्ग से आने-जाते इस प्रदेश मे पहुँच जाने पर स्वामी रामतीर्थजी और उनके शोचनीय अत के बारे मे विषाद की कुछ तरगें मेरे अन्त करण मे उठा करती है । *अग्रेजी में लिखी उनकी एक जीवनी के द्वारा केरल में रहते* हुए भी वे मेरे लिए सुपरिचित थे । फिर भी उनके सन्यास-जीवन आदि का इतिहास सच्चे और विशद रूप मे समझने का अवसर मुझे यही मिल सका था ।

टहरी नगर मे आदि बदरीनाथ का एक मुख्य और मनोहारी मदिर स्थित है । बदरीनाथ टहरी (गढवाल) के राजाओ की परपरागत उपासना का कुल-देवता है । कहा जाता है कि इस राजवश के कुछ प्राचीन राजाओ की पुकार पर बदरीनाथ प्रत्यक्ष हो जाया करते थे ।

लीजिए, यहाँ से सीधे पश्चिमोत्तरी दिशा मे गगा-किनारे से होकर पथ ऊपर की ओर जा रहा है । यहाँ से पैंतालीस मील की दूरी पर उत्तरकाशी स्थित है । शरीर स्वस्थ होने पर मैं यहाँ से दो दिनों मे सौम्यकाशी पहुँच जाया करता हूँ । सर्वज्ञ परमेश्वर ने पहले ही यह जानकर मुझे कृश शरीर और लबे पैर दिये होगे कि मुझे एक साधु के रूप मे हिमगिरि पर पैदल ही परिव्रजन करना पड़ेगा, कभी-कभी यह सोचकर मैं उस दयानिधि की मन-ही-मन वन्दना करता हूँ । ईश्वर की कृपा की कोई सीमा नही होती । 'मुख्य तस्य हि कारुण्यम्'—ऐसा भक्ति-सूत्रकार का कहना है । ईश्वर की करुणा ही करुणा है, अर्थात् ईश्वर निरपेक्ष करुणा का सागर है । उनकी कृपा मे श्रद्धा न रखनेवाले दु खी होते है । भगवान् की कृपा मे श्रद्धा रखनेवाले के लिए दु ख का कौन-सा कारण हो सकता है ? सभी दशाओं मे आनद ही आनंद है— इसे छोड और कोई भावना उनमे हो ही नही सकती । सूत्रों का तात्पर्य है कि इस ससार में उत्कृष्ट *लाभों की उपलब्धि मे ईश्वर-करुणा ही मुख्य साधन है,* दूसरे सब पुरुषार्थ गौण है ।

टहरी से एक विशाल मैदान से होकर रास्ता ऊपर जाता है । वैशाख

का महीना होने से गेहूँ की फसल काटकर श्यामाक आदि अनाज बोये गये हैं। अधिक वृक्षों के अभाव में चारों ओर ऊँचाई पर उठी हुई इन नग्न पर्वत-राशियों, उनके पार्श्व-भागों में इधर-उधर पास-पास स्थित ग्राम-पंक्तियों तथा केदारराजियों का दृश्य इस मैदान के बीच से चलनेवाले एक रमज्ञ के मन को अधिकाधिक आकृष्ट करता रहता है। लीजिए, इस विशाल मैदान को पार करने पर, अर्थात् टहरी से चार मील पश्चिम की ओर, 'मादयुन' नामक गाँव दिखायी देता है। यहाँ स्वामी रामतीर्थ जी कुछ काल तक रहे थे।

यहाँ से गंगा के दर्शन करते हुए पर्वत-प्रांतों से फिर आगे की ओर बढ़िए। कई पहाड़ों और जहाँ-तहाँ कई गाँवों को पार करते हुए सत्ताईस मील आगे जाने पर वहाँ 'धरासु' नामक एक स्थान आ जाता है। यहाँ से जम्नोत्री की ओर एक मार्ग तथा उत्तरकाशी से होकर गंगोत्री के लिए दूसरा मार्ग निकलता है। धरासु से पर्वत-नितम्बों से होकर भागीरथी के किनारे-किनारे नौ मील ऊपर की ओर यात्रा करने पर 'डूण्डा' नामक एक पवित्र स्थान पर पहुँच जाते हैं। इस प्रदेश के पौराणिक नाम का निर्णय करना अब असंभव है, तो भी यह अनुमान किया जा सकता है कि पुरातन काल में यह ऋषियों के विहार से पवित्र एक तपोवन था। क्योंकि यहाँ से दो मील की दूरी पर 'उद्दालक' का आश्रम-स्थान दिखायी देता है। उद्दालक श्वेतकेतु के पिता, ब्रह्म-विद्योपदेष्टा तथा छन्दोग्योपनिषद् के एक प्रसिद्ध ऋषि-पुंगव थे। उद्दालक महर्षि तथा उनकी शिष्य-मंडली के पाद-पांसुओं से पवित्र इस प्रदेश में पहुँच जाने पर मेरा मन कई उत्कृष्ट भावनाओं में निमग्न हो जाता था। कभी-कभी तो मैं भक्ति और आदर से पुलकित शरीर के साथ अत्यधिक कृतार्थ होकर उस आश्रम-भूमि की ओर देखते हुए आत्मविस्मृत हो मार्ग में चिरकाल तक बैठा ही रह जाता था।

इस स्थान को पार कर फिर चार मील आगे की ओर चले जाएँ तो वहाँ कुछ दूरी पर गंगा-जमुना नदियों के मध्यवर्ती एक पर्वत-शिखर पर एक अति सुन्दर आश्रम दिखायी देता है, जहाँ रेणुका देवी के साथ जमदग्नि महर्षि विराजमान थे। यहाँ से पुनः एक मील आगे बढ़ें तो वहाँ गंगातट पर कपिल मुनि का आश्रम नजर आता है। सांख्यशास्त्र-कर्ता कपिल-भगवान् के स्थान हरिद्वार तथा गंगासागर में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यों हिमालय-शिखरों पर तथा निम्न देशों पर इधर-उधर कई ऋषि-पुंगवों के भिन्न-भिन्न स्थान दिखायी पड़ते हैं। चूँकि एक ही ऋषि के जहाँ-तहाँ भिन्न-भिन्न स्थान दिखायी

देते हैं, इसलिए श्रद्धा न रखनेवाले लोगों का यह आक्षेप है कि वे सब केवल श्रद्धालु लोगों की कल्पना-मात्र हैं, पर ऐसा कहना ठीक नहीं है। अनेक ऐसे स्थान कल्पित भी हो सकते हैं, किन्तु ऐसा विश्वास करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि एक ही ऋषि हिमालय में जहाँ-तहाँ रमणीय स्थानों पर जब-तब तपश्चर्या का अनुष्ठान करते हुए रहा करते थे।

कपिलाश्रम से एक मील से ज्यादा फिर ऊपर चढ जाने पर वहाँ उत्तरकाशी की पश्चिमी सीमा पर वरुण नामक तीर्थनदी एक बड़ी जल-धारा के रूप में उत्तर से दक्षिण की ओर बह रही है। फिर यहाँ से ऊपर की ओर एकांत रमणीय एवं पवित्र सौम्यकाशी का आरंभ होता है। लता-गुल्मादि के निकुञ्जों तथा तरुराजियों की मंजुलता में भरे गिरि-शिखरों, और चावल, गेहूँ आदि के खेतों से भरे गिरि-नितंबों के बीच के मार्ग में होकर धीरे-धीरे तीन मील आगे बढ़िए। लीजिए, दाईं ओर विशाल पुलिन-राशियों तथा गोलाकार पाषाण-समूहों के बीचों-बीच भागीरथी द्रुतगति से बहती चली जा रही है। वह देखिए, सामने अति पुरातन देवदारु-तरुओं से आवृत श्रीविश्वनाथ का मंदिर वारणावत पर्वत की तराई के मैदान के बीच में विराजमान है। यह मन्दिर श्रद्धालुओं की आँखों में अश्रु और शरीर में पुलक उत्पन्न करता है। उधर उसके पास ही उत्तरकाशी के अधिष्ठाता जमदग्नि-पुत्र परशुराम का मंदिर शोभायमान है।

: ४ :

उत्तरकाशी से लगभग तीस मील उत्तर की ओर गंगोत्री और जम्नोत्री के बीच बहुत ऊँचे श्वेत पर्वतों से आवृत दस हजार फुट की ऊँचाई पर 'डुण्डी सरोवर' नामक एक झील है। 'डुण्डी ताल' के नाम से प्रसिद्ध यह सरोवर प्रकृति विलास का केलि-स्थान है, और अति पवित्र और मुख्य तीर्थ-स्थान है। पर कोई तीर्थ-यात्री उसे जानता नहीं; उधर जाता भी नहीं। कारण यह कि वहाँ जाने के लिए लोगों के आवागमन का अच्छा मार्ग नहीं है। पहाड़ी लोग पचासों या सैंकड़ों की संख्या में मिलकर दो-तीन सालों में एकबार अपने देवता के साथ उसे स्नान कराने के लिए वहाँ जाते हैं। इसके सिवाय और कोई व्यक्ति उस ओर यात्रा नहीं करता। यद्यपि उस सरोवर का भ्रमण बहुत ही विकट और साधारण मनुष्य के लिए असाध्य है, और वहाँ तक पहुँचने में

भयानक वनों को पार करना पड़ता है । किन्तु मैं तो प्रकृति-सौंदर्य का प्रेमी हूँ। इसलिए सब कुछ ईश्वर के सामने समर्पित कर निश्चित एवं निर्भय होकर उस सरोवर में जाकर स्नान करने की इच्छा से निकल पड़ा ।

सन् १९२८ के अक्टूबर महीने में उत्तरकाशी से मैं इस वन-विहार के लिए तैयार होकर निकला था। उत्तरकाशी से दूसरे चार-पाँच साधु भी इस सैर के लिए तैयार हुए और हम सब रवाना होकर पहले दिन दस मील की दूरी पर 'मजोली' नामक एक गाँव के देव-मंदिर में रहे। सरोवर की ओर सैर करने की इच्छा से इस तरह निकल पड़ना ही इस गाँव के कुछ भक्त-जनों की प्रार्थना तथा प्रेरणा से हुआ था। सरोवर का पूरा पता भी मुझे उनके द्वारा ही मिला था। इसलिए उस गाँव के चार मुखिया लोग वहाँ से ऊपर की यात्रा में सहायता देने के लिए हमारे सहचारी होकर साथ आये। परन्तु गाँव के कुछ बुजुर्गों और औरतों ने सलाह दी थी कि हमें ऊपर नहीं ले जाना चाहिए। सरोवर देवों का निवास-स्थान है, बड़ा ही गोपनीय है। इसलिए वहाँ मनुष्य नहीं जा सकते। यदि कोई साहस के साथ वहाँ जाता है तो वहाँ मल-मूत्र-विसर्जन, खाना-पकाना और नींद लेना आदि उनके अशुद्ध कर्मों के कारण वह देवभूमि अपवित्र हो जाती है। ऐसी अशुद्धि को दूर करने के लिए उनके रहने के दूसरे दिन अवश्य ही भयानक वृष्टि होती है। वृष्टि में पत्थर बरसते हैं और समीपवर्ती नीचे के सभी गाँवों की सारी फसलें विनष्ट हो जाती हैं । ये ही वहाँ के पर्वतीय लोगों का प्रबल तर्क था। ऐसे ही लोगों ने इस विश्वास पर हमारे प्रस्थान को रोकने का प्रयत्न किया था कि हमें लेकर ऊपर जाने से वृष्टि अवश्य होगी और उपलों के निपात से पके हुए सारे अनाज नष्ट हो जाने से हमारा गाँव गरीबी में डूब जाएगा।

लेकिन हमारे पक्ष का समर्थन करने वाले साहसी लोगों का भी एक दल उस गाँव में था। उनका तर्क था कि महात्मा लोग ही सरोवर में स्नान करने जाते हैं । महात्माओं पर देवों की कोई अप्रीति नहीं हो सकती, और महात्माओं की महिमा तथा तपोबल से ग्राम की उन्नति होती है। इनकी यात्रा में सहायता पहुँचाना ग्राम के लिए अमंगल नहीं हो सकता। जो भी हो, हम महात्माओं की महिमा तथा सिद्धि पर उन परिजनों में भी श्रद्धा जमाकर, किसी प्रकार उनकी भी पूर्ण सम्मति लेकर, उपर्युक्त चार व्यक्ति हमारे मार्ग-दर्शक बनकर चले थे। यात्रा में कोई अमंगल न हो, इसके लिए उनके ग्राम-देवताओं से उन्होंने और हमने हृदयपूर्वक प्रार्थना की और इसके बाद हम वहाँ से रवाना हुए । विषम

परिस्थितियों में ईश्वर ही सब की गति है। किसी विषमता में पड़ जाने पर लोग ईश्वर का जितनी मुद्दता, दृढ़ता और अनन्यचिन्तता के साथ स्मरण और प्रार्थना करते है उतनी ही दृढ़ता के साथ साधारण काल में भी यदि स्मरण किया जाता है तो वे ईश्वर-सायुज्य के योग्य बन जाते हैं।

पर्वतीय जनता की अपने ग्राम देवता में श्रद्धा और भक्ति अनन्य साधारण तथा अत्यन्त दृढ़ है। किन्तु उनकी यह श्रद्धा भक्ति कामनाओं से परिपूर्ण है। विचार-शक्ति और विद्याधन से हीन इन पहाड़ी लोगों ने यह सपने में भी नहीं जाना है कि निष्काम प्रेम कौन-सा है? सम्पत्ति पाने तथा विपत्ति को दूर करने के वास्ते वे देवताओं के सामने प्रार्थना करते और रोते दिखायी देते हैं। इस प्रकार ग्राम-देवता और कुल-देवता में असीम श्रद्धा तथा भक्ति केवल हिमालय में नहीं हिमवत्-सेतु-पर्यन्त भारतवर्ष में किसी न किसी तरह थोड़ी-बहुत सर्वत्र फैली दिखायी देती है। लेकिन अंतर केवल इतना है कि मैदानी प्रदेशों में नवीन परिष्कृति के साथ-साथ उनकी जैसी क्षति होती दिखायी देती है, वैसी हिमालय में उनकी क्षति नहीं हुई है। शास्त्र-ज्ञान से होनेवाली विचार-शक्ति से न सही, केवल परम्परागत संस्कृति के कारण ही सही, तो भी देवता में ऐसी दृढ़ श्रद्धा-भक्ति का होना प्रशंसनीय ही है। क्योंकि ईश्वर ही सर्व-नियंता है; ईश्वर ही सर्व फलों का देनेवाला है, ईश्वर की सहायता के बिना हमारे लिए खाना-सोना भी असंभव है। ईश्वर की आज्ञा से ही बादल बरसते हैं। ईश्वर की आज्ञा पाकर ही नदियाँ बहती है। ईश्वर की आज्ञा से ही पेड़-पौधों पर फल लगते हैं। ईश्वर की आज्ञा से ही एक मानव सुख भोगता है तो दूसरा दुःखी होता है। इस स्थिति में अपने देवता को ईश्वरीय रूप में देखनेवाले पहाड़ी लोग उस देवता में सर्वशक्ति और सर्व-नियंतृत्व की कल्पना करें तो वह शास्त्र-विहित ही है।

उस गाँव से निकलकर, चूँकि तीन चार मील तक खुला मार्ग है, इसलिए यहाँ तक चलकर हमने यहाँ वनांतर में ही विश्राम किया। अब यहाँ से ऊपर का मार्ग बड़े संकट और विषमता का है। देहाभिमान को छोड़े हुए ज्ञानी या धीरवर व्यक्तियों को छोड़कर अथवा फिर भूत-भावियों की चिंता न करनेवाले पशु-समान मनुष्यों को छोड़कर और कोई व्यक्ति यहाँ से ऊपर चढ़ने का साहस नहीं करेगा। हम इनमें से चाहे किसी भी वर्ग के भले हों या न हों, पर हम सुबह ही यहाँ से उठकर उत्साह के साथ चल पड़े। अब यहाँ से छः सात मील कठिन चढ़ाई के पहाड़ पर चढ़ते जाना है। रास्ता

है ही नहीं। चारों ओर पौधों-लताओं और वृक्षों-वनस्पतियों से भरा-पूरा घना अंधकारमय गभीर वन है। हमारे सहचारियों में पहले इस रास्ते पर चलने वाला एक धीरप्रकृति का व्यक्ति हाथ में आयुध ले कर, जहाँ तक हो सके, पौधों, झाड़ियों तथा वृक्षशाखाओं को काटते हुए हमारे आगे-आगे चला। हम तो अपने पैरों के आगे ही दृष्टि तथा चित्त को एकाग्र करते हुए बड़ी सावधानी के साथ उन का पीछा करते गये। विषैले पौधों से टकराकर हमारे पैर सूजते गये। कँटीले पौधों से लगकर पैरों से रक्त बहने लगा। हमारे कपड़ों में एक तरह के कँटीले पत्ते और बीज लग जाते। इस प्रकार वृक्ष-शाखाओं को पकड़कर बैठते-चलते, भुकते-सरकते तथा ककड़ों, काटों से होकर चलते चलते हम ग्यारह बजे के पहले पर्वत-शिखर पर पहुँच गये। विषैली हवा के लगने से एक महात्मा का सिर चकराया और वह गिर पड़े। अतः उन की शुश्रूषा में कुछ समय बिताना पड़ा।

बारह बजे खाना पका कर खाया और फिर यात्रा शुरू की। वहीं शैल-शिखर पर एक विशाल तथा वृक्षादि से रहित थोड़ा सा खुला एक मैदान मिला। छोटे-छोटे पौधों में तरह-तरह के रंग-बिरंगे खिले हुए फूलों से भरा मैदान कितना ही रमणीय था! बीस हज़ार फुट से अधिक ऊँची 'वानरपुच्छ' और 'श्रीकंठ' नामक हिमालय की दो मशहूर चोटियाँ कभी न पिघलनेवाली हिम-संहिता के साथ धवल-धवल सी यहीं पास ही पूर्वोत्तरी दिशा में दिखायी देती हैं। इन हिमच्छादित पर्वत-शृंगों के सौन्दर्य का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ?

प्रकृति-सौंदर्य क्या है? ब्रह्म सौंदर्य ही प्रकृति-सौंदर्य है। ब्रह्म की सुन्दरता को छोड़ प्रकृति की कोई अलग सुन्दरता नहीं होती। जैसे पुरुष से उसकी शक्ति भिन्न नहीं है, वैसे ब्रह्म से ब्रह्म-शक्ति—प्रकृति—भी भिन्न नहीं है, अतः प्रकृति का विलास ब्रह्म का विलास है। प्रकृति का सौंदर्य ब्रह्म का सौंदर्य है। यदि प्रकृति में कोई सामर्थ्य है तो वह ब्रह्म की सामर्थ्य है। ब्रह्म-प्रकृति के तत्वों का साक्षात्कार करनेवाला एक ज्ञानी प्रकृति और प्रकृति-विलास सब को ब्रह्म रूप में देखता है। हिमाच्छादित शैल शृंग तथा वन-राजि यह सब उसके लिए निरतिशय सौंदर्यशाली ब्रह्म ही है। ब्रह्म! ब्रह्म!! ब्रह्म!!! ब्रह्मवित् के लिए—जहाँ जाओ, जिसे देखो—ब्रह्म को छोड़कर और कुछ नहीं है। ब्रह्म ही विभिन्न नाम-रूपों में दिखायी देता है।

जैसा कि पहले वर्णन किया गया है, वैसा ही अति विकट स्थल फिर

हमारे सामने आ गया। यह स्थल यम-राजधानी के राजपथ के समान भयानक था। वर्षा को बीते अभी अधिक दिन न हुए थे। अतः इतना घना अन्धकार था कि पास यदि कोई हाथी भी खड़ा हो तो वह न दिखाई पड़े। ऐसे घने-घने घोर वनांतरों से, पर्वतीय लोगों द्वारा आगे बढ़ते हुए बनाये जाने वाले मार्गों से होकर, कई चढ़ाइयों-उतराइयों को पार करके हम शाम के पाँच बजे से पहले सरोवर के किनारे पहुँच गये।

'मोनाल' नामक एक तरह के विचित्र विहगमो ने, जो लाल मुर्गों के समान थे, अपने निवास-स्थान पाषाण-छिद्रों से बाहर निकल कर हमारे सामने आकाश मे उड़ते हुए मानो अपने अतिथियों का अभिवादन-पूर्वक स्वागत किया। बहुत ही उन्नत तथा शीतल वनांतरों मे पाया जाने वाला यह विचित्र जीव है—मोनाल पक्षी। गहरे रंगीले परों से निबिड रूप से ढके शरीर के साथ ये पक्षी कितने रमणीय लगते हैं। मोर और मोनाल अत्यन्त मनोहारी परों से युक्त हिमालय के दो विशिष्ट विहगम हैं। इतिहासकारों का कहना है कि सिकन्दर मयूरों की सुन्दरता पर मुग्ध होकर हिमालय-प्रांतों से मयूरों को पकड़कर ग्रीस ले गये थे। लेकिन मोनाल की मोहक रूप-सुन्दरता देखने का सौभाग्य यदि उन्हें मिलता तो उन का चित्त कितनी उत्कंठा से भर जाता? उच्च देशों मे मोनाल और निम्न देशों में मयूर इस गिरिराज के सचमुच अमूल्य आभूषण हैं। हिमालय मे यदि पन्द्रह सौ फुट के ऊपर मोर नहीं दिखायी देते, तो सात हज़ार फुट के नीचे मोनाल भी नहीं दिखायी पड़ते। कहा जाता है कि शिकारी लोग पंखों तथा माँस के लिए मोनालों को गोली चलाकर मार डालते हैं। अपने इस मार्ग में इधर-उधर कई स्थानों पर हमने इन अलौकिक खगों को देखा था। सरोवर के किना विकसित मुख के साथ इन मित्रों ने सपत्नीक हमारा स्वागत किया था। इस पर मुझे असीम आनद हुआ। किन्तु इस घोर विपिन में कस्तूरी-मृग और व्याघ्र-भल्लूकादियों ने दर्शन देकर हमारा स्वागत क्यों नहीं किया था? मेरा अनुमान है कि नव वधु के समान कस्तूरी-मृग की लजीली तथा विनम्र प्रकृति ही इसकी उत्तरदायी है। वह लाज के मारे हमारे सामने नहीं आ सके। और उधर अदम्य वीर्य-पराक्रम के कारण किसी के सामने सिर न झुकाने वाले एक छत्राधिपति नृप के समान सारे वन पर शासन करनेवाले व्याघ्र की। दर्पपूर्ण प्रकृति भी उत्तरदायी है। वह अहंकार के कारण हमारा स्वागत करने न आया होगा। फिर भी जिसके दर्शन की अभिलाषा में इतनी कष्ट-

दायक यात्रा हम ने की थी, उस महामहिमाशालिनी सरोदेवी ने गंभीरता की मूर्ति होकर भी मधुर मुस्कान के साथ हमारा स्वागत किया। इस पर अतीव कृतार्थ होकर भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए हम उस देवी के निकट जा बैठे।

सायंकाल हुआ। सूर्य भगवान् की अरुण-किरणों के फैल जाने से दिशाएँ अरुणिमा से भर गयी थीं। सरोवर का स्वच्छ जल भी प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर अरुणिम होकर दिव्य सुषमा-संपत्ति के साथ शोभायमान था। चूँकि शीत असहनीय था, इसलिये पर्वतीय लोग लकड़ियाँ इकट्ठी करके सारी रात आग जलाते रहे। रात के समय न जाने वहाँ विपिन के बीच से कैसी विलक्षण तथा दिव्य ध्वनियाँ सुनायी दे रही थीं।

प्रभात हुआ। मैं उस पर्वतीय नेता के साथ उस दिव्य सरोवर की परिक्रमा करने निकला। महादुर्घट और विकट घाटियों से घने वन के बीच झुककर सरकते हम दोनों परिक्रमा करने लगे। उन पहाड़ी लोगों ने परिक्रमा के बीच मुझे ऐसे कई विषैले पौधे जिन के पुष्पों की गंध से ही मनुष्य मूर्छित होकर गिर पड़ेंगे, दिखाये। इतना ही नहीं, उस सरोवर के विषय में कई आश्चर्य-जनक इतिहास भी वे मुझे सुनाते रहे। मेरा मन सरोवर की महिमा सुनते-सुनते भक्ति तथा आदर से संभृत होता गया। पौन घंटे में हम उस छोटे सर की परिक्रमा कर चुके, जिसका घेरा सिर्फ चार-पाँच फर्लांग था। भागीरथी की पोषक नदी तथा उत्तरकाशी की उत्तरावधिभूत 'असी' नदी, देखिए, इस सरोवर से एक छोटी जल-धारा के रूप में निकलकर धीरे-धीरे प्रवाहित हो रही है। पहाड़ी ब्राह्मण को पुरोहित बनाकर हम सबने सरोवर में स्नान, पूजा, भजन आदि धार्मिक क्रियाएँ यथाविधि सम्पन्न कीं। मुझे ऐसा लगा कि जैसे पर्वतीय लोगों ने गाँव में हमें बताया था, यही यह देवों तथा ऋषियों की निवासभूमि है, और यह स्थान इतना निगूढ़ एवं दिव्य है कि मनुष्यों के लिए गतव्य नहीं हो सकता। दिव्य दिव्य ही रहेगा। मुझे ऐसा भी मालूम हो रहा था कि मेरा मन मुझे उपदेश दे रहा है कि मानुषी संसार से ज़रा भी सम्बन्ध न रखनेवाले किसी दिव्य लोक में खड़ा मैं यह स्नान-भजनादि कर रहा हूँ। अहा! कौन जाने, मनुष्यों की विचार-सरणी से अलग कितने ही निगूढ़ तत्त्व इस प्रदेश में अंतर्लीन हुए पड़े हैं?

ज़रा खा-पीकर हम वहाँ से लौट पड़े। यद्यपि एक-दो दिन और वहाँ रहने की मेरी इच्छा थी, तो भी शीत की अधिकता तथा हिमपात के आरंभ का समय हो जाने के कारण वह अभिलाषा पूरी किये बिना, उदास मन के

साथ मैं उस सरोवर का किनारा छोड़ चला आया था। एक घंटे का समय बीत गया था। हम पर्वत-शिखर पर पहुँच गये। पिछली रात बादल उमड़-घुमड़ कर रहे थे तो भी सवेरे जो आकाश नील-निर्मल हो गया था, वह अब फिर काली घटाओं से घिर गया और सारे पहाड़ को हिला देनेवाला गंभीर गर्जन भी शुरू हो गया। ऐसा लगा मानों पर्जन्य देवता हम सर्व-सग-परित्यागियों के साहस की परीक्षा लेना चाहता हो। वायुदेवता प्रचंडता के साथ चलने लगा, मानो इस देवभूमि में यात्रा करने के कारण वह हम मनुष्यों पर क्रुद्ध हो उठा हो। जल नहीं, हिमकणों को धीरे-धीरे बरसाने लगा।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ग्रामीणों के विश्वास के अनुसार ही यह घटित हो रहा है। हम सब ने ईश्वर से प्रार्थना की कि हमारे शरीर तथा ग्रामीणों की फसल को कोई हानि न पहुँचे। अक्टूबर महीने में ऐसे पर्वत-शिखरों पर बादल अधिकतर पानी नहीं, ओले बरसाया करते है। नवम्बर महीने से हिम भी बरसाने लगते है। लेकिन यहाँ की ओलों की वर्षा और निम्न देशों की ओलों की वर्षा में कितना बड़ा अन्तर है। यहाँ ओलों के गिरते-गिरते कभी-कभी पहाड़ी चोटियों पर एक फुट तक बर्फ जम जाती है। पाषाण-वर्षा के शुरू होते ही हमारे सहचारी पहाड़ी लोगों का सारा साहस छूट गया और वे बहुत घबराने लगे।

धीरे-धीरे पाषाण-वर्षा खूब होने लगी। सारी भूमि हिमाच्छादित हो धवल हो गयी। बिना छतरी व जूते के स्वच्छन्द रूप से सैर करने वाले हम बड़ी कठिनाई में पड़ गये। दस हजार फुट से अधिक ऊँचाई पर हिमवर्षा के बीच चलने के कारण हमारे हाथ-पाँव सिकुड़ने लगे तथा शरीर काँपने लगे। चूँकि हम सब आत्मविश्वास तथा ईश्वर-विश्वास रखनेवाले थे, इसलिए इस विपत्ति में भी साहस के साथ अमगल की प्रतीक्षा किये बिना दौड़ते हुए चले। वर्षा हो रही है। हिम भूमि पर जम-जमकर बढ़ता जा रहा है।

थोड़ी देर के बाद हम यह जान गये कि अब गिरि-मस्तक से अवरोहण शुरू हो गया है। चार-पाँच फर्लांग उतर आने पर हमने देख लिया कि नीचे जाते-जाते पाषाण-वृष्टि कम होती जा रही है। फिर और नीचे आने पर मालूम हुआ कि यहाँ केवल वर्षा हुई है, पाषाण-वृष्टि जरा भी नहीं हुई है। जितनी प्रसन्नता हमें इस बात से हुई कि उन अति दरिद्र ग्रामीणों की खेती का नाश नहीं हुआ है, उतनी ही प्रसन्नता हमें इस बात की भी हुई कि हम सुरक्षित लौट आये हैं।

हमारे प्रत्यागमन पर शुद्ध-हृदय ग्रामीणो ने हमारी प्रशंसा की कि महात्माओं की महिमा तथा सिद्धि के कारण ही पाषाण-वृष्टि नीचे नहीं हुई है, और वे अपनी बढ़ी-चढ़ी भक्ति को कई प्रकार से प्रकट किये बिना नहीं रह सके। जो हो, हमारी इस विषम यात्रा की सफलता का श्रेय हमारे मार्गदर्शक ब्राह्मण नेता की अथवा उस ब्रह्माण्ड-नेता की नेतृत्व-कुशलता को था। हमारे इस ब्राह्मण नेता की कार्य-कुशलता तो देवता के विश्वास मे—ईश्वर के विश्वास मे—दृढ-प्रतिष्ठ थी। वस्तुतः ईश्वर का विश्वास दुर्बल को प्रबल बना देता है। ईश्वर का विश्वास अधीर को सुधीर बना देता है। भगवान् का विश्वास असमर्थ को सर्वथा समर्थ बना देता है।[1]

●●

---

१. इस यात्रा के बाद मैंने फिर उस सरोवर की ओर यात्रा की थी। चूँकि अब उस सरोवर की ओर मार्ग बन गया है, इसलिए अब यात्रा बहुत सरल हो गयी है।

३. जम्नोत्री और गंगोत्री

जम्नोत्री

जमुना नदी का उत्पत्ति-स्थान जम्नोत्री कहाता है [जो कि हृषीकेश से लगभग एक सौ बीस मील पश्चिमोत्तर दिशा मे स्थित है। 'वानरपुच्छ' नामक सुप्रसिद्ध शिखर के नीचे उष्णजल (गधक-जल) से पूर्ण कुडों के साथ हिमालय के इस रमणीय तथा पवित्र तीर्थधाम मे भी कई पुण्यात्मा यात्री यात्रा करते है। यह देखिए, यहाँ कलिंद शैल से निकलकर एक छोटी जलधारा के रूप मे इन्द्रनील के समान नीलिमा से भरी कलिंदजा बह रही है।

उत्तरकाशी से एकबार मैंने इस पुण्यधाम की ओर यात्रा की थी। करीब पैंतालीस मील पर स्थित इस स्थान पर उत्तरकाशी से तीन चार दिनो में पहुँच सकते है। जम्नोत्री का मार्ग हिमालय के दूसरे मार्गों के ही समान अति प्रकृति-सुन्दर तथा हृदयाह्लादक है। इसके सौन्दर्य के सम्बन्ध मे केवल इतना कह सकता हूँ कि नन्दनवन के बीच यदि कोई मार्ग हो तो वही इस हिमालय-मार्ग का उपमान बन सकता है।

गंगोत्री

: १ :

तत्र वर्षसहस्रैश्च समाराध्य पुनः पुनः।
ब्रह्माणं शंकरं जह्नुं भुवि गंगामयोजयत्॥ (वासिष्ठम्)

हजारो वर्षों तक ब्रह्मा, शकर तथा जह्नु महर्षि का बार-बार तप करके भगीरथ ने भूमि पर गंगाजी का अवतारण कराया था।

इस प्रकार भारत-सम्राट् श्री भगीरथ हजारो वर्षों तक हिमालय में तप करके स्वर्गंगा को स्वर्गलोक से मर्त्यलोक में लाये थे। कुछ लोग पुराणो मे वर्णित इस प्रसिद्ध आख्यान को अर्थवाद के रूप मे ग्रहण करते हैं।

इसके विपरीत दूसरे लोग इसे यथार्थ रूप में स्वीकार करने मे कोई अनुपपत्ति नही मानते। यदि व्यवहारकुशल तथा बुधजन ऐसी कहानियों को यथाश्रुत अर्थ में स्वीकार न करें तो उन पर हमें आक्षेप नही करना चाहिए।

पुराण की उन गाथाओं, को जो हमारे दैनिक जीवन से मेल नहीं खातीं, प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार भी नहीं कर सकता। हमारे पुराने आचार्यों ने भी इन्हें यथावत् स्वीकार करने का उपदेश नहीं दिया। अतः नवीन विद्वानों का यह विचार है कि इन प्रकार की गाथाएँ गंगा की पवित्रता में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए प्रस्तुत की गयी हैं। किन्तु प्राचीन गाथाओं में विश्वास रखने वाले लोग आधुनिक विद्वानों के इस आशय का खंडन करते हैं। फिर भी इस बात में तो दोनों पक्ष सहमत हैं कि भगीरथ का भागीरथी के साथ कितना ही बड़ा सम्बन्ध था और वे गंगा के लिए हिमालय में दीर्घकाल तक तपस्या करते रहे। गंगा-विषयक इस समानता को स्वीकार करते हुए भी इन दोनों प्रकार के विचारकों में पर्याप्त मतभेद है।

परन्तु मैं इस आलोचना-विवाद में प्रवेश नहीं करना चाहता। शिव ! शिव ! आलोचना तो अथाह सागर के समान है। आलोचना के पारावार में उतर जाने पर फिर उसके किनारे आ लगना असंभव होता है। हे गंगे, हे भागीरथी ! हे जगज्जननी ! मैं आप का भक्त हूँ, मैं आपका आलोचक नहीं हूँ। आपकी समालोचना करने में मैं असमर्थ हूँ। साक्षात् परमेश्वरी के रूप में मैं आपके दर्शन कर रहा हूँ। प्रिय माता के रूप में मैं आपका भजन कर रहा हूँ। चाहे सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने आपकी सृष्टि की हो, अथवा उसके बाद भगीरथ ने ही सृष्टि की हो। यह जान लेने से मेरे लिए कोई लाभ या हानि नहीं हो सकती। चाहे आप विष्णु के चरणों से निकलकर शंकर की जटा में होकर भूमि में प्रवाहित होती रहें, या हिमालय के शिखर से निकलकर हिमधाराओं से भूमि में बहती रहें, मेरी आँखों तथा मेरी बुद्धि के लिए आप साक्षात् परमेश्वरी बनकर सतत प्रकाशमान रहेंगी। एक मातृ-भक्त पुत्र के लिए माता या मातृ-महिमा की कौन-सी आलोचना रह जाती है ? मैं आप जगज्जननी का अनन्य भक्त हूँ। अतः मेरे लिए आप या आपकी महिमा की समालोचना करने की क्या जरूरत है ? हे देवी ! आप मुझे शक्ति दीजिए कि मैं आपके चरणारविन्दों की भक्ति किसी विकल्प या आलोचना के बिना कर सकूँ। हे पतित-पावनी ! हे जननी ! पापी और पतित सभी का उद्धार करते हुए आप सर्वदा, सर्वोत्कर्षेण, इस संसार में विराजती रहें।

सम्राट् भगीरथ हिमगिरि के जिस एकांत सुन्दर शिखर पर बैठे अनेक वर्षों तक प्रगाढ़ तपश्चर्या में निमग्न रहे, वह पुण्य प्रदेश अब गंगोत्री के नाम से पुकारा जाता है। भगीरथ जिस वन में और जिस शिला पर बैठे तप करते

रहे, वह गगावन तथा भगीरथ-शिला के नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं। लेकिन गगा का ठीक उत्पत्ति-स्थान गगोत्री से लगभग अठारह मील ऊपर की ओर रजत-शिखरो के अतराल मे स्थित 'गोमुख' नामक दिव्य तथा दीर्घ हिम-सपात है। धवलातिधवल हिमश्रृगो से हिम के पिघलने पर अनेक अदृश्य और दृश्य रूप मे निकलती हुई अनेक छोटी-बडी जल-धाराएँ मिलकर एक बडी जलधारा बन जाती है, जो गगा के रूप मे प्रवाहित होती रहती हैं।

गगोत्री से ऊपर जाने का कोई रास्ता नही है। इसलिए गगा के उत्पतिस्थान पर सामान्यत यात्री नही जा सकते। किंतु फिर भी कुछ तितिक्षु तथा उत्साही यात्री किन्ही विशेष कालो मे वहाँ की यात्रा कर ही आते हैं। जिसे यह ज्ञात न हो कि हिमालय पर्वत की चोटियाँ सदा धवल हिम से ढकी रहती है, वह गगोत्री आकर पूर्व दिशा की ओर अपनी नजर दौडाए तो वह एकाएक बोल उठेगा कि "इसी रजत पर्वत से साक्षात् भागीरथी निकलती हैं।"

आग्रहायण से चैत्र महीने तक गगोत्री धाम नीचे से ऊपर तक समान-रूप से हिमावृत रहता है। इसलिए उस समय वह देश अगम्य ही रहता है। इन्ही दिनो भालू आदि भी बाहर घूमने तथा शिकार करने में असमर्थ हो जाते हैं तथा अपनी गुफाओ या वृक्ष-कोटरो में छिपे पडे रहते है। यदि इस समय भालुओ की गति भी निरुद्ध हो तो मनुष्य की तो बात ही क्या कहनी है?

ज्येष्ठ महीने से लेकर गगोत्री धाम फिर यात्रा के योग्य बन जाता है और अनेक भक्त तथा तपस्वी लोग वहाँ की यात्रा आरम्भ कर देते हैं। मेरा विश्वास है कि पतित-पावनी भागीरथी के उत्पत्ति-स्थान गगोत्री धाम पहुँचकर, वहाँ के गगाजल मे निमज्जन कर, उस पवित्र विशाल गगातट पर बैठे कम-से-कम दस-पाँच मिनट तक साक्षात् ब्रह्ममूर्ति सच्चिदानद-स्वरूपिणी भागीरथी माता का भक्तिपूर्वक ध्यान करनेवाले मनुष्य का जन्म अवश्य कृतार्थ हो जाता है। धन्य पुरुषों के सिवाय और किसी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता—

तदेतत् परमं ब्रह्म द्रवरूपं महेश्वरि!
गंगाख्यं यत् पुण्यतमं पृथिव्यामागतं शिवे!

(स्कन्दपुराणम्)

पौराणिक लोग भागीरथी की परिभाषा यो देते है—गंगा, गगा के नाम से, द्रव रूप मे प्रवाहित साक्षात् परब्रह्म ही है। महा पातकियों का भी समुद्धार करने के वास्ते स्वयं कृपानिधि परमात्मा ही पुण्यतम जल के रूप मे पृथ्वी पर अवतार लेकर आया है।

गंगा समुद्रजल या तालाब के जल के समान साधारण जल नही है। वह सर्वान्तर्यामी तथा सर्वाधिष्ठान-स्वरूप साक्षात् परब्रह्म ही है। पर यदि कोई प्रश्न करे कि भागीरथी के जलमात्र न होने, बल्कि सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मवस्तु होने का प्रमाण क्या है तो 'श्रद्धा-श्रद्धा' किसी भागीरथी-भक्त का उत्तर होगा। सब धर्मों और सब आचार्यों द्वारा समुद्घोषित तत्त्व यह है कि आध्यात्मिक कार्यों में बुद्धि से अधिक श्रद्धा का ही प्राधान्य रहता है। बुद्धि-शक्ति से अब तक किसी ने अध्यात्म-निष्ठा नहीं पायी है। किंतु श्रद्धा के द्वारा बडी आसानी से अध्यात्म-निष्ठा पा सकते है। इतना ही नही, यह संसार मे सर्वत्र देखा जाता है कि श्रद्धालु लोग शुद्धचरित्र और सद्‌गुण-निधि होकर सुखपूर्वक जीवन बिताते हैं तथा बुद्धिशाली लोग चरित्रहीन और दुर्गुण-निधि होकर दुःख से दिन काटते हैं। गगा एव गगोत्री तथा राम एव रामेश्वर को ईश्वर-रूप अथवा ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न विशिष्ट वस्तु सिद्ध करने में शिष्ट परम्परा एव पुराण-वचनों की श्रद्धा को छोड न्यायवाद या प्रत्यक्षादि प्रमाण समर्थ नही हो सकते। अतः इतिहास में ऐसी कई कहानियाँ देखी जाती हैं कि अनुमान-कुशल बुधजनो ने भी अध्यात्म-विषय की आकाक्षा मे पाडित्य-गर्व को छोड-छाड़कर श्रद्धादेवी की उपासना की है—

जो रामेश्वर दर्शन करिहैं।
सो तनु तजि मम धाम सिधारिहिं॥
जो गंगाजल आनि चढ़ाइहिं।
सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहिं॥

"जो जाकर रामेश्वर का दर्शन करता है वह शरीर छोडकर वैकुण्ठ को पा लेता है। जो गगाजल को रामेश्वर ले जाकर देव का अभिषेक करता है वह सायुज्य मुक्ति को पा जाता है।"

भक्ति से मदोन्मत्त हो तुलसीदास ने जब यह गान किया होगा तब वह पांडित्य-साम्राज्य से कितने ही नीचे उतर कर श्रद्धा के राज्य मे विहार कर रहे होंगे—यह बताने की आवश्यकता नही है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया जाए कि तर्क-कुशल महापंडितो ने भी केवल श्रद्धा पर ही अवलंबित होकर कई सिद्धान्त और कई परिभाषाएँ तथा कई ग्रंथ-रत्न निर्मित किये हैं। सच तो *यह है कि श्रद्धा की लकड़ी के बिना अति विकट तथा दुर्गम अध्यात्म-मार्ग पर* चलते हुए गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाना बिलकुल संभव नहीं है।

जब मैं गंगोत्री में जाकर रहा करता था, तब कभी-कभी किसी मार्ग-

हीन, शिलामय तथा अतिदुर्गम गंगा के किनारे से होकर गंगोत्री धाम से ऊपर की ओर अकेले ही चलते जाना मेरे लिये अति आनंददायक था। चित्त को महान् उन्मेष, शांति तथा उत्कृष्ट भावनाएँ प्रदान करनेवाले उन विशिष्ट गंगातट-विहारों को मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकता। मैंने एक बार अपने एक परिचित अति वृद्ध, विद्वान् महात्मा से प्रश्न किया था, जो कि गंगोत्री मन्दिर के ऊपर एक गुफा में रहते थे, "इस बुढ़ापे में यों एकाकी होकर इस गुफा में रहने की क्या जरूरत है? नीचे किसी सुविधाजनक स्थान पर जाकर क्यों नहीं रहते?" तो उन्होंने धीरे और गम्भीर वाणी में जो उत्तर दिया था मैं कभी-कभी उसका स्मरण किया करता हूँ—"पुराणों का कहना है कि कई ब्रह्मर्षियों तथा राजर्षियों ने अपना अन्तिम जीवन गंगातट की की गुफाओं में रहते हुए समाधि-वृत्ति में बिताया था और यहीं शरीर छोड़ दिया था। यों, मैं भी अपने आखिरी दिनों में योगवृत्ति का अनुष्ठान करते हुए यहाँ रह रहा हूँ। यहीं शरीर-त्याग करने की मेरी इच्छा है। मेरे सामने कोई कल्पना नहीं है। सतत ध्यान-निरत हो मैं दिन काट रहा हूँ। मुझे यहाँ किसी कष्ट या दुःख का अनुभव नहीं होता। 'आनंद, आनंद' के सिवा यहाँ मेरे लिये कोई कष्ट होता ही नहीं।" उनके इस कथन का मैं अनुमोदन किये बिना न रहा। गंगोत्री के निकट प्रदेशों में आज भी, इस कलिकाल में कई बड़े महात्मा दिखायी देते हैं।

हे हिमालय! हे देवता-स्वरूपिन्! आपका तो भाग्य है ही अनुपमेय। आपके भाग्य की उपमा संसार में कहीं नहीं मिल सकती। अपने एक ही जल-बिन्दु से हमारे शरीर को परिशुद्ध बनाने वाली यह पुण्यसलिला एवं जगदेक-वन्दनीया भागीरथी आपकी पुत्री है। यह आप ही का परम सौभाग्य है कि आप इस लावण्यमयी मनोहारिणी पुत्री का अपनी गोद में पालन-पोषण कर आनन्दानुभूति प्राप्त कर रहे हैं। आपके इस अनुपम सौभाग्य पर किस पर्वत-राज को ईर्ष्या नहीं होगी? आपकी शिरोमणि बनकर, आपको अत्यधिक सुशोभित करनेवाली, इस गंगोत्री के समान लोकोत्तर महिमामय पुण्यधाम भला और किस शैल-शिखर पर दिखायी देगा। दूसरे पर्वतों पर ऐसी गुफाएँ कहाँ मिलेंगी, जो तत्त्वचिंतक तपोनिधियों का समाधि-स्थान हैं। ये गुफाएँ उनके निवास के कारण कितनी शुद्ध पवित्र, शांत और सुप्रकाशित हैं?

अहो अद्रि-राज! आप के महाभाग्य तथा महिमातिशय्य का वर्णन कहाँ तक करें? हे मातृभूमि! आपकी महिमा निरुपम है! इतना विशिष्ट

हिमशैल आप का उत्तमाग होकर विराजमान है तो आपके भाग्य की गणना कैसे की जा सकती है ? अहो स्वात्मन् ! इतनी सौभाग्यवती और इतनी विशिष्ट भारतभूमि ही आपकी प्रिया माता है तो आपके इस महान भाग्योदय के लिए मै आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।

: २ :

दोपहर बीत रही थी और दो बज गये थे । भाद्रपद, आश्विन के महीनो मे यहाँ यद्यपि मैदानो की तरह भयंकर गर्मी तो नही पड़ती तो भी आठ हजार फुट की ऊँचाई वाले पर्वत-खण्डों पर काफी तेज धूप पड़ती है । दिन होने के कारण रीछ आदि वन्य पशु अपने-अपने निवासस्थानो मे आराम करते होंगे । चूँकि पास कोई गाँव नहीं है, इसलिए गायें आदि ग्रामीण पशु भी दिखायी नही देते । यद्यपि हिमालय के विचित्र कौए इधर उधर उड़ रहे हैं तो भी दूसरे कुछ मोहन पक्षी-विशेष पेट के भर जाने के कारण निश्चित होकर वृक्षो की शाखाओ पर बैठे विश्रान्ति-सुख का अनुभव कर रहे है । दोपहर का खाना खाकर हाथ मे हँसिया लिये ऊँची आवाज़ मे सुन्दर गीत गाती हुई पहाड़ी वनिताएँ उल्लसित होकर अपने दूर के खेतो की ओर चली जा रही हैं । भाँति-भाँति के शस्यो से समृद्ध ये खेत अति रमणीय तथा हृदयाह्लाद-कारी हैं ।

इन वनिताओ को छोड़कर उस समय कोई भी उस प्रदेश की निर्जनता तथा नि शब्दता को भग नही करता । मनुष्य से लेकर पक्षी तक सब प्राणियो को यह पर्वत नित्य प्रति निरतर अन्न-जल देता है, और उल्लास तथा वात्सल्य के साथ उनका पालन-पोषण करता है । उस जगत्पिता विश्वभर की इस सामर्थ्य के बारे में सोचकर मैं प्रायः आनदित हो जाया करता हूँ । ज्यो-ज्यो यह सोचता हूँ कि सर्वदा हिम से ढके हुए हिमाद्रि-शिखरो की गुफाओ मे रहने वाले पशु-पक्षियों को भी भगवान् प्रतिदिन खाना देकर उनका पेट आसानी से भर देते है, त्यो त्यो मेरा विस्मय बढता ही जाता है ।

एकबार गंगोत्री की ओर एकाकी होकर चलते हुए यह साधु गंगोत्री से अठारह-बीस मील निचले प्रदेश मे मार्ग के किनारे निर्झर के पास एक पेड़ के नीचे बैठा था । वह निर्जन, निःशब्द तथा नितान्त सुन्दर स्थान मेरे मन को स्वरभूमि की ओर ले जाकर आनद देता रहा, तो भी क्षुधा-राक्षसी

का आक्रमण बीच-बीच में मेरे शान्ति-देवता को व्याकुल कर देता था। उस दिन मैं कुछ भी न खा सका था। मार्ग के पास एक गाँव में आकर यद्यपि मैंने भिक्षा माँगी थी, तो भी वहाँ से मैं कुछ नहीं पा सका था। परमात्मा की भक्त-वत्सलता में अति श्रद्धालु मैं यह जान लेने के लिए कि आज करुणा-विश्वंभर किस प्रकार इस साधु का पेट भरेंगे, बच्चों के समान कौतुक के साथ ललचाते हुए उस वृक्षमूल में ही विश्राम करता रहा। अभी वर्षा को अधिक समय न बीता था। अतः हिमालय की विचित्र प्रकृति-शोभा दर्शनीय थी, तथा क्षीर की भ्रान्ति देनेवाले गंगोदक की तत्कालिक कान्ति हृदयाह्लादक थी।

इस सौन्दर्य से अभिभूत होकर मैं यह भूल गया था कि अब आगे भी रास्ता तय करना है, और मैं वहीं कुछ देर तक बैठा रहा। लीजिए, एक सुदामा-सदृश पर्वतीय वृद्ध ब्राह्मण एक भारी बोझ पीठ पर लादे थका-माँदा, पसीने से तर उसी मार्ग से धीरे-धीरे चला आ रहा है। पीठ से बोझ उतारकर जलधारा के पास बैठ क्षुधा-पीड़ित वह भोजन के लिए अपने पाथेय की गठरी खोलने लगा। कुछ दूर पर एक सन्यासी को देख सारा भोजन अपने हाथ में लिये मेरे पास चला आया, प्रणाम किया और प्रार्थना करने लगा कि मैं इसमें से यथेष्ट स्वीकार करूँ।

उसकी भक्ति तथा उदारता देख मैं अति उल्लसित हुआ। मुझे ऐसा लगा कि साक्षात् ईश्वर ही पथिक के रूप में मेरी क्षुधा शांत करने के लिए आ उपस्थित हुए हैं। उसका भोजन बिना नमक के पकाया आलू मात्र था। मैंने उनकी इस आश्चर्यजनक आस्तिक्य-बुद्धि तथा धार्मिक भावना की मन-ही-मन प्रशंसा की। अहो दीनबन्धु! अपने खाने के लिये गाँठ में बाँधकर लाये भक्ष्य पदार्थ को स्वयं भूखे रह दूसरे की उदरपूर्ति के लिए दे देना संसार में कितना असाधारण है। किन्तु सच्चा त्याग और उत्तम दान यही है। स्वयं पेट भर खा-पीकर दूसरों को गर्व के साथ खिलाना-पिलाना यथार्थ त्याग या दान नहीं होता। अपने खाने के लिये बने भोजन को यदि कोई भिक्षुक आकर माँगे, तभी उस दाता की त्याग-महिमा तथा दान महिमा देखनी चाहिए। महाभारत के नेवले की कहानी तो प्रसिद्ध है। दानवीर धनियों द्वारा दानरूप में दी गयी धनराशि की तुलना में गरीबों का ऐसा दरिद्र-दान कितना मूल्यवान् होता है? उस निर्जन गिरि-शिखर पर ईश्वर से प्रेरित उस भक्ष्य-विशेष को मैंने थोड़ा-सा स्वीकार किया और भगवान् के प्रसाद-रूप में उसे खाकर तथा जल पीकर मैं तृप्त हुआ, और वहाँ से उठकर फिर आगे की ओर बढ़ता गया। तभी मेरे

मुख से निकला—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव॥
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

ईश्वर की शरण मे विचरण करनेवाले भक्त जनो के योगक्षेम का यदि वह भगवान् ध्यान न रखें तो भगवान् शून्य वस्तु माने जाएँगे। यदि ईश्वर शून्य न हों और यदि ईश्वर पवत्व को प्राप्त न हो गये हों तो उसके सबसे प्यारे भक्तजनो की कोई दरिद्रता, कोई विकलता या कोई हानि नही हो सकती।

गगोत्री उत्तरकाशी से छप्पन मील की दूरी पर स्थित है। अत्यानद-दायक पर्वतखण्डो से पवित्र तथा सतत दर्शन मे भी तृप्ति न देनेवाले गंगाप्रवाह के किनारे-किनारे पूर्वोत्तर दिशा मे जानेवाला यह मार्ग प्रकृति का दर्पण है। जो लोग इधर घूमने आते हैं वे भाग्यशाली और पुण्यवान् है। यद्यपि कुछ वर्ष पहले तक गगोत्री-जम्नोत्री के मार्ग कुछ खतरनाक थे, किन्तु अब वे सब कठिनाइयाँ दूर हो गयी हैं और वे सुगम बन गये है। उत्तरकाशी से सताईस मील ऊपर पराशर आश्रम है। साधारणत: यह विश्वास किया जाता है कि यह पवित्र स्थान व्यास के पिता, शक्तिपुत्र पराशर महर्षि का आश्रम था। गगा की निकट-वर्तिनी यह तीर्थभूमि मेरे मन को अत्यधिक आकृष्ट करती है। इसलिए मै गगोत्री के आवागमन मे यहाँ अधिक समय तक रहा करता हूँ।

यहाँ से ऊपर की ओर अत्युन्नत तथा हिमाच्छादित गिरि-शिखर शुरू हो जाते हैं। यह प्रदेश 'गगाणी' कहलाता है। यहाँ से चौदह-पन्द्रह मील ऊपर 'हरसत्' नामक शोभन सममूमि है। वहाँ से तीन मील ऊपर की ओर गगोत्री के पुजारी ब्राह्मणो का निवासस्थान 'मरब्बा' नाम का एक बडा गाँव है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह ग्रामभूमि प्राचीनकाल मे पुराण-प्रसिद्ध मतग महर्षि तथा मार्कण्डोदय महर्षि का पुण्यआश्रम-स्थान थी। यह सर्वविदित है कि मतग महर्षि नीच जाति मे उत्पन्न हुए थे, किन्तु अपनी असाधारण तप.शक्ति एव ज्ञान-महिमा से वे सर्वादरणीय पूज्य पद पर पहुँचे हुए एक विलक्षण व्यक्ति थे। एक व्याख्यान मे भगवान् बुद्धने उनके विषय मे कहा है—

"जन्म से कोई नीच नही होता, जन्म से कोई ब्राह्मण भी नहीं बन जाता। कर्म से ही कोई नीच होता है, कर्म से ही कोई ब्राह्मण बनता है।

मतंग नामक ऋषि श्वपाक जाति में जन्मा एक चाण्डाल था। यह मतंग अपनी महिमा से बहुत ऊँची ख्याति पा गया। अनेकानेक क्षत्रिय तथा ब्राह्मण उन के शिष्य बनकर उन की परिचर्या में तत्पर रहे।"

महात्मा मतंग महर्षि की पदधूलि से पवित्र इस मनोहर भूमि के पास 'धराली' नामक एक दूसरा स्थान है। इन स्थानों में मैं कभी-कभी कौतूहल-वश जाकर रहा करता था। हिमधवलित उच्च पर्वतों की तराई में गंगा के किनारे आठ हजार फुट की ऊँचाई पर वर्तमान इस प्रदेश की सुन्दरता तथा शांति सब प्राणियों को आकर्षित करती है। लीजिए, यहाँ से थोड़ी दूरी पर, जहाँ महर्षि का सुन्दर, महनीय आश्रम-स्थान है, सीधे तिब्बत की ओर, अर्थात् पश्चिम तिब्बत में स्थित कैलास पर्वत की ओर, एक अच्छा-खासा मार्ग निकलता है। इसी मार्ग पर अति उन्नत गिरि-पार्श्वों से होकर दिव्य देवदारु तरुओं की छाया तले बहती हुई गंगा के दर्शन करते करते कुछ मील ऊपर की ओर चलें तो गंगोत्री नामक दिव्य धाम दीख पड़ता है। इसी मार्ग पर गंगा नदी का स्वर अति उच्च हो जाता है। क्योंकि यहाँ वह घने पर्वत-खण्डों के बीच में से होकर गुजरती है। दो उन्नत शिलोच्चय-पंक्तियों के बीच उच्च स्वर के साथ बहती हुई गंगा नदी यहाँ ऐसे प्रतीत होती है जैसे कोई बालिका अपने माता-पिता के बीच किलकारियाँ मारती दौड़ रही हो।

यह गंगोत्री धाम बदरी-केदारों के समान यद्यपि उतना बहुत विशाल स्थान नहीं है, फिर भी प्रकृति-शोभा में तो हिमालय के दूसरे धामों के बराबर ही है। गंगोत्री की पौराणिक महिमा का क्या कहना! जब गंगा की इतनी महिमा मानी गयी है, तो गंगा के उत्पत्ति-स्थान 'गंगोत्री' की महिमा तो अवर्णनीय है। पुराणों तथा इतिहासों ने बड़ी-बड़ी चमत्कृत आख्यायिकाओं एवं वर्णनों द्वारा भागीरथी की महान् प्रशंसा की है। यद्यपि विचारशील पुरुष यह नहीं मान सकते कि पौराणिक उपाख्यान तथा विवरण कई जगह यथाभूत अर्थों का प्रतिपादन करने वाले हैं, तथापि इस तथ्य का कोई निषेध नहीं कर सकता कि उन में यथार्थ तत्त्व अन्तर्निहित है।

इस समय मुझे एक पाश्चात्य दार्शनिक का यह मन्तव्य स्मरण आ रहा है कि अयथार्थ आख्यायिकाओं और विवरणों के बिना सत्य को उस के नग्न रूप में दुनियाँ के सामने रख देना असंभव है। अयथार्थ विवरणों के आवरण के बिना सत्य को असली रूप में, शुद्ध और अभिन्न रूप में, पा लेने की

इच्छा रखने वाला व्यक्ति तो उस व्यक्ति के समान है जो जल को अलग पाने की इच्छा से उस के आधारभूत घड़े को तोड़ डाले। इस में सन्देह नहीं कि यह मन्तव्य हमारे पुराने महर्षियों के आशय का अनुवाद-मात्र है। हमारे पुराण-वर्त्ता पुरातन ऋषीश्वरों ने भी इसी आशय का अवलंबन करते हुए कि सत्य को सरल और हृदय-स्पर्शी रूप में प्रस्तुत करना चाहिए—अर्थवाद रूप में, सब को समझाने के वास्ते, कई कल्पित कथाओं तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनाओं के साथ अपने मनोधर्मों को मिलाकर, तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल, पुराणों की रचना की है। इस प्रकार इस में सन्देह नहीं है कि भागीरथी की महिमा को प्रकट करने तथा साक्षात् परमेश्वरी रूप में श्रद्धा के साथ उस की उपासना करने के वास्ते, पौराणिकों ने भागीरथी के बारे में भी कई चमत्कारिक उपाख्यानों और वर्णनों का प्रयोग किया है। उन के कथनों में कितने ही प्ररोचक अंश क्यों न हों, किन्तु यह तो त्रिकाल-सत्य है कि भागीरथी अति अलौकिक और सर्वमान्य महिमामय अद्भुत वस्तु है।

भगीरथ के इस तप स्थान गंगोत्री धाम से ऊपर की ओर यात्रा करने के लिए मार्ग बहुत साफ नहीं है। गंगा के किनारे से यह यात्रा अति कठिन तथा बड़ी भयानक है तो भी अत्यानन्दकारी है। दस-बारह मील ऊपर की ओर चलने पर वहाँ 'भूर्जवन' नामक स्थान आ जाता है। यह स्थान भूर्ज वृक्षों से भरा हुआ है। सिद्ध महर्षि-पुंगव का विहार-स्थान समझा जानेवाला यह प्रदेश प्रकृति-निरीक्षकों और श्रद्धालु लोगों के हृदय में रोमांच उत्पन्न करता है।

वहाँ से पाँच छः मील ऊपर की ओर पूर्वोक्त 'गोमुखी' नामक दिव्य स्थान है। अति विशाल हिम-संघातों तथा अत्युन्नत रजतकूटों के कारण वहाँ से ऊपर जाना सामान्य लोगों के लिए असाध्य ही है। उन दिनों मौसम अच्छा नहीं था। इसी कारण मैं गंगोत्री से ऊपर न जा सका। अतः उस दिव्य स्थान की सौन्दर्य-सुषमा के बारे में महात्माओं के मुँह से सुन कर ही मैं सान्त्वना प्राप्त करता रहा।[1] वस्तुतः विरक्त महात्माओं को छोड़ दूसरे लोग

---

1. इन पंक्तियों के लिखने के बाद सन् १९३२ से सन् १९४२ तक गंगोत्री के सौंदर्य-वैभव, शान्तिपूर्ण तथा आध्यात्मिक वातावरण से मोहित होकर प्रतिवर्ष में नियमित रूप से चार-मास के लिए उस पुण्य धाम में जाकर निवास करता हूँ। पहले तीन वर्षों तक एक सुन्दर पाषाण गुफा में

हिमगिरि के ऊँचे प्रदेशों में जाकर नहीं रह सकते। उन के लिए वह रुचिकर या प्रिय हो भी नहीं सकता। ऐसे एकांत गंभीर तथा विषय-विदूर प्रदेशों मे उन लोगों का मन रम नहीं सकता जो सांसारिक वातावरण मे लिप्त रहते हैं। महात्माओं का वैराग्यपूर्ण तथा विचारोन्मुख मन ऐसे देशों मे अधिक संलग्न होता है। विषयचिन्ता या विषय-रमणीयता उन के मन को वहाँ से पीछे की ओर नहीं खींचती। विषयी लोगो का विषयमय जीवन साधु-महात्माओ के लिए नरक-दुःख है। दरिद्र जीवन, अर्थात् कष्टमय भिक्षु-जीवन उनके लिए स्वर्ग-सुख है। भगवान् बुद्ध के पिता ने रोष तथा भर्त्सना के साथ उन्हे कहा था—"तेरे भिक्षुक बनने और भिक्षा-पात्र हाथ मे लिये भिक्षावृति में अपनी राजधानी में यों घूमते रहने में क्या तू अपने राजकुल का अपमान नही समझता ? तुझे तत्त्व-चिन्तन आदि करना हो तो राजोचित रूप में

निवास किया। उसके बाहर मैंने किवाड़ लगा लिये थे। उसके बाद पत्थरों के गिरने से वह गुफा टूट-फूट गयी थी। तब एक सुरक्षित स्थान में देवदारु की लकड़ी के बनी एक कुटिया में रहने लगा।

यों, वहाँ के निवास-काल में श्रावन तथा भाद्रपद के महीनों में प्राय सभी वर्ष यह साधु 'गोमुखी' की ओर यात्रा करता आया है, और वहाँ की अलौकिक सुन्दरता तथा शांति का उपभोग करते हुए वहाँ कुछ दिनों तक रहा है, किन्तु इतना ही नहीं गोमुखी स्थान से ऊपर भी यात्रा किये बिना नहीं रहा गया। हिम-संघात-पूरित और श्वेत पर्वत पंक्तियों से परिवृत वह प्रदेश यद्यपि अत्यन्त दुष्प्राप्य है, तथापि किस में ऐसी सामर्थ्य है कि उस दिव्य रमणीय अलौकिक सुन्दरता का वर्णन कर सके? गोमुखी से ऊपर सुवर्ण वर्ण, अत्यन्त दीप्त, अति मनोहर तथा दिव्य शिवलिंग, सुमेरु आदि हिमालय के महा शिखर मेरे मन को अनिर्वचनीय आनंद प्रदान किया करते हैं। केदारनाथ आदि दिव्य शिखर भी पास ही स्थित हैं।

गोमुखी से ऊपर एक पहाड़ी मार्ग से कुछ दूर यात्रा करके उन्नीस हज़ार फुट ऊँचे एक हिममय महाघाट को पार करने पर कुछ दूर बदरीनाथ आ जाता है। लेकिन यह मार्ग निवृत्तिमार्ग के समान यद्यपि सरल है तो भी साधारण लोगों के लिए इस पर यात्रा करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

यहाँ रहते हुए ऐसा करने में कौन-सी आपत्ति है ?" इसका उत्तर गौतम बुद्ध ने विनम्र तथा हृदयस्पर्शी रीति से दिया था—"पूज्य पिताजी ! आप को प्रणाम ! मेरे भिक्षाटन से आप के कुल को कोई कलंक नहीं लग सकता। क्योंकि मैं हमेशा एक भिक्षु हूँ। मैं देखता हूँ कि मेरा कुल हमेशा भिक्षुओं का कुल रहा है। मेरा कुल राजकुल नहीं है। राजकुल होता तो मेरा मन उस में रम जाता।" भिक्षुक संस्कृति के साथ वे राजकुल में पैदा हुए थे तो भिक्षुओं को छोड़ बुभुक्षितों के बीच में उनका मन कैसे रम सकता था ? वस्तुतः यह संस्कारों और वातावरण का ही प्रभाव है जो एक को तो भोगी तथा विषयी बना कर भौतिक जीवन की ओर, तथा दूसरे को तपस्वी बनाकर आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाता है। यह परिभाषा अक्षरशः सत्य है कि महात्मा स्वयं बनते हैं, वे बनाये नहीं जाते।

●●

४. केदारनाथ

केदारनाथ एक बिलकुल नग्न विशाल मैदान है जहाँ तरुलता- गुल्मादि नाममात्र के लिए भी नहीं दिखायी देते। यह स्थान उत्तर में बड़े-बड़े श्वेत पाषाणों से तथा पूर्व और पश्चिम में तत्काल पिघले हुए हिम से लथ-पथ पर्वत-पार्श्वों से घिरा हुआ है। इसी मैदान के बीच एक छोटी नदी बह रही है, जो उत्तर दिशा के हिम-शिखर से निकलकर पाषाण समूहों के बीच से गुज़रती हुई नीचे उतर आयी है। जो हिम-खण्ड नहीं पिघले वे चाँदी की चट्टानों की भाँति मैदान में इधर-उधर पड़े दिखायी दे रहे है। कुछ साधु और कुछ गृहस्थ यात्री जाड़े की अधिकता के कारण हाथ सिकोड़े और दन्तवीणा बजाते बड़े कष्ट के साथ जहाँ-तहाँ बैठे तथा चलते दिखायी दे जाते है। कहा जाता है कि गरमी गरमी से शान्त होती है। दो ही मिनटों में रक्त को जमा देने वाले उस नदी के आयत शीतल-जल में कुछ लोग पीपल के पत्ते के समान थर-थर काँपते अपने शरीर को डुबो देते हैं, मानो वे शीत से शीत को शान्त करना चाहते है। लेकिन् उधर पक्षी-वृन्द किसी शीत-बाधा के बिना आकाश में उड़ते हुए स्वच्छन्द विहार कर रहे है। सूर्य-किरणों के पड़ने से विस्तृत हिम-संहति स्वर्ण-शिखर के रूप में दिखायी देती है। इस मैदान मे एक गंभीरता तथा एक अलौकिकता सी सर्वत्र छायी रहती है। यहाँ का वातावरण दिव्य और आध्यात्मिक है। इस वातावरण को देखते ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यही देवों और ऋषियों की पवित्र भूमि है। इस मैदान के उत्तरी छोर पर पत्थरों के बने एक-दो छोटे-छोटे देव-मंदिर है। इनको देखकर यात्रियों के मन में उत्साह तथा भक्ति उत्पन्न होती है। वे इनकी ओर आकृष्ट हुए चले जाते है। सचमुच यह भूभाग ही शांत, रमणीय एवं अलौकिक है।

इस केदारनाथ नामक लोकप्रसिद्ध पुण्य धाम का दर्शन मैंने सर्वप्रथम कुछ वर्ष पहले किया था। ज्येष्ठ मास के एक मेघहीन, निर्मल, सुप्रसन्न पूर्वाह्न मे लगभग दस बजे प्रातः मैं यहाँ पहले-पहल पहुँचा था। उस अलौकिक भूमि में प्रविष्ट होते ही मेरे मन में आनंद तथा आश्चर्य की कोई सीमा नहीं

थी। समुद्र की सतह से बारह हज़ार फुट की ऊँचाई पर स्थित उस मंजुल स्थान पर चढ़ जाते ही शीत, क्षुधा, पिपासा आदि कितने ही विघ्नों के होने पर भी मेरा मन वाह्य तथा आन्तरिक रूप से भाव-समाधि में लीन हो गया। इन प्राकृतिक दृश्यों को देख कर मेरा हृदय कितना उल्लसित हो गया था— मैं इसका वर्णन नहीं कर सकता। तेईस हज़ार फुट की ऊँचाई पर पहुँच कर मैंने जब अपने-आप को इन अत्याकर्षक, रमणीय, ऊँची उठी हुई, धवल-धवल पर्वत-पंक्तियों के बीच खड़ा और घिरा पाया तो मुझ में सत्त्वभाव उमड़ आया। ईश्वर की अखंड-विभूति को देख-देखकर मैं सतृष्ण ठगा-सा रह गया, और न जाने कितने समय तक यों ही प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को निहारा करता था।

कुछ इतिहास-वेत्ताओं का कहना है कि इस एकांत विचित्र मैदान में पांडवों ने ही पहले-पहल केदारनाथ की स्थापना करके मंदिर बनाया था। यह भी विश्वास किया जाता है कि कालांतर में श्री शंकराचार्यपादों ने उस मंदिर का संस्कार किया था, तथा वहाँ दाक्षिणात्य शैवों को पुजारी नियुक्त किया था। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि शंकर के अवतार शंकर भगवत्पाद इसी पुण्यधाम से इहलोकवास छोड़कर अपने धाम कैलास चले गये थे।

इसी मन्दिर के अन्दर पृथ्वी के आन्तरिक भाग से आविर्भूत एक विशाल वृत्ताकार शिलापिंड है, जिसे केदारनाथ-मूर्ति के रूप में पूजा जाता है। सर्वव्यापी, सच्चिदानंदघन अन्तर्यामी ईश्वर से लेकर पत्थर, मिट्टी और पेड़ तक सब की पूजा करना अनुचित नहीं है। क्योंकि सब ईश्वर-स्वरूप ही हैं। इस संसार में ईश्वर- स्वरूप से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। यही कारण है कि विष्णु, रुद्र आदि के समान काष्ठ-पाषाणादियों की भी जब ईश्वर के रूप में श्रद्धा-भक्ति के साथ उपासना की जाती है तो उपासक को उसका शुभ-फल अवश्य प्राप्त हो जाता है। सर्वत्र ईश्वर है— इसी एक मूल भावना को अपना लेने पर हमें संसार का कोई भी धर्म या मत असत्य अथवा निष्प्रयोजन नहीं दीखेगा। सभी धर्मों के प्रति आस्था जगेगी। हम उदार-हृदय बनेंगे। जो लोग सनातन हिन्दू-धर्म पर यह आरोप लगाते हैं कि वह एक ईश्वर को नहीं, अनेक ईश्वरों को मानता है, वे सनातन धर्म के इस सिद्धांत-रहस्य के प्रति अज्ञ हैं कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का शरीर ही तो है।

श्री केदारमूर्ति देखने वाले के हृदय को भावाविष्ट बनाकर अपने में

लीन कर देती है। उस दिव्य भूमि मे जा खड़े होते ही व्याकुल-चित्त मानवो की सैकड़ो व्यथाएँ एकदम मिट जाती हैं। विषयी लोगो की विषय-सबधी सैकड़ो कल्पनाएँ वहाँ पहुँचते ही तुरन्त गायब हो जाती है। यह स्थान आनद-रस परिपूर्ण है। उस स्थान मे ऐसी मलिनताओ का कोई स्थान नही है। यहाँ आस्तिक-नास्तिक का भेद-भाव मिट जाता है। सचमुच अलौकिक ही है यह दिव्य भूमि !

यहाँ गगा नदी अति तीव्र वेग से बहती है। यही कारण है कि इसमे स्नान करने का साहस बड़े श्रद्धालुओ को छोड और किसी को नहीं हो सकता। हिमाद्रि की ऊँचाई के निर्झरो को निमज्जन करना सचमुच एक कठिन तपस्या है। लेकिन श्रद्धा कठिन कार्यों को भी सरल बना देती है। जब मन मे श्रद्धा से उत्पन्न उष्णता हो तो मदाकिनी का जल भला कैसे शीतल लगेगा ? शुद्ध तथा सात्त्विक श्रद्धा बड़े ही पुण्य का फल है। पापी लोगो के मन मे श्रद्धा का उदय नहीं होता। मनुष्य ससार मे जिस दिन जन्म लेता है वह उसी दिन मरण-दिवस को अपने सिर पर लिये आता है। किन्तु वह बड़ा होकर यह भूल जाता है कि मृत्यु अवश्यभावी है। दिन-प्रतिदिन अनेकानेक प्राणियो को अपनी आँखों के सामने मरते हुए देखकर भी वह अभिमानी बना रहता है। जिस प्रकार हँस के मुँह मे मछलियाँ बाल-बच्चो के साथ खेला करती हैं, उसी प्रकार ये सांसारिक लोग भी मरण-पिशाचिका के भयानक वदन-गह्वर में पत्नी-पुत्र तथा नाम-धाम के साथ आनन्दानुभव करते रहते हैं। उनके कान मे ऋषियों का यह गान—

किं ते धनेन किमु बंधुभिरेव या ते,
किं ते दारैर्ब्राह्मण ! यो मरिष्यति।

—प्रविष्ट नही होता। इस प्रकार ये पापी जन देह-धन आदि मे चित्त को आसक्त बनाये रखते है। वे परलोक एवं आध्यात्मिक तपस्या में श्रद्धा नहीं रखते। जिनके पास पापो का ढेर लग गया हो, उन्हें पारलौकिक पुण्य-क्रियाओ एवं आत्म-शुद्धि की तपश्चर्याओ मे आस्तिक्य-बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती। वे तो इन सबकी खिल्ली उड़ाते हैं। मैंने एक ओर तो उन सौभाग्य-शाली विदेशी गोरों को देखा है जो भक्तिपूर्वक गगा के ठंडे जल में उतरकर डुबकी मारते हैं, और दूसरी ओर ऐसे दुर्भाग्यशाली हिन्दुओं को भी देखा है जो गंगा-जल को छूते तक नही, गगातट पर बने देव-मन्दिरो मे झाँकते तक नहीं, पर गंगा के किनारे उल्लसित हो घूमते रहते हैं। इस विसगतता का क्या

कारण है—एक मे श्रद्धा का सद्भाव और दूसरे में श्रद्धा का अभाव। पुण्य से श्रद्धा उत्पन्न होती है और पाप से अश्रद्धा।

गगोत्री से केदारनाथ तक लगभग एक सौ पन्द्रह मील की दूरी है तथा हृषीकेश से सीधे केदारनाथ तक करीब एक सौ तीस मील की। गंगोत्री से केदारनाथ का मार्ग कुछ कठिन तो है, पर बहुत ही रमणीय है। इसी मार्ग पर पन्द्रह हजार फुट से अधिक ऊँचाई पर 'पब्वाली' नामक एक छोटे से घाट को पार करना पड़ता है।

'पब्वाली' सर्वत्र कमनीय काननो से आच्छादित एक सुन्दर पर्वत है। यहाँ मानो अनन्त सुषमा की अनवरत वर्षा हो रही है। यहाँ कई ऐसे पक्षी भी है जो हिमालय के अन्य स्थानो मे दुर्लभ हैं। यहाँ कई विचित्र प्रकार के पुष्प भी दिखायी देते है। मै अब भी स्पष्ट रूप से स्मरण कर रहा हूँ कि जब मैंने उस मार्ग पर यात्रा की थी तो पक्षियो का मनोहर गान सुनते तथा विविध वर्णों के पुष्पों की आभा देखते-देखते पहाड़ पर चढ़ने के शारीरिक कष्ट को बिलकुल भूल सा गया था। फिर जब इस घाट के उच्च शिखर पर पहुँच गया था, तब तो मैने अलौकिक सुख का अनुभव किया था। वह दिव्य स्थल प्रकृति-निरीक्षकों के हृदय-तल में प्रचुर प्रमोद-रस की वर्षा करता है। इस स्थल का दर्शन मैंने बालकों के समान बड़ी कुतूहलता के साथ किया था। उत्तर की ओर अनन्त रजत-पर्वतो की पंक्तियाँ थीं। दक्षिण की ओर हिन्दुस्तान के मैदान तक फैली हुई रोचक वर्ण की छोटी-छोटी शैल-मालाएँ थीं। उधर घाट के ऊपर भी ऊँचे-ऊँचे पर्वत थे। वे स्थिर भाव से ऐसे खड़े थे जैसे दृढ़ ध्यानमग्न एकनिष्ठ योगी हों। सचमुच वह दृश्य अत्यन्त हृदयहारी थी।

इस घाट को पार करने पर थोड़ी ही दूर पर 'त्रियुगीनारायण' नामक प्रसिद्ध पुण्यधाम आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धाम भी प्राचीनकाल मे तपोनिधि ऋषि-पुंगवों की निवास-भूमि रहा होगा। 'महाभारत' में ऐसा विवरण मिलता है कि युधिष्ठिर आदि अपनी बदरीकाश्रम की यात्रा के समय इसी विशिष्ट धाम मे भी रहे थे। हिमालय की ऐसी उच्च भूमियों के दर्शन करने पर, जहाँ ऋषि लोगो ने गाढ तपश्चर्या तथा सूक्ष्म आध्यात्म-चिंतन में अपना जीवन बिता[illegible] था, किस भारतीय का हृदय नाना प्रकार की उत्कृष्ट भावनाओं से न [illegible] ईराएगा ? यहाँ भी अनेक देव-मंदिर हैं, जिनमे पुजारी निवास करते है [illegible] कि स

यहाँ मे [illegible] देखने [illegible]चे उतर कर गगा के किनारे से एक मार्ग ऊपर

वस्तुओं के प्रति प्रेम का नाम भक्ति है। निकृष्ट जीवों के प्रति प्रेम का नाम दया है, और समान जीवों के प्रति प्रेम स्नेह कहाता है। देवता और ईश्वर के प्रति चित्त को पिघला देने वाला अनुराग विशेष ही तो भक्ति है। ईश्वर-चरणों में शुद्ध भक्ति पैदा होने से ही मनुष्य-जन्म कृतार्थ एवं चरितार्थ होता है।

५. | बदरीनाथ

सन् १९२४ में मैंने पहले-पहल केदारनाथ से बदरीनाथ की यात्रा की थी। उस यात्रा में मैं बहुत दिनों तक वहाँ नहीं रह सका था। परन्तु सन् १९३० में दूसरी बार तथा सन् १९३१ में तीसरी बार हृषीकेश से सीधे बदरीपुरी जाने और उन अवसरों पर वहाँ कुछ महीनों तक तपोवृत्ति में निवास करने का मुझे सौभाग्य मिला।

बदरीकाश्रम आदि हिमाद्रि-शिखरों में विराजित एक पुण्यधाम में रहते हुए मुझे सदा यही प्रतीत होता था कि माया की क्रियाशक्ति सर्वत्र समान रूप से कार्य कर रही है। प्रशांत, एकांत और निगूढ़ स्थानों में भी यह क्रिया-शक्ति प्रक्षीण दिखायी नहीं देती। तृण, पौधे, वृक्ष और लताएँ फल-फूल रही हैं; पर्वतों से जल-धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं; नदियाँ बह रही हैं, वायु चल रहा है; सूर्य प्रकाशित हो रहा है। जब जड़-वर्ग यों सर्वदा व्यापारोन्मुख है तो चेतन-वर्ग की बात ही क्या कहनी है? पक्षी उड़ रहे हैं, चहक रहे हैं; पशु मैदानों में विचर रहे हैं, विहार कर रहे हैं, विश्राम कर रहे हैं। मनुष्य भी अपने-अपने कामों में संलग्न है। सर्वत्र कर्म ही कर्म है। कर्म वस्तुतः संसार का सहज स्वभाव है। क्रिया-शक्ति अर्थात् प्राण-शक्ति, सभी शरीरों अनवरत चलाती रहती है। अकर्मण्य भाव होता ही नहीं। इच्छाहीन उपशांत निर्विकल्प भाव कठिन होता है। कर्म देहेन्द्रिय का व्यापार है। विषयजन्य सुख-दुःख का जनक है। इस कर्मरूपी धारा का अतिक्रमण किये बिना निर्विकल्प भाव के बिना स्वरूप-सुख भासित नहीं होते। लेकिन कर्मधारा को पार करना माया का अतिक्रमण करना है। किन्तु माया का अतिक्रमण कर सकना कठिन है: "मम माया दुरत्यया"। बदरीकाश्रम जैसे पवित्र स्थानों में भी माया का अतिक्रमण करके परम ब्रह्म की प्राप्ति कर सकना कितना ही दुर्लभ और दुष्कर होता है। चाहे कोई महात्मा कितना ही समाधि में लीन हो तो भी इसके मन व इन्द्रियों को प्रचण्ड शक्ति महामाया मन्द लगती है। एकनिष्ठ ज्ञानी-*विरागी और महाभाग्यवान् व्यक्ति को छोड़ कर और कोई व्यक्ति चाहे* कहीं भी चला जाए, कितने ही ऊँचे हिम-शृंग पर पहुँच जाए—तो भी विश्व

मोहिनी माया शक्ति का वह अतिक्रमण कर नाम-रूप-क्रिया-शून्य समाधि में सलग्न नहीं हो सकता।

बदरिकाश्रम नर-नारायण नामक पर्वतों के बीच अलकनन्दा-तट पर विराजित है। कहा जाता है कि नर और नारायण ने यहीं तपस्या की थी। इन्हीं के नाम पर इन पर्वतों का भी यही नाम पड़ गया है। प्राचीनकाल में यहाँ भी ऋषि लोग रहा करते थे। यज्ञ आदि रचाते थे। किन्तु अब केवल कुछ देव-मंदिर हैं, जिनमें पुरोहितों और यात्रियों के लिए निवास-स्थान बने हुए हैं। खाद्य-पदार्थ आदि की बिक्री के लिए छोटी-छोटी दुकानें हैं। यहाँ ऐसे ब्राह्मण भी हैं जो यात्रियों से दान-दक्षिणा के लिए झगड़ते रहते हैं। बदरिकाश्रम का यह रूप प्राचीन रूप से कितना भिन्न है।

बदरीवन के दो मुख्य तीर्थ हैं—'तप्त-कुण्ड' तथा कुछ दूर पर स्थित 'ब्रह्मकपाली'। बदरीनारायण का मंदिर भी उन्नत स्थान पर तप्तकुण्ड के पास सुशोभित है। मंदिर में *'श्रीनारायण'* के पास *बदरीवन के पूर्व-निवासी* 'नर-नारायण' भी प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त एक छोटे मंदिर में श्रीशंकराचार्य की मूर्ति प्रतिष्ठित है। किन्तु यहाँ व्यास, शुक, गौडपाद आदि ऋषियों के नाम पर बने हुए मन्दिर नहीं हैं, जो कि यहाँ आकर रहे थे।

बदरीनाथ का मंदिर अलकनंदा के दक्षिणी किनारे पर है। इसके अन्दर, बदरीनारायण की सन्निधि में पहुँच कर, उस मंजुल दिव्य-मूर्ति के दर्शन करते ही, मन की सारी मलिनता दूर हो जाती है। मन अत्यन्त आनन्द को प्राप्त कर भक्ति में लीन हो जाता है। बदरीनाथ की मूर्ति विविध भूषणों से विभूषित है। कई रंगों की कमनीय कुसुम-मालाओं से अलंकृत देदीप्यमान है। उसके देखते ही मन उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। बदरीनाथ के मंदिर में मैंने जब एक केरलीय नंपूतिरी को मुख्य पुजारी के पद से देवताराधना करते देखा तो मुझे केरलीय की आँखों के आगे गुरुवायूर[1] आदि (केरल) के मन्दिर का दृश्य नाच उठा, और मेरा मन अभिमान और आनंद से पुलकित हो उठा। इसी मंदिर के पुजारी जी को 'रावलजी' कहा जाता है। मैं इन्हीं पुजारी जी के साथ बदरीनाथ की पूजा के विषय में, केरल के साथ इस प्रकार की पूजा के चिरन्तन सम्बन्ध के विषय में, तथा बदरीनाथ के इतिहास के विषय में कभी-कभी चर्चा किया करता था। एक केरलीय होने के कारण वस्तुतः मैं बड़े

---

१. गुरुपवनपुर

गर्व के साथ श्री शंकरपादों की महामहिमा का वर्णन किया करता था। यह प्रसिद्ध है कि बदरिकाश्रम मे नारायणगिरि के नितंब देश पर श्री शंकराचार्य ने ही श्री नारायण-मूर्ति की स्थापना की थी। किन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि शंकर का सजातीय एक नपूतिरी कब मे बदरीनाथ में पूजा करने लगा था। अहो! शंकर का चरित्र कितना अलौकिक तथा अद्भुत है। श्री शंकर की विचारणा शक्ति तथा कर्म-कुशलता अतुलनीय थी। इस ससार मे उनके समान एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, अलौकिक क्षमता-सम्पन्न, दार्शनिक, धुरंधर तथा महोद्यमी. कर्मवीर, धर्म-योद्धा बहुत कम अवतार लेते हैं। जब हम देखते है कि उन्होने अपनी अल्प आयु मे कई प्रौढ़तर ग्रंथो की रचना की, अनेक गुरु-गम्भीर धार्मिक कृत्य किये, तो ऐसा आभास होने लगता है कि वह शंकर तो साक्षात् शंकर के अवतार थे। किन्तु खेद तो इस बात का है कि इतने बडे महात्मा, सनातनधर्म के उद्धारक और जगद्गुरु श्री शंकर की महिमा को तथा उसके जीवन-वृत्त को भारतवर्ष के अधिकतर लोग भलीभांति नही जानते। वस्तुत. इसके लिए हम भारतीय जनो की अपेक्षा वर्तमान शिक्षा-क्रम ही अधिक उत्तरदायी है। मातृभूमि के महान् पूर्वपुरुषो के शोभायमान जीवन-चरित्र को समझने और उनके पुण्यमय जीवन को आदर्श बनाने मे जो शिक्षा प्रोत्साहन नही देती, वह यथार्थ शिक्षा नही हो सकती।

इस प्रकार बदरिकाश्रम में केरलीय पूजाक्रम आदि बातो को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि 'बदरीश' भी गुरुवन-पुराधीश के समान केरलीयो का ही परदेवता है। फिर भी, प्राचीनकाल के समान केरलीय अब भी अति दुर्लभ रूप में ही बदरिकाश्रम जाकर बदरीश के दर्शन कर पाते है। केरलीयो के लिए भारतवर्ष के दक्षिणी छोर से हिमगिरि-शिखर की ओर यात्रा करना अब भी दुष्कर बना हुआ है। यद्यपि यहाँ की यात्रा कठिन है। किन्तु यहाँ पहुँचकर अन्त.करण की शुद्धि हो जाती है। इहलोक और परलोक को सुधारने की कई उत्कृष्ट शिक्षाएं भी यहाँ हमे मिलती हैं। यह उत्तराखण्ड ईश्वरीय तेज से अत्युज्ज्वल रूप मे शोभित है। इसके दर्शन से वासनाएं मिट जाती हैं। नास्तिक मन भी आस्तिक बन जाता है। यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य प्रशांत, गंभीर और नितांत निश्चल है। यहाँ के वातावरण से कितने मलिन मन शुद्ध तथा ध्यान-निरत बन जाते है। वस्तुत: यह हिमालय-प्रदेश ज्ञान-भूमि है; दक्षिणी प्रदेश के समान कर्मभूमि नहीं है। यहाँ यह विश्वास दृढ हो चुका है कि ब्रह्म को छोड़कर और कोई वस्तु नही है। सौहार्द और सम्भावना का विचार

यहाँ अधिक रूप से प्रचलित है। वस्तुतः ऐसे विचार यहाँ के लोगों को अपने पूर्वज ऋषि-मुनियों से ही मिले है। केवल इस पर्वत-भूमि में ही नहीं, सारे उत्तरभारत मे, यहाँ के लोग केरलवासियों की तरह एक-दूसरे को 'हा-हा, हू-हू' करके दुत्कारते नही है। इससे कोई यह गलत धारणा न कर बैठे कि उत्तरभारत मे वर्णाश्रम-व्यवस्था बिलकुल है ही नही। इतना ही समझ लेना चाहिए कि वे जितने कर्कश रूप मे, जितने कुत्सित रूप मे और जितने पैशाचिक रूप मे केरल में प्रचलित है, उतने रूप मे यहाँ दिखायी नही देती।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दक्षिणावधि केरल से लेकर उत्तरावधि बदरिकाश्रम की ओर यात्रा करनेवाला एक विचारशील यात्री सांस्कृतिक दृष्टि से कितना लाभ प्राप्त कर सकता है—यह बताने की आवश्यकता नही है। वह विभिन्न जनपदो और उनमे हिन्दुओ के बीच के मत-भेदो, आचार-भेदो, जन-भेदो, भाषा-भेदों आदि कई प्रकार के भेदो का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और इन सबमे बढकर एक लाभ उसे और होता है कि इन्ही भेदो मे अभेद रूप से व्याप्त आर्य-सस्कृति की एकरूपता को वह स्पष्ट रूप से जान लेता है, तथा इस प्रकार से अपनी मातृभूमि की विश्वतोन्मुख चिरतन महिमा का अभिमान के साथ अनुचिंतन कर सकता है। शिव-नाम सब कही पूज्य है। राम-नाम को सब पसन्द करते है। सवेरे उठकर सब कही लोग सूर्य भगवान् की स्तुति करते हैं। सन्यासी, ब्राह्मण और अतिथि कन्याकुमारी तथा बदरिकाश्रम मे समान रूप से आदर के पात्र बन जाते हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न भाषाओं मे, भिन्न-भिन्न भोजनो द्वारा और विभिन्न आचरणों के साथ वे सत्कृत होते हैं, तथापि वे सर्वत्र पूजनीय ही हैं। सनातनधर्मियो के लिए यह अभिमान का विषय है कि प्रभावशाली ऋषि-मुनियो ने भारतवर्ष मे जिन सनातन धर्म-तत्त्वो का प्रचार किया था, वे कितने ही विप्लवों-परिवर्तनो के होते पर भी, अटूट बने हुए है। प्रस्तुत यात्रा का यह भी एक प्रमुख प्रयोजन है कि रामेश्वर से बदरीनाथ तक यत्र-तत्र वर्तमान अनेक पुण्यधामो और वहाँ पर विराजमान साधु-महात्माओ के दर्शन कर सकते हैं, तथा उनके साथ अति रहस्य रूप से अध्यात्म-विद्या के एक-एक विषय की चर्चा कर सकते हैं।

बदरीनाथ मदिर से लगभग एक मील उत्तर की ओर 'गोडपाद शिला' नामक एक शिला है। यह शिला बहुत बड़ी तो नहीं है, पर मसृण और मनोहर है। यह शिला अलकनदा के जल-प्रवाह मे स्थित है। कहा जाता है कि यही शिला शुक के शिष्य गोडपादाचार्य का प्यारा चिन्तन-स्थान थी।

यह तो प्रसिद्ध है कि व्यास तथा शंकर ने अपने सब मुख्य ग्रंथ बदरिकाश्रम में ही लिखे थे। ऐसे ही यह विश्वास किया जाता है कि गौड़पाद ने भी बदरिकाश्रम में इसी शिला पर बैठ चिन्तन करते हुए माण्डूक्योपनिषद् के विवरण-रूप कारिकाओं की रचना की थी। एक परम्परा-प्रसिद्ध बात यह भी है कि श्रीशंकर गौड़पाद से बदरिकाश्रम में मिले थे। गौड़पाद ने उस समय स्वरचित माण्डूक्य कारिकाएं श्री शंकर को दी थी, ताकि वे गौड़पाद के विचारों की व्याख्या करते हुए उन पर अपना भाष्य लिख सकें। भारत माता के ललाट पर कुंकुम-तिलक के समान सुशोभित उस गौड़पाद-शिला पर मैं कभी कभी शाम को अकेले जाकर बैठता था और उस समय मेरा मन भक्ति तथा गर्व से प्रफुल्लित हो जाता था।

: २ :

महाभाग, वीरवर, धर्ममूर्ति युधिष्ठिर आगे ही आगे कदम बढ़ाते हुए जिस पुण्य देश से इन्द्र-सारथी मातलि द्वारा स्वर्ग की ओर ले जाये गये, वह 'स्वर्गारोहिणी' नामक प्रसिद्ध दिव्यभूमि बदरीनाथ से पन्द्रह-सोलह मील पर स्थित है। यह प्रसिद्ध है कि वे बदरीनाथ के रास्ते हिमाद्रि के ऊपर चढ़ने गये थे। जब मैं बदरीनाथ में था, तब आषाढ़ मास में मैंने उस मार्ग से यात्रा की थी। वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य की सुषमा ही नहीं, पौराणिक महापुरुषों के प्रति श्रद्धा-भक्ति भी मुझे ऐसे दुर्गम प्रदेशों का दर्शन करने की प्रेरणा देती थी।

जिस पर्वत की पूर्वी तराई में बदरीपुरी विराज रही है, उसी पर्वत की पश्चिमी तराई से ऊपर की ओर चढ़ते जाने पर 'नारायण पर्वत' नामक स्थान पर पहुँच जाते है। बदरी-मंदिर से अलकनंदा के किनारे-किनारे विशालता से फैले हुए मैदान से होकर करीब तीन मील तक सीधे उत्तर की ओर यात्रा करें तो वहाँ 'माना' नामक एक ग्राम आ जाता है। यद्यपि अब यह ग्राम कुछ अशिक्षित कृषकों और व्यापारियों का निवास-स्थान है, तथापि वहाँ ऐसे चिह्न भी मिल जाते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि पूर्वकाल में यह प्रदेश ऋषि-मंडलियों से मंडित होगा। केशवावतार बदरीनारायण महर्षि जिस स्थान पर विराजमान थे—वह व्यास-गुहा, महाभारत आदि ग्रंथों की रचना के लिए उन्होंने गणेश का आह्वान करके जहाँ पूजा की थी—वह गणेश-गुहा तथा श्रीकृष्ण के आदेशानुसार मुचुकुन्द राजा अन्तत. जहाँ रहते थे—वह

मुचुकुन्द-गुहा, तथा अन्य कई रमणीय गुफाएँ इस गाँव के पास आज भी विद्यमान हैं। वैशाख से कार्तिक तक के महीनों में कई साधु-महात्मा इन्ही गुफाओं में आकर तपोवृत्ति में रहा करते हैं।

पश्चिमोत्तरी हिमसंपात से बहती आनेवाली अलकनंदा तथा सीधे उत्तर की ओर से देवसरोवर से निकल जानेवाली सरस्वती का संगम यह पुण्य-स्थान पुराणों में 'केशव-प्रयाग' कहलाता है। इस केशव-प्रयाग से सरस्वती के किनारे से अठारह हजार फुट ऊपर स्थित 'माना पास' को पार करते हुए तिब्बत की ओर एक मार्ग जाता है। उस मार्ग को छोडकर अलकनंदा के किनारे से सीधे पश्चिम की ओर कुछ दूर यात्रा करें तो वहाँ 'वसुधारा' नामक प्रसिद्ध तीर्थस्थान आ जाता है। *हिमाच्छन्न शिखर से ऊँची आवाज के साथ* गिरनेवाली दो जलधाराएँ 'वसुधारा' कहाती है।

'वसुधारा' से हिम-सेतु का अतिक्रमण करके, अर्थात् अलकनंदा नदी के ऊपर विशाल रूप में फैली हुई हिम-शिलाओं से होकर, उस सुर-नदी के पार पहुँचकर कुछ दूर पश्चिम की ओर प्रयाण करें तो वहाँ 'लक्ष्मीवन' नामक एक अति सुन्दर स्थान आ जाता है। लाल रंग की छाल से ढके भूर्जवृक्षों, रंग-बिरंगे विकसित कुसुमों से भरे छोटे-बडे नाना प्रकार के पौधों से परिपूर्ण उस वन की शोभा को देखकर यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि यह वन साक्षात् लक्ष्मीदेवी का विहारोद्यान है। परमात्मा के कर-कौशल के विषय में सोचते-सोचते, तथा उस उपवन का सुषमा-विलास देखते-देखते मेरा मन अत्यधिक आनंदित हुआ था। कई पुष्पों को तोडकर मैंने उन्हें श्रद्धा और उत्साह के साथ सूंघ लिया और सिर पर रख लिया। यह तो सर्व-विदित है कि हिमाच्छन्न हिमगिरि के शिखरों पर जब हिम पिघलता है तो यहाँ आषाढ, श्रावण और भाद्र मासों में कई प्रकार के दिव्य पौधे उत्पन्न होते हैं जो मैदानी इलाकों में देखने को भी नहीं मिलते। यही पौधे जब पुष्पित हो उठते है तो केवल मनुष्यों के ही नही, अपितु पशुओं के भी मन को आकृष्ट कर लेते हैं। *अज्ञ लोगों के लिए तो ये केवल साधारण पौधे होते हैं, किन्तु विज्ञ जनों के लिए* ये दिव्यौषधियाँ है।

यहाँ से नारायण पर्वत के पश्चिमी पार्श्व से होकर दक्षिण की ओर जाना है। यहा से ऊपर मार्ग का कोई चिह्न नही दिखायी पड़ता। पाषाण-संचयों और हिम-संहतियों का सामना करते हुए ऊपर चलते जाना है। अत्युन्नत नारायण पर्वत के शिखर से कितनी अत्यंत मनोहारी जलधाराएँ यात्रियों के

मन को हठात् आकृष्ट कर लेती हैं। इन प्रपातों को सनातन-धर्मी हिन्दू लोग न जाने कितने युग-युगों से पवित्र तीर्थ समझते आ रहे हैं।

× × ×

अहा! युधिष्ठिर का वैराग्य लोक-विलक्षण है। ज्यों-ज्यों यह विचार आता है कि राजसिंहासन का सुखानुभव करनेवाले कोमल-गात्र पाण्डु-पुत्र एकाकी होकर, इतने दुर्गम तथा भयानक स्थानों से होकर कैसे चढ़े होंगे, त्यों-त्यों आश्चर्य बढ़ता जाता है। अहो! वैराग्य की महिमा अपार है। वैराग्य के उदय के साथ ही सुकुमारता और कठिनता में, दुर्बलता और प्रबलता में भीरुता और शूरता में तथा दुःख और सुख में कोई अन्तर नहीं रहता। वैराग्य दुष्कर महाकार्यों को भी सुकर बना देता है। लौकिक विषय में तृष्णा के अभाव को वैराग्य कहते है।

इस प्रकार अशेष विषयों मे वितृष्णा को पा जाने वाला व्यक्ति ससार में विरला ही दीख पड़ता है। तृष्णा का जन्म अनेक कारणों से होता है। यदि एक निमित्त न हो तो दूसरा निमित्त तृष्णा की उत्पत्ति करता है। अर्थात् एक पदार्थ की तृष्णा शान्त हो तो दूसरे पदार्थ की तृष्णा उदित हो जाती है। यदि स्त्री-तृष्णा नष्ट हो तो धन-तृष्णा प्रज्वलित रहती है। धन-तृष्णा उपशात दीखती है तो शारीरिक सुखों को भोग करने की तृष्णा जाग उठती है। देहासक्ति शान्त होती है तो यश और प्रतिष्ठा की तृष्णा एक सिंहनी के समान हृदय-गह्वर मे गरजने लगती है। ससार मे ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो काम-किंकरता मे मुक्त होने पर भी धन के पीछे दिन-रात दौड़ते-फिरते हैं, अथवा कामिनी-कंचन की आशा छोड़ देने पर भी शारीरिक मोह मे पड़े रहते है। ऐसे लोग भी ससार में दुर्लभ नहीं हैं जो जीवन की इच्छा को छोड़कर आदर-प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसकी प्राप्ति के लिए भगीरथ प्रयत्न करते है। यश की आकांक्षा बड़े-बड़े विवेकी विद्वानों को भी मोहित कर देती है। नाम-महिमा के प्रकृतिसिद्ध लोभ को रोक लेना सामान्य पुरुष के लिए सभव नही है। सब कुछ जीता जा सकता है, पर आत्म-महिमा फैलाने की इच्छा को—संस्कार-जन्य रूप से स्वत:प्रेरित यशोभिलाषा को—जीतना कठिन है। यश की अभिलाषा एक विवेकशील धीर पुरुष के लिए महान् शत्रु है।

जो लोग यह मानते हैं कि कीर्ति-कामना सामाजिकाभिमान अथवा देशाभिमान अथवा धर्माभिमान के समान एक शुद्ध भावना है, वस्तुत: वे मानव-प्रकृति से अनभिज्ञ हैं। जो व्यक्ति देशीय या धार्मिक कार्य में इसलिए सलग्न

रहते है कि उनकी प्रतिष्ठा बढ़े, वे सच्चे देशाभिमानी या धर्माभिमानी नहीं हो सकते। यद्यपि ऐसे लोग देश तथा धर्म की उन्नति को अपने प्रयत्न का फल समझते हैं, तथापि ये लोग आन्तरिक रूप से अपनी उन्नति को ही लक्ष्य में रखकर ऐसे काम करते है। परन्तु परमात्मा सभी अंत:करणों का साक्षी है। वही यह निश्चित रूप से जानता है कि कौन मनुष्य कामनापूर्वक काम कर रहा है और कौन निष्काम भाव से। इस विषय में मनुष्यों का ज्ञान अनिश्चित है। कामना अंत करण का धर्म है। यही कारण है कि वह अति सूक्ष्म तथा इन्द्रियों के लिए अगोचर है। ऐसे अप्रत्यक्ष इच्छादि धर्मों का निर्णय कुछ बाह्य-लक्षणों को चिह्न बनाकर अनुमान के द्वारा किया तो जाता है, किन्तु फिर भी यह नियम नहीं हो सकता कि वह निर्णय सदा निर्दोष ही होगा, वह प्राय: भ्रान्त ही होता है। आइए, अब पुनः वैराग्य की ओर आएँ।

किन्तु जो वैराग्य, तत्त्वज्ञान जन्य नहीं होता, लौकिक कारणों से उत्पन्न होता है, वह सुस्थिर, सुदृढ़ या सफल नहीं हो सकता। युधिष्ठिर का वैराग्य विचार-जन्य था। बंधुओं की मृत्यु के कारण, तथा उस मृत्यु के लिए स्वयं हेतु बन जाने के कारण, धर्ममूर्ति युधिष्ठिर का मन विचारोन्मुख बन गया। राज्य, धन, पिता,पुत्र आदि सांसारिक विषयों की असारता, ऐसे असार विषयों के निमित्त सामान्य लोगों द्वारा किये जाने वाले कठोर कर्म तथा इनसे भोगे जानेवाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुख आदि—सब के बारे में युधिष्ठिर ने गहन विचार किया। परिणामत राज्य, धन और तज्जन्य सुखों से उनका मन विमुख हो गया। राजाडंबरो में भी उन्हें बड़ी जुगुप्सा (घृणा) हुई। उनकी बुद्धि सच्चे वैराग्य-पद पर पहुँच गयी। उन्होंने सर्वस्व-त्याग कर संन्यास स्वीकार करके वनांतर में जाकर एकासन पर बैठ कर अपने शरीर को शोषण के द्वारा नष्ट करने का मन ही मन निश्चय कर लिया। उन्होंने भीम आदि भाइयों, श्रीकृष्ण प्रभृति सखाओं और व्यास प्रभृति गुरुजनों से भरे राजदरबार में अपने निर्णय की उद्घोषणा कर दी। जब भीमसेन आदि भाइयों ने उनकी संन्यासेच्छा पर इस प्रकार आक्षेप किया कि—

> यदि सन्न्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात्।
> पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः॥

—"यदि केवल संन्यास लेने से कोई राजा सिद्धि प्राप्त कर सकता है तो बिना किसी कामना या व्यापार के पर्वत तथा वृक्ष कभी के सिद्धि पा सकते थे", तो श्रुति-युक्तियों के प्रमाण देकर युधिष्ठिर ने उनका खंडन किया। किन्तु

फिर भी वे श्रीकृष्ण और श्रीवेदव्यास के प्रेममय उपदेशो को अस्वीकार नही कर सके। इसलिए उन्होंने उस समय सन्यास स्थगित कर दिया, और प्रज्वलित वैराग्य-वह्नि को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना वे राज-कार्यों को सँभालते रहे।

इस प्रकार कुछ दिन बीत गये। तब उन्होंने सुना कि किन्ही आन्तरिक कारणो से यदुकुल का नाश हो गया है तथा श्रीकृष्ण परलोक सिधार गये है। अब उनका वैराग्य जो पहले से ही प्रज्वलित था पहले की अपेक्षा अधिक धधक उठा। कालरूपी काल-सर्प मे ग्रसित इस ससार की अस्थिरता तथा असारता के बारे मे वे अत्यन्त विचारमग्न हो गये। उन्होने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वह महाप्रस्थान के द्वारा लौकिक व्यापारो को समाप्त कर देगे। फिर वह महाप्रस्थान के लिये तैयार होकर चल पडे। भीम प्रभृति भाइयों तथा द्रौपदी ने भी उनका अनुगमन किया। हिमालय के हृदय-देश से वे उत्तर की ओर चले गये। नर-नारायण के तप-स्थान बदरिकाश्रम को पार कर उन्होने ऊपर की ओर प्रयाण किया।

"लीजिए, द्रौपदी जमीन पर गिर पडी"—भीम का यह वचन सुनकर युधिष्ठिर ने पीछे की ओर देखे बिना और गति को रोके बिना केवल इतना ही कहा—"अर्जुन मे उसका पक्षपात ही इसका हेतु है", और वह आगे बढ़ते गये। इसके बाद भीम ने जल्दी ही सहदेव के पतन का समाचार सुनाया। युधिष्ठिर यह उत्तर देते हुए कि "अपने समान और किसी को बुद्धिमान् न समझने का अभिमान ही उसके पतन का कारण है", निश्चिन्त रूप से वे चलते चले गये। इस प्रकार क्रमश. सभी भाइयो के गिर जाने पर युधिष्ठिर असहाय एवं एकाकी होकर इन्ही हिमावृत, महाविकट, अति कठिन हिमाद्रि-शृगो पर जहाँ केवल मनुष्य की नही अपितु प्राणि-मात्र की यात्रा निरुद्ध है—बिना पीछे की ओर देखे आगे ही आगे प्रयाण करते रहे।

देखिए, धर्मात्मज की वैराग्य-संपत्ति! युधिष्ठिर के धैर्य तथा वीरव्रत की उपमा के योग्य और कोई धैर्यवान् एव वीरव्रती व्यक्ति न तो पौराणिक चरित्रो मे और न ही आधुनिक चरित्रों मे मिल सकेगा। पुण्यात्मा युधिष्ठिर, अपने अन्तिम काल में जिस मार्ग पर इतने वैराग्यभाव तथा इतने धैर्य के साथ आगे बढ़ते चले गये, आओ उसी पुराण-प्रसिद्ध महाप्रस्थान मार्ग का हम भी अनुगमन करें।

× × ×

लक्ष्मीवन से दुस्तर प्रस्तर-मार्ग से चार पाँच मील ऊपर' जाने पर वहाँ 'चक्रतीर्थ' नामक एक छोटा-सा मंजुल सरोवर आ जाता है । यह सरोवर चक्राकार है। वहाँ से फिर दो-एक मील ऊपर की ओर 'सत्यपथ' नामक प्रसिद्ध सरोवर है तथा उस से भी ऊपर सूर्यकुंड, चन्द्रकुंड आदि कई कुण्ड हैं। ये सभी सरोवर तथा कुण्ड एक ऐसे मैदान में हैं जो वज्र के समान स्वयं प्रकाशमान है, धवल धवल हिम-संहतियों से आच्छन्न हैं, तेईस हज़ार फुट से भी अधिक ऊँचाई पर पहाड़ों के बीच विशाल बरफीली चट्टानों में ढका हुआ है तथा अति मनोहारी है। इन कुण्डों में और भी कुछ दूर बरफीली चट्टानों से होकर आगे बढ़ें तो वहाँ 'स्वर्गारोहिणी' नाम का इतिहास-प्रसिद्ध स्थान आ जाता है।

महाप्रस्थान का व्रत लिये और शारीरिक चिंता को छोड़कर आगे ही आगे कदम बढ़ानेवाले परम धीर पांडुपुत्र ने तो उधर अनायास ही अधिरोहण किया होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु साधारण लोगों के लिए इन अति भयानक तथा कभी न पिघलने-वाली हिम-शिलाओं से होकर असह्य शीत को सहते ऊपर चढ़ते जाना अति दुर्गम है। प्राचीनकाल में युधिष्ठिर के सदृश स्वर्ग की इच्छा रखनेवाले लोगों का इस दुर्गम प्रदेश में घूमते हुए शरीर-त्याग करना तो निस्सन्देह साधारण बात थी। इसी स्थान में युधिष्ठिर ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया था, तभी तो यह स्थान स्वर्गारोहिणी कहाता है। स्वर्गारोहिणी स्वर्ग पर जाने का सोपान है। इस स्थान का दर्शन करना अत्यधिक पुण्यप्रद है, वहाँ जाकर मरना स्वर्गप्रदायक है, आदि—पूर्वजों की इन पुरानी बातों को आज का शिक्षितवर्ग निरर्थक कल्पना और जल्पनामात्र कहकर टाल देता है, किन्तु इस दिव्य स्थान के अनन्य सौन्दर्य का निषेध तो वह भी नहीं कर सकता। जो तथ्य प्रत्यक्ष है उसका निषेध तर्क-कुशलता अथवा अश्रद्धा भला कैसे कर सकती है? इसी स्थान पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो चारों ओर पर्वत-खण्ड रजतगिरि अथवा कनकगिरि के समान प्रशोभित हो जाते हैं। जब पर्वत-शिखरों से हिमखण्ड गिरते हैं तो ऐसी आवाजें आने लगती हैं मानों तोपों से गोला दाग दिया गया हो।

इस प्रकार यह स्थान श्रद्धालु, अश्रद्धालु दोनों का मन हठात् आकृष्ट कर लेता है। यहाँ ईश्वरीय अखंड-विभूति के नृत्य को देखकर मेरा मन आनन्द-विमुग्ध हो गया। ईश्वरीय महिमा के विस्तार को देख-देखकर मैं मदोन्मत्त हो उठा। सच तो यह है कि ईश्वर ही हिम-संहिता के रूप में शोभायमान हैं। ईश्वर ही मनोहर सरोवरों तथा कुण्डों के रूप में सुशोभित हो रहे हैं। ईश्वर

ही महोन्नत पर्वत बनकर मेघमण्डल को चीरते हुए दिखायी देते है। ईश्वर ही इस शीत मारुत के रूप मे प्रचण्डता से चल रहे है। स्फटिक-निर्मल निर्झरो के रूप मे बहनेवाला भी ईश्वर ही है। यह जो कुछ दिखाई देता है, सब-कुछ ईश्वर ही है। समग्र हिमालय ईश्वर है। हिमालय ही नहीं, समस्त भूमण्डल भी ईश्वर है। सारा ब्रह्माण्ड ही ईश्वर है। ईश्वर को छोड और कोई वस्तु नही। ईश्वर की सत्ता मे सभी वस्तुएँ जीती है। ईश्वर की सुन्दरता मे सभी वस्तुएँ और भी अधिक सुन्दर बन जाती है। इस प्रकार हिमकूटो में, सर-सरिता में, मिट्टी-काँटो में, हवा-धूप मे, सुख-दु ख मे सर्वत्र परमात्म-महिमा का ही साक्षात्कार करते हुए मैं उस दिव्यभूमि के अकृत्रिम सुषमा-विलास का आस्वादन करता रहा।

किन्तु इस आस्वादन-महोत्सव को अधिक दिनो तक बनाये रखने मे मैं असमर्थ था। अत. उदासीन मन के साथ ही मैं वहाँ से बदरीनाथ लौटा था। श्रावण तथा भाद्रपद महीने ही वहाँ की यात्रा करने का उचित समय है। चूँकि मेरी यात्रा आषाढ मे थी और मार्गदर्शक कोई सहचारी भी साथ नही था, इसलिए अधिक आगे बढ़ने मे असमर्थ होकर स्वर्गारोहिणी आदि स्थानो का कुछ दूरी पर खडेहोकर ही मैंने दर्शन किया था। धन्य धन्य स्वर्गारोहिणी! महाधन्य महाधन्य धर्मपुत्र! आप दोनो जग मे अनन्तकाल तक विराजित रहे।

हृषीकेश से बदरीनाथ एकसौ सड़सठ मील दूर है और केदारनाथ से लगभग एकसौ पन्द्रह मील। यद्यपि केदारनाथ और बदरीनाथ एक ही हिमाच्छन्न पर्वत-श्रेणी मे पास-पास स्थित है, तथापि उस ऊँची हिमशैल-माला से चलना असभव हो जाता है। इसलिए अति दीर्घ, टेढे-मेढ़े निम्न मार्गों से चलना पड़ता है। विश्वनाथपुरी, गुप्तकाशी, बाणासुर की राजधानी—जहाँ 'उषानिरुद्ध' की घटना घटी थी, उखिमठ, दशमुख का तप.स्थान तुगनाथ—ये सभी विशिष्ट स्थान केदारनाथ के पास के मार्ग के बीच आते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि केदारनाथ के पुजारियों का निवासस्थान उखिमठ भी शंकराचार्य द्वारा स्थापित है। बारह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित तुगनाथ पर्वत कस्तूरी-मृगों तथा मोनाल पक्षियो से अलकृत है, और रमणीय वृक्षो से आच्छादित है।

हृषीकेश से मनोहारी वनातरो से होकर महाभागा भागीरथी के किनारे से मार्ग ऊपर जाता है। 'पच प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध पाँच प्रयाग बदरीमार्ग मे

लक्ष्मीवन से दुस्तर प्रस्तर-मार्ग से चार पाँच मील ऊपर' जाने पर वहाँ 'चक्रतीर्थ' नामक एक छोटा-सा मजुल सरोवर आ जाता है । यह सरोवर चक्राकार है । वहाँ से फिर दो-एक मील ऊपर की ओर 'सत्यपथ' नामक प्रसिद्ध सरोवर है तथा उस से भी ऊपर सूर्यकुड, चन्द्रकुड आदि कई कुण्ड है। ये सभी सरोवर तथा कुण्ड एक ऐसे मैदान मे है जो ब्रह्म के समान स्वय प्रकाशमान है, धवल धवल हिम-सहतियो से आच्छन्न है, तेईस हजार फुट से भी अधिक ऊँचाई पर पहाडो के बीच विशाल बरफीली चट्टानो से ढका हुआ है तथा अति मनोहारी है। इन कुण्डो से और भी कुछ दूर बरफीली चट्टानो से होकर आगे बढ़ें तो वहाँ 'स्वर्गारोहिणी' नाम का इतिहास-प्रसिद्ध स्थान आ जाता है ।

महाप्रस्थान का व्रत लिये और शारीरिक चिंता को छोड़कर आगे ही आगे कदम बढ़ानेवाले परम धीर पांडुपुत्र ने तो उधर अनायास ही अधिरोहण किया होगा—इसमे कोई सन्देह नही है, किन्तु साधारण लोगों के लिए इन अति भयानक तथा कभी न पिघलने-वाली हिम-शिलाओ से होकर असह्य शीत को सहते ऊपर चढते जाना अति दुर्गम है। प्राचीनकाल में युधिष्ठिर के सदृश स्वर्ग की इच्छा रखनेवाले लोगो का इस दुर्गम प्रदेश मे घूमते हुए शरीर-त्याग करना तो निस्सदेह साधारण बात थी । इसी स्थान से युधिष्ठिर ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया था, तभी तो यह स्थान स्वर्गारोहिणी कहाता है । स्वर्गारोहिणी स्वर्ग पर जाने का सोपान है । इस स्थान का दर्शन करना अत्यधिक पुण्यप्रद है, वहाँ जाकर मरना स्वर्गप्रदायक है, आदि—पूर्वजो की इन पुरानी बातो को आज का शिक्षितवर्ग निरर्थक कल्पना और जल्पनामात्र कहकर टाल देता है, किन्तु इस दिव्य स्थान के अनन्य सौन्दर्य का निषेध तो वह भी नही कर सकता । जो तथ्य प्रत्यक्ष है उसका निषेध तर्क-कुशलता अथवा अश्रद्धा भला कैसे कर सकती है ? इसी स्थान पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं तो चारों ओर पर्वतखण्ड रजतगिरि अथवा कनकगिरि के समान प्रशोभित हो जाते हैं। जब पर्वत शिखरो से हिमखण्ड गिरते हैं तो ऐसी आवाजें आने लगती हैं मानो तोपो से गोला दाग दिया गया हो ।

इस प्रकार यह स्थान श्रद्धालु, अश्रद्धालु दोनों का मन हठात् आकृष्ट कर लेता है । यहाँ ईश्वरीय अखड-विभूति के नृत्य को देखकर मेरा मन आनन्द-विमुग्ध हो गया । ईश्वरीय महिमा के विस्तार को देख-देखकर मैं मदोन्मत्त हो उठा । सच तो यह है कि ईश्वर ही हिम-सहिता के रूप मे शोभायमान हैं। ईश्वर ही मनोहर सरोवरो तथा कुण्डो के रूप मे सुशोभित हो रहे हैं। ईश्वर

ही महोन्नत पर्वत बनकर मेघमडल को चीरते हुए दिखायी देते हैं। ईश्वर ही इस शीत मारुत के रूप में प्रचण्डता से चल रहे है। स्फटिक-निर्मल निर्झरो के रूप में बहनेवाला भी ईश्वर ही है। यह जो कुछ दिखाई देता है, सब-कुछ ईश्वर ही है। समग्र हिमालय ईश्वर है। हिमालय ही नहीं, समस्त भूमण्डल भी ईश्वर है। सारा ब्रह्माण्ड ही ईश्वर है। ईश्वर को छोड़ और कोई वस्तु नहीं। ईश्वर की सत्ता मे सभी वस्तुएँ जीती है। ईश्वर की सुन्दरता मे सभी वस्तुएँ और भी अधिक सुन्दर बन जाती है। इस प्रकार हिमकूटो मे, सर-सरिता में, मिट्टी-काँटो मे, हवा-धूप मे, सुख-दुःख मे सर्वत्र परमात्म-महिमा का ही साक्षात्कार करते हुए मैं उस दिव्यभूमि के अकृत्रिम सुषमा-विलास का आस्वादन करता रहा।

किन्तु इस आस्वादन-महोत्सव को अधिक दिनो तक बनाये रखने मे मैं असमर्थ था। अत. उदासीन मन के साथ ही मैं वहाँ से बदरीनाथ लौटा था। श्रावण तथा भाद्रपद महीने ही वहाँ की यात्रा करने का उचित समय है। चूंकि मेरी यात्रा आषाढ में थी और मार्गदर्शक कोई सहचारी भी साथ नहीं था, इसलिए अधिक आगे बढ़ने में असमर्थ होकर स्वर्गारोहिणी आदि स्थानो का कुछ दूरी पर खडे होकर ही मैंने दर्शन किया था। धन्य धन्य स्वर्गारोहिणी! महाधन्य महाधन्य धर्मपुत्र! आप दोनो जग मे अनन्तकाल तक विराजित रहें।

हृषीकेश से बदरीनाथ एकसौ सड़सठ मील दूर है और केदारनाथ से लगभग एकसौ पन्द्रह मील। यद्यपि केदारनाथ और बदरीनाथ एक ही हिमाच्छन्न पर्वत-श्रेणी मे पास-पास स्थित हैं, तथापि उस ऊँची हिमशैल-माला से चलना असभव हो जाता है। इसलिए अति दीर्घ, टेढ़े-मेढ़े निम्न मार्गों से चलना पड़ता है। विश्वनाथपुरी, गुप्तकाशी, बाणासुर की राजधानी—जहाँ 'उषा-निरुद्ध' की घटना घटी थी, उखिमठ, दशमुख का तप स्थान तुगनाथ—ये सभी विशिष्ट स्थान केदारनाथ के पास के मार्ग के बीच आते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि केदारनाथ के पुजारियो का निवासस्थान उखिमठ भी शकराचार्य द्वारा स्थापित है। बारह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित तुगनाथ पर्वत कस्तूरी-मृगों तथा मोनाल पक्षियों से अलकृत है, और रमणीय वृक्षों से आच्छादित है।

हृषीकेश से मनोहारी वनान्तरो से होकर महाभागा भागीरथी के किनारे से मार्ग ऊपर जाता है। 'पच प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध पाँच प्रयाग बदरीमार्ग मे

प्राप्त होते हैं। इनके नाम है—देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग और विष्णुप्रयाग। ये सभी विशिष्ट तीर्थस्थान समझे जाते हैं।

हृषीकेश से बदरी की ओर यात्रा करें तो चालीस मील दूर देवप्रयाग आ जाता है। गंगोत्री से निकलनेवाली भागीरथी गंगा के साथ बदरीनाथ से बहती आनेवाली अलकनन्दा का जहाँ संगम होता है, वही पुण्यस्थान देवप्रयाग है। श्रीरामचन्द्रजी अपने बुढ़ापे में इस संगम स्थल पर बैठकर तप करते थे, जिसकी स्मृति में यहाँ श्रीराम-मंदिर की स्थापना की गयी है। कहा जाता है कि पुराण प्रसिद्ध कण्व महर्षि का आश्रम भी यहीं था। ये दोनों तीर्थनदियाँ शैल-मालाओं के बीच में होकर पाषाणों को भेदती-सी, ढकेलती-सी, ढहाती और गिराती-सी और शोर मचाती हुई प्रबलता के साथ बहती हुई यहाँ आकर मिल जाती हैं। इन तीर्थ-नदियों का यह संगम-स्थल अपने अनल्प दृश्य-वैचित्र्य के कारण यात्रियों के मन को मोह लेता है। यहाँ आकर परमेश्वर-प्रीति और तीर्थ-सेवा का अदृष्ट फल मिल जाता है। यहाँ से भागीरथी के पुण्य-तट से गंगोत्री तथा अलकनन्दा के किनारे से बदरिकाश्रम की ओर मार्ग जाते हैं। देवप्रयाग से बीस मील दूर 'श्रीनगर' नामक एक छोटा नगर बसा है।

यहाँ से आगे बीस मील पूर्वोत्तर की ओर केदारनाथ से निकलने वाली मंदाकिनी जहाँ अलकनन्दा में आ मिलती है वह रुद्रप्रयाग कहलाता है। यहाँ से आगे अठारह मील की दूरी पर पिंडरा नदी और अलकनन्दा के संगम पर कर्णप्रयाग स्थित है। प्रकृति-देवी के ये दोनों विलास-स्थान विलास-रसिकों के चित्तों को अति प्रफुल्लित करते हैं। हरे-भरे पर्वत-पार्श्वों से अलकनन्दा के प्रेम-भरे प्रणव-गान को सुनते-सुनते कुछ दूर और आगे बढ़ें तो नन्दप्रयाग पहुँच जाते हैं। वहाँ से आगे दो-तीन दिनों की यात्रा के पश्चात् विष्णुप्रयाग आ जाते हैं। विष्णुप्रयाग के निकट ही प्रसिद्ध 'ज्योतिर्मठ' स्थित है। यह प्रसिद्ध है कि ज्योतिर्मठ श्रीशंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था। यह भी कहा जाता है कि उनके शिष्यवरों में से एक शिष्य त्रोटकाचार्य ही यहाँ के प्रथम आचार्य के रूप में अभिषिक्त हुए थे। बदरीनाथ की मूर्ति की पूजा करनेवाले पुजारी केरल के नम्पूतिरि जी हैं, जो कि यहाँ छः मास से आये हुए हैं।

यहाँ से सत्रह हजार फुट ऊपर 'नीतिपास' को पार कर एक मार्ग तिब्बत की ओर जाता है। 'नीतिपास' के निकट ही द्रोणगिरि नामक हिमालय की ऊँची चोटी स्थित है। यही वह रामायण-प्रसिद्ध स्थान है जिसे मृत-संजीवनी आदि दिव्यौषधों का कोष कहा गया है। ज्योतिर्मठ से अठारह मील

दूर उत्तर की ओर बदरीपुरी है। यहाँ के गभीर शिला-शैल हृदयहारी हैं। पर्वतो को भेदती हुई, गभीर शब्द के साथ नीचे की ओर गिरती हुई अलकनन्दा का दृश्य भी अति मनोहारी है। यह तो भूतत्त्व-वेत्ताओ के लिए ज्ञातव्य है कि अलकनन्दा को इन अत्युन्नत, निविड, तथा दूर तक फैले हुए पाषाण-खण्डों के बीच में से नीचे उतर आने का छिद्र कैसे मिल गया है ? हिमालय में इसी प्रकार के अनेक दृश्य दिखायी दे जाते है जहाँ अविदार्य शिलोच्चयों के बीच छोटे-छोटे छिद्रो मे से होकर नदियाँ लुक-छिप कर नीचे की ओर उतर आती हैं।

इस तरह हृषीकेश से हिमाद्रि-शिखरो पर विराजमान गगोत्री, केदार और बदरी धामो की ओर सैर करनेवाले एक यात्री को तीर्थाटन के बहाने अत्यन्त रमणीय तथा पवित्र भू-भागों का दर्शन मिल जाता है। पुराणो मे केदारखड के नाम से प्रकीर्तित हिमगिरि के ये प्रदेश अति मनोहारी हैं, निरुपद्रव हैं। इसी खण्ड मे सुशोभित गगा और अलकनन्दा की शान्ति-महिमा संसार मे अद्वितीय है। पौराणिको ने इसी भू-खण्ड की भूरि-भूरि प्रशसा की है :

गंगाद्वारोत्तरं विप्र! स्वर्गभूमिः स्मृता बुधैः।
अन्यत्र पृथिवी प्रोक्ता गगाद्वारोत्तरं विना॥

'हरिद्वार के उत्तर के प्रदेशो को विद्वानों ने स्वर्ग-भूमि कहा है। इन देशों को छोडकर दूसरे प्रदेशो को उन्होने पृथ्वी की सज्ञा दी है।'

: ३ :

हिमालय के कई पवित्र उच्च शिखरो पर मैं अक्सर जाकर रहा करता था। उन स्थानों में जग का विस्मरण कर परमात्म-विचार मे निमग्न होने के सिवा चित्त किसी और विषय में लीन नहीं होता था। किन्तु बदरिकाश्रम मे आकर मेरा चित्त केरल भूमि को अधिक स्मरण करता है। यहाँ पहुँचकर मेरी मातृ-भूमि के बारे में कई चिन्ता-तरगें मेरे दिल मे उत्पन्न हो जाती है। अपनी मातृ-भूमि की महिमा को याद करते-करते मन प्रफुल्लित हो जाता है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि बदरीपुरी की आज की महिमा हमारी केरल भूमि की महिमा है। हमारे शकर ने—कर्म सन्यासी होने पर भी कर्मवीर बने रहनेवाले शकर ने—यहाँ आकर उस समय की बौद्ध-मूर्ति के स्थान पर नारायण-मूर्ति

की प्रतिष्ठा की थी। यदि उन्होंने मन्दिर को कायम रखने के लिए आवश्यक तथा सुचारु प्रबन्ध न किया होता तो बदरीनाथ जैसा पवित्र तीर्थस्थल हम हिन्दुओं के लिए नष्टप्राय हो जाता। शंकर हमारे केरल के थे। शंकर की महिमा यदि आज के केरलीय अच्छी तरह नहीं समझते तो यह केवल उन्हीं का दुर्भाग्य है, इससे शंकर का महत्त्व कम नहीं होता। पाक्कनार जैसे ज्ञानी, विल्वमंगलम् के समान भक्त तथा शंकर के समान आचार्य जिस भूमि में जन्मे और बड़े हुए, उस सुधन्य भूमि की महिमा का क्या कहना है ? यदि पाक्कनार और बिल्वमंगलम् केवल अपने देश में ही जाने जाते हैं तो श्रीशंकर का नाम आसेतु-हिमाचल ही नहीं, अपितु सारे विश्व में पूजा जाता है। हे मातृभूमि ! तू धन्य है जिसने ऐसे अतुलनीय, परम पूज्य, अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न महिमाशाली चिन्तकों को जन्म दिया है। तेरी महिमा मेरे हृदय में सदा आसीन रहती है।

जब मैं बदरीश मंदिर के द्वार पर बैठकर एकटक दृष्टि से श्रीनारायण-मूर्त्ति के दर्शन करता रहता था और साथ ही कभी-कभी केरलीय नंपूतिरीजी से अपनी मलयालम भाषा में बातें करता रहता था तो मुझे विल्वाद्रिनाथ एवं गुरु-पवन-पुराधीश की याद आ जाती थी। हिमाद्रि-शिखर पर हमारे केरलीय मंदिरों के ही समान एक नंपूतिरी को पूजा करना भी तो शंकर ही की महिमा है, और शंकर की महिमा में उनकी जन्मभूमि—केरलभूमि—की ही महिमा निहित है।

मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि हिमगिरि पर ग्यारह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित केरल के इस कीर्ति-स्तम्भ के विषय में केरलवासियों में से अधिकतर लोगों को जानकारी है या नहीं ? केरल-वासियो ! तुम अपनी मातृभूमि के प्रत्येक प्राचीन महापुरुष का प्रतिदिन स्मरण किया करो ! मातृभूमि की अलभ्यदुर्लभ, अध्यात्म-सम्पत्ति पर तुम अभिमान किया करो। हमें इस बात पर गर्व होना चाहिए कि इतनी अध्यात्म-सम्पन्न भूमि पर हमारा जन्म हुआ है। आज केरलीय अवश्य ही अध्यात्म-दरिद्र हो गये हैं। परमात्म-भक्ति अथवा आत्मविचारोन्मुखता आज उनमें से ज्यादातर लोगों में नहीं दिखायी देती। आत्मज्ञान से हीन मानव-जीवन, मानव-जीवन नहीं होता। आत्मज्ञान के बिना परम शांति और परम सुख प्राप्त नहीं होते। जब तक आत्मज्ञान नहीं होता तब तक सभी तृष्णा के पात्र बने रहते हैं तथा परमदरिद्र और परम दुःखी रहते हैं। अतः तुम आत्मज्ञान को प्राप्त करो। आत्मज्ञान के बिना आत्मबल तथा आत्मबल के बिना सर्वप्राणि-सहज दुर्बलताओं का नाश संभव

नही है । आत्मबल का शब्द यद्यपि आज हमारे चारों ओर मुखरित होता रहता है, तथापि लोग इस पर विचार नही करते कि वह आत्मबल कैसे पैदा होता है ? आत्मबल आत्मज्ञान के बिना कभी सभव नही होता ।

यदि कोई यह समझे कि आत्मज्ञान मेरे जैसे व्यक्ति मे होता है जो सन्यास लेकर बदरिकाश्रम या और कही एकान्त-निवास करता है—तो यह सोचना ठीक नही है । आत्मविचार किसी भी आश्रमी मे और किसी भी काम के करनेवालों मे हो सकता है । केवल आत्मा को सत्य तथा सभी अनात्म पदार्थों को असत्य समझना ही आत्मज्ञान है । यह आत्मज्ञान कोई गृहस्थी, कोई ब्रह्मचारी, कोई कृषक या कोई न्यायाधिपति —कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है । परिवार का पालन-पोषण करते हुए भी आत्मज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है । राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी व्यवहार आत्मज्ञान के साथ ही करो ! एक आत्मबली का कर्म अज्ञानी के कर्म की अपेक्षा कही अधिक तथा विश्वमगल के लिए अत्यत उपयोगी होगा । इसलिए तुम अपने-अपने घरो में बैठे हुए भी तथा अपने-अपने कर्मों को करते हुए भी अनात्मा से आत्मा की विवेचना कर एक अध्यात्म सम्पन्न, धीर एव तृप्त जीवन को पा लो । हमारी केरल-भूमि की पुरातन अध्यात्म-कीर्त्ति का पुनरुद्धार करो । यह दृढ निश्चय से कहो कि मैं अच्छेद्य-अदाह्य आत्मवस्तु हूँ, तथा मै तज्जन्य-हिरण्यगर्भ को भी तृणवत् करने वाले आत्मबल को पाकर लोकहित को ही लक्ष्य करके स्वकर्मों को निष्काम रूप से करता रहूँगा, तथा अपने जीवन को ऋषि-जीवन बनाकर आनन्द प्राप्त करूँगा । इस समय बदरिकाश्रम मे बैठे हुए मैं अपने केरलीय भाइयों को सक्षेप मे यही परामर्श देता हूँ ।

मुझे यहाँ लिखने का समय या सुविधा नही मिलती, फिर भी कोई एक शक्ति, अर्थात् अपनी मातृभूमि के प्रति मेरा अगाध प्रेम, मेरे अन्दर से कुछ-न-कुछ करने की प्रबल प्रेरणा मुझे दे रही है, इसीलिए इतना लिखने में समर्थ हो सका हूँ ।

: ४ :

वसुधारा बदरीनाथ से छः मील ऊपर की ओर है । यो तो रेणुकूट पर्वत के ऊपर से अनवरत बहती हुई जलधाराएँ ही मुख्यतः वसुधारा कहलाती है, किन्तु इस जलधारा का निकटवर्ती प्रदेश भी वसुधारा कहलाता है । पौरा-

णिकों की कल्पना है कि अष्ट वसुओं ने इस जलधारा के पास तप किया था, अतः इस का वसुधारा नाम पड़ा है। युधिष्ठिर का स्वर्गगमन-द्वार 'स्वर्गारोहिणी' नामक पुण्यस्थान भी यहाँ से अधिक दूरी पर नहीं है। नारायण पर्वत, रेणुकूट पर्वत, कुबेर पर्वत—इन विपुल शैलों के बीच में विराजमान इस मैदान की महिमा तथा एकान्त-मंजुलता का, अहा! मैं किस प्रकार वर्णन करूँ?

आज कर्कट-संक्रान्ति है। यहाँ वसुधारा में मेरी निवास-गुफा के समीपवासी एक गडरिये मित्र जब प्रातः स्नान तथा तिलक आदि कर आये तो मुझे इस त्योहार का बोध हुआ। केरल देश की तरह हिमगिरि-शिखर पर भी संक्रान्ति मनायी जाती है। देखिए! हमारी मातृभूमि भारत के दृढ़बद्ध सामाजिक संगठन ने कन्याकुमारी से हिमालय तक समान रूप से संक्रान्ति को त्योहार का दिन मान लिया है। प्रभात में नहाते हैं। शुभ्र वस्त्र पहन लेते हैं। मिष्ठान्न आदि पका करके देवताओं की पूजा करते हैं। उनका आहार करके स्वयं आनन्द का अनुभव करते हैं। भारतीय जन अनादिकाल से एक-संस्कृति तथा एक-समाज-निष्ठ होकर रह रहे हैं। मेरी यही कामना है कि आगे भी हम सभी अपनी देशीय महिमा को याद दिलाने वाले ऐसे आचारों का सादर अनुष्ठान करें तथा इस प्रकार एक-समान होकर एकता-बुद्धि के साथ चिरकाल-पर्यन्त जीवन-यापन करते रहें।

लेकिन इस हिमाद्रि-शिखर पर, देवस्नात पाषाण-गुहा में, मैं पुण्यतिथि संक्रान्ति कैसे मनाऊँ? संक्रान्ति का मैं कैसे उपभोग करूँ? संक्रान्ति को जानते हुए भी इस का मैं आदर न करूँ तो धार्मिक महिमा तथा देशीय महिमा के तिरस्कार का पाप मुझ पर पड़ेगा। स्वमातृभूमि में अभिमान तथा स्वधर्म में भक्ति न रखने वाला महान् कृतघ्न होता है। केरलीय एक अच्छा केरलीय बनने और भारतीय एक उत्तम भारतीय बनने का प्रयत्न करे। इसके विपरीत यदि हम एक अंग्रेज या अमेरिकी बनने का प्रयत्न करेंगे तो यह बहुत बड़ी मूर्खता होगी।

आइए, अब हम इस का सूक्ष्म निरीक्षण करें कि हिम-धवल शिखर-प्रदेशों के साथ चारों ओर चमक-दमक फैलाते हुए प्रकाशमान ये गम्भीर शिलोच्चय इस निर्जन, निर्जीव एवं निगूढ़ प्रदेशों में स्थित होकर क्या करते थे? अनवरत ईश्वर-संगीत का गान करते हैं। ईश्वरीय महिमा के बारे में पुण्यगीत मधुर रूप में तथा उच्चस्वर से गाने के सिवा मैं इनका और कोई काम नहीं देखता।

कोई इस प्रकार आक्षेप न करे कि पाषाण, मिट्टी और हिम का समूह यह अचेतन पर्वत किस प्रकार चेतन मनुष्यों के समान गायन कर सकता है ? किन्तु इनका गान सशब्द नहीं है। यह तो निःशब्द है। इनका गम्भीर भाव, इनकी अभेद्य, अचचल स्थिति तथा पशु-पक्षियों को भी प्रमोदित करनेवाली इनकी दिव्य सुषमा-महिमा ही इनका निःशब्द संगीत है। ये भले ही वाणी के माध्यम से न गायें, किन्तु इनका गान वाणी के माध्यम से किये गये परमात्म-संकीर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक मृदु, मधुर, तथा गम्भीर होता है। इन्द्रियों के माध्यम के बिना ही ये सदा स्वमहिमा से ईश्वर-महिमा की उद्घोषणा करते रहते है। लो, नितांत प्रवाहमान यह 'अलकनंदा' नामक पुण्यनदी 'वसुधारा' नामक यह जल-प्रपात क्या कह रहे हैं ? ये उच्च स्वर से उस परमात्मा की विभूति-महिमा का समधुर रूप से गान ही तो कर रहे हैं—

अस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।

जिस परमात्मा की शक्ति से छोटी-बड़ी सब सरिताएँ सदा बहती रहती है, उस सर्वशक्त स्वस्रष्टा परमात्मा का वे कृतज्ञता तथा आदर के साथ सतत संकीर्तन कर रही है।

उधर देखिए और सुनिए आकाश मे विचित्र मैनाओ का समूह सुस्वर से उस जगत-पिता परमात्मा की महिमा को गाते हुए स्वच्छन्द उड़ता जा रहा है। और इधर नाना वर्णों मे सर्वत्र विकसित ये कमनीय पुष्प इस दिव्य भूमि में क्या कर रहे हैं ? ये भी उच्च स्वर मे उस परमेश्वर की अतिशय महिमा का गुणगान कर रहे हैं। इस प्रकार इस पुण्यभूमि मे सभी चराचर पदार्थ सर्वेश्वर के ऐश्वर्य-गान मे *सदा प्रवृत्त दिखायी देते है।*

रोज की तरह प्रभात मे मैं वसुधारा मे स्नान कर उधर हरित तृणों एवं कमनीय कुसुमों से आच्छन्न उस मजुल मैदान मे धूप मे जा बैठा। अहो ! चारों ओर से सुनायी पड़ने वाले उस ईश्वरीय संगीत को मैं बड़े अभिनिवेश के साथ सुनने लगा। उस मनोहर सगीत का मैं बड़े प्रेम से आनन्द लेने लगा। सुमधुर संगीत-श्रवण के *द्वारा चित्त से सम्बन्धित परमात्म-महिमा* के माध्यम से परमात्मा के परमानन्दघन-स्वरूप का ध्यान करते-करते मेरा मन तरंगित हो उठा। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चर्वन-लेपन, शुभ्र वस्त्रधारण आदि क्रियाओं के बिना ही मेरा शरीर दर्शनीय एवं तेजोमय बन गया। मिष्टान्नों के बिना ही मेरा पेट भर गया। मुझे संसार भर के सभी भोग्य पदार्थ मिल गये। कोई अभाव न रहा। मैं आनन्द मे इतना मदोन्मत्त हो गया कि मेरा

'अहं' मिट गया। वसुधारा, हिमालय तथा जगत् के समस्त पदार्थ अस्त हो गये। मेरे लिए सभी द्वन्द्वभाव लुप्त हो गये। मैं अद्वैतानंद रूप हो गया। अहा! 'हा! आनंद! आनंद! आनंदरूप अद्वैत ही सत्य है। जब मन के विस्फुरण अस्त हो जाते हैं, तब जो वस्तु शेष रहती है, वह आनंदघन तथा सत्य होती है। हे हिमालय! तेरी महिमा का, तेरी आध्यात्मिक महिमा का, मैं कोई अन्त नहीं देखता। धन्य, धन्य तू विजयी रह! हे देवतात्मा हिमालय, तू ऐसे अनेक दिव्य पदार्थों को, जीवन में कभी न भूलने वाले पदार्थों को, मुझे प्रदान कर। तेरे ऐसे ईश्वरीय गीतों को हिमालय-निवासी मैं अनुदिन सुनता ही रहता हूँ, तो भी आज के-से दिन मेरे जीवन में विरले ही आये हैं, जब कि अत्यधिक अनुराग के साथ तेरा मधुर गीत सुन कर आत्मविस्मृत होकर मुग्ध हो जाता हूँ।

: ५ :

इतिहासकार मानते हैं कि ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में 'ब्रह्म-सूत्र' नाम से प्रसिद्ध बादरायण-सूत्र लिखा गया था। वह ऐसा युग था जबकि हमारा देश तत्त्वचिंतन मे बहुत ही सजग तथा प्रबुद्ध था। केवल हमारा देश ही नहीं, पाश्चात्य देश भी उस युग में प्रगाढ़ तत्त्व-चिन्तन मे सलग्न थे। लगभग इसी काल में, अर्थात् ई० पू० चौथी-पाचवीं शती में सुकरात, प्लेटो आदि दार्शनिक यूनान मे पैदा हुए थे और प्रपच-रहस्यों पर विचार करके कुछ तत्त्व-पद्धतियों को प्रकट कर रहे थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैसे सुकरात आदि के जन्म-स्थान, जीवन-काल आदि का पाश्चात्य मनीषियों ने निर्णय कर दिया है, वैसे व्यास-आदि के जन्म-स्थान, जीवनकाल आदि के बारे मे भारतीय मनीषियों ने प्रमाणपूर्वक कोई निर्णय प्रस्तुत नहीं किये। फिर भी पुराणों और ऐतिहासिकों के वचनों के आधार पर यह समझने मे तब तक कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन बदरिकाश्रम मे रहनेवाले एक पूज्य व्यक्ति थे, जब तक इसका बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता 'बादरायण' का नाम ही यह उद्घोषणा करता है कि वे बदरी-निवासी थे।

सरस्वती के तट में यह गुफा व्यास गुफा कहाती है। इस गुफा मे तो व्यास रहा करते थे। व्यास की महिमा तथा बदरिकाश्रम की महिमा को मैं भिन्न-भिन्न नहीं मानता। अर्थात् व्यास की कोई महिमा थी तो उसी से

बदरीवन महिमाशाली बन गया । एक पौराणिक सुप्रसिद्ध कथा का यहाँ विवरण देने की आवश्यकता नहीं है कि जिसमे इस दिव्य स्थान को नर-नारायणो का तपःस्थान तथा साक्षात् नारायण की निवास-भूमि कहा गया है, और इसी कारण इस दिव्य धाम को लोकोत्तर महिमा मिली है । इस प्रसिद्ध बात का निषेध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि बादरायण ने यही रहकर वेदान्त-सूत्र, महाभारत आदि ग्रंथों की रचना की थी । व्यास की महिमा का आदर करते हुए व्यास गुहा में कभी-कभी जाकर बैठना मेरे लिए कितना प्रमोददायक रहा है। पौराणिक लोग कई पुराण-वचनो के प्रमाण देते हुए यह समर्थन करते हैं कि केवल व्यास ही नही, बल्कि सनकादि, भृगु, नारद, शुक आदि अनेक पौराणिक ऋषि-पुंगव भी यहीं विहार करते थे ।

लीजिए, यह गौड़पाद-शिला है । गौड़पाद अलकनदा किनारे की इस शिला पर आकर बैठा करते थे । पुरखे लोग यहाँ तक कहते है कि उन्होने अपनी सुप्रसिद्ध 'माण्डूक्यकारिका' इसी शिला पर बैठकर लिखी थी। इतिहासवेत्ता कहते हैं कि गौड़पाद आठवी शताब्दी ईस्वी के आचार्य थे । उपनिषदो के आशय अद्वैतवाद को अर्थात् मायावाद को, शास्त्रीय रीति से उपपत्तिपूर्वक निर्विवाद रूप मे सबसे पहले ससार के सामने रखनेवाले गौड़पाद थे । आज के के कुछ आलोचकोका अभिप्राय है कि वे बुद्ध के अनुयायी थे । क्योकि एक तो इनका जन्म अश्वघोष, नागार्जुन आदि बौद्ध धर्म के आचार्यों के बाद हुआ; दूसरे उन्होने बौद्ध धर्म के कई दृष्टान्तो तथा सिद्धान्तो को अपने ग्रन्थो मे स्वीकार किया है तथा इनकी ग्रथ-शैली भी बौद्ध-ग्रथो की शैली के अनुकूल है । उदाहरणार्थ, नागार्जुन के ग्रथ के शून्यवाद-सिद्धात और 'लकावतार' मे दिखायी पड़ने वाले विज्ञानवाद तत्त्व दोनो को मिलाने पर माडूक्यकारिका बनी है, तथा 'अलात' (अगारा) आदि उनके दृष्टात बौद्ध-ग्रन्थो मे सुप्रसिद्ध हैं । जगत् को भ्राति-कल्पित तथा मिथ्या सिद्ध करनेवाले शकर पर भी जब कुछ प्राचीन आचार्यों ने प्रच्छन्न बौद्ध होने का आक्षेप किया है तो इसमें क्या आश्चर्य यदि मायावाद के अत्युच्च सिद्धात 'अजातवाद' का उपदेश देनेवाले गौड़पाद पर भी कुछ लोग बौद्ध होने की शका करें । दूसरे धर्मों से अपने अनुकूल कुछ सिद्धातो को स्वीकार करने मात्र से यह समझना उचित नहीं है कि ग्रन्थकार उस धर्म के अनुयायी है । जो भी हो, यह सब हमारी बात के लिए अप्रासगिक है । हम केवल यही विश्वास करें कि शुक ब्रह्म महर्षि के शिष्य तथा आचार्य-कुल-कूटस्थ गौड़पाद भी इस बदरीकाश्रम मे रहा करते थे । इन्हीं गौड़पाद के प्रमुख शिष्य

शंकराचार्य का बदरिकाश्रम के साथ सम्बन्ध था—इस तथ्य को सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। यद्यपि इस सम्बन्ध मे कोई प्रबल प्रमाण नही मिलता कि शंकर ने यहाँ रहते हुए अपने सूत्र-भाष्य आदि भाष्यो की रचना की थी, तथापि आप्त वाक्यों पर विश्वास कर लेना कहीं अधिक उपयुक्त होता है। यह जान लेने पर कि इसी बदरिकाश्रम मे महान् ऋषि-गण रहा करते थे हमारा मन आनन्द से रोमांचित तथा उल्लसित हो उठता है।

इसके अतिरिक्त प्रकृति-सुषमा की दृष्टि से भी बदरिकाश्रम संसार के दर्शनीय स्थानो मे एक है। वर्षाकालीन कई तरह के विचित्र पौधो तथा तरह-तरह के पुष्पो के साथ हरितवर्ण से भरे बदरीवन की प्रकृति-शोभा अहा! हा! दिव्य दिव्य ही कही जा सकती है। हिम-संहति की कांति इस पुण्य-धाम की प्राकृतिक सुन्दरता को और भी अधिक बढा रही है। पिछले ज्येष्ठ मास[1] की पहली तारीख से तीन दिनो तक बदरीधाम मे निरन्तर हिमवृष्टि होती रही। इससे सभी दिशाएँ धवल-धवल होकर मानो रजताच्छन्न हो गयी हैं। यह दर्शन अनुपम था। इसी दिव्य-दर्शन का मैं भी हिस्सेदार था। हिम-देवता की ऐसी विलास-महिमा को देखने का भाग्य बदरीनाथ मे इससे पहले मुझे कभी प्राप्त नहीं हुआ था।

प्रकृति ही ब्रह्म है। प्रकृति ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नही है। प्रकृति की शोभा ब्रह्म की शोभा ही है। लेकिन शुद्ध एवं अकृत्रिम प्रकृति में ब्रह्म का प्रकाश अधिक प्रकट होता है। शुद्ध हो या अशुद्ध, जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्रकृति को ब्रह्म रूप मे तथा प्रकृति-विलास को ब्रह्म-विलास के रूप मे जानता है, वही सच्चा दार्शनिक है। वह सदा ब्रह्म के दर्शन करता है। वह सर्वदा आनन्द का अनुभव करता है। फिर उसके लिए योगियों की असंप्रज्ञात समाधि से कोई लाभ नहीं होता। वह स्वयं समाधि-स्वरूप बन चुका होता है। वह तथा उसके सभी कर्म समाधि-स्वरूप ही होते हैं।

हे बदरीभूमि! तू प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न है। इन दोनों शक्तियों का अनवरत प्रसार करते हुए कोटि-कोटि दुःखी जीव-जन्तुओं पर अनुग्रह करती है। तेरी सदा जय हो।

●●

---

1. सन् १९३१ में

६. शारदा-क्षेत्र

पर्वतराज हिमालय के पश्चिमी किनारे पर हिमालय के ही अंतर्गत समुद्र की सतह से पाँच हज़ार तीन सौ फ़ुट की ऊँचाई पर लगभग चौरासी मील लम्बा तथा पच्चीस मील चौड़ा एक मनोहर मैदान है, जो विश्व-विख्यात कश्मीर देश, अथवा कश्मीर देश का मध्यांश कहाता है। यह सर्वविदित है कि इस भूभाग की समता रखनेवाले दूसरे भूभाग इस संसार में विरल है। यही पुराण-प्रसिद्ध कश्यप महर्षि की तपोभूमि है। कभी यह प्रदेश दुष्प्राप्य था, किन्तु जल की प्रचुरता के कारण यह धीरे-धीरे जन निविड़ ग्रामों एवं सस्य-सम्पन्न खेतों से परिपूर्ण एक जनपद बन गया। काश्मीर प्रदेश को पुराने कवियों ने संसार का स्वर्ग कहा है और नवीन कवियों ने भारत का 'स्विटज़रलैंड'। इतिहासइस तथ्य की घोषणा करता है कि मुगल बादशाह इससे अधिक प्यार करते थे।

हिमाच्छन्न-शिखरों की पर्वतमालाओं से आवृत इस विशाल मैदान के बीचों-बीच जेहलम नदी, जिसका पौराणिक नाम 'वितस्ता' था, मन्दगति से अमन्द सुन्दरता के साथ प्रवाहित हो रही है। काश्मीर देश की राजधानी 'श्रीनगर' इसी नदी के किनारे मैदान के बीच विराजमान है। श्रीनगर और उसके प्रांत-भाग लाल कमल आदि अनेक पुष्पों से भरे सरोवरों तथा अति विचित्र वृक्षों, लताओं एवं पौधों से परिपूर्ण हैं। यह स्थान दर्शकों की आँखों को शीतलता देनेवाले अनेक बाग़-बगीचों के लिए प्रसिद्ध है। यद्यपि श्रीनगर प्राचीनकाल में दुर्गम था, तथापि आज वाहनों के निरन्तर आवागमन के कारण सुगम हो गया है। श्रीनगर रावलपिण्डी से एक सौ छ्यानवें मील तथा जम्मू (जम्बु) से दो सौ छ मील दूर है। जब जाबवान का तप स्थान था। अब यह

यह लेख सन् १९२७ में की गयी यात्रा के आधार पर लिखा गया था। अतः इसमें वर्णित राजनीतिक परिस्थिति आज की इस परिस्थिति से भिन्न है।

काश्मीर-राजा के द्वारा शासित एक छोटे राज्य की राजधानी है।

'पीर पजल' नामक एक बड़ी पर्वतमाला काश्मीर देश को भारतीय मैदान से अलग कर देती है। इस पर्वतमाला को बहुधा पैदल ही पार करते हुए अनेकानेक हैन्दवा साधु प्रतिवर्ष गर्मी के दिनों में काश्मीर की यात्रा करते हैं। चाहे कितना ही दुर्गम हो या सुगम, और दूरस्थ हो निकटस्थ, किन्तु भारत देश मे कोई ऐसा स्थान न होगा जो साधुओं की यात्रा का विषय न बनता हो। यदि अंग्रेज और धनवान् लोग सुखवास के लिए प्रतिवर्ष काश्मीर जाते है तो साधु-महात्मा देव-दर्शन के लिए वहाँ की यात्रा करते हैं। काश्मीर के पुण्यधामों में यात्रा करने तथा वहाँ तपोवृत्ति मे कुछ दिन रहने की इच्छा से इस साधु ने भी सन् १९२७ के मई महीने मे वहाँ की यात्रा की थी। काश्मीर के मुख्य नगर श्रीनगर मे रहते हुए वहाँ की प्राकृतिक रमणीयता मेरे मन को बहुत ही आनंदित करती थी, फिर भी रजोवृत्ति वाले बहुजनो की बहुलता से मेरा एकात-प्रिय मन उस नगर मे अधिक रंजित न होता था। छः हजार फुट की ऊँचाई पर श्री नगर के निकट शंकर पर्वत का शिखर देश है, जो इसी नगर को 'श्री' प्रदान करता है। यहीं शंकरपादो से प्रतिष्ठित शिवलिंग विराजित है, इसी प्रदेश का तथा यहाँ से निचले प्रान्त का विस्तृत दिव्य-दर्शन मेरे मन को अति प्रशात तथा आनंदित कर देता था। यहाँ पर कुछ ही दिन रहकर मैंने शारदा क्षेत्र के लिए प्रस्थान किया। यह क्षेत्र श्री शंकर के पीठारोहण के कारण विश्व-विख्यात है।

श्रीनगर को छोड़ जहाँ-तहाँ एक-एक गाँव मे विश्राम करते हुए मैं सानन्द शारदा की ओर रवाना हुआ। यदि कश्मीर की वास्तविक सस्कृति देखनी हो तो इसे गाँवों म देखना चाहिए। ब्राह्मण और मुसलमान, ये दो जातियाँ काश्मीर के पुराने निवासी हैं। अन्य जातियो के लोग तो काश्मीर के गाँवों में हैं ही नहीं। अत. वहाँ ब्राह्मणो के यहाँ सब नौकर-चाकर मुसलमान होते हैं। ब्राह्मणों के घरों मे मुसलमानो को स्वतत्रता-पूर्वक व्यवहार करते देखा जा सकता है।

मैं एक बार एक गाँव में भिक्षा लेने गया। वहाँ एक वृद्धा ब्राह्मणी मुझे अपने घर की ऊपरी मंजिल पर रसोई-घर के पास ही एक स्वच्छ स्थान पर बिठाकर प्रेम से खिलाने लगी। खाने की चीजें परोसते समय दूसरी एक प्रौढ़ महिला मेरे पास, मेरे भोजन के भाजन केपास, आकर बैठ गयी। गृह-स्वामिनी ब्राह्मणी ने उस महिला को देखा तो घबराहट के साथ उसे अपनी प्रातीय

भाषा मे कहा—"स्वामीजी खाना खा रहे हैं। वहाँ से उठकर ज़रा दूर बैठ जाओ।" तभी मैं जान सका कि जिसे मैंने ब्राह्मणी समझा था वह एक मुसलमान महिला थी, क्योंकि वहाँ ब्राह्मणों तथा मुसलमानों के पहनावे मे भी कोई विशेष अन्तर नही है। उसकी बात सुनते ही मैंने कहा—"माताजी ! मेरे लिए उन्हे यहाँ से हटाने की आवश्यकता नही। उनके यहाँ बैठने से मुझे खाना खाने मे कोई आपत्ति नही है।"

और फिर, कश्मीर में मास-भोजन भी सर्वसाधारण है। तात्रिक आचार के प्रचार के कारण वहाँ के लोग कहा करते हैं कि भेडो को काटना तथा उनका मास खाना उनका धर्म है। हमारे देश मे आज भी ऐसे शुद्ध केरलीय ब्राह्मण होगे जो यह विश्वास करते हैं कि कश्मीरी ब्राह्मणो के ऐसे आचारो को कानो से सुनना तक पाप है। विचारशील व्यक्तियो के लिए यह आश्चर्यजनक है कि उत्तर-दक्षिण ध्रुवों की तरह आपस मे कभी न मिलने वाले कई विलक्षण आचार हमारे देश मे इधर-उधर प्रचलित हैं। दूसरी विचित्रता यह है कि ऐसे कई पुरखे आज भी, इस बीसवीं शताब्दी में भी, हमारे देश मे है जो यह विश्वास रखते हैं कि यों भिन्न-भिन्न देशो में दीखनेवाले भिन्न-भिन्न आचार-विचार परमेश्वर ने ही अपनी प्रजा के कल्याण के लिए नियत किये है। जो भी हो, आचार-विचार-विषयक इस रहस्य-सिद्धात का यहाँ प्रतिपादन किये देता हूँ कि परमेश्वर-प्राप्ति का हनन करनेवाले इन अशुद्ध आचारो एव विचारो को दूर करना तथा परमेश्वर-प्राप्ति में सहायक होनेवाले पवित्र आचारो तथा विचारो को हृदय मे धारण करना हमारा प्रथम कर्तव्य है।

कश्मीर के ब्राह्मण बुद्धिमान तथा प्रयत्नशील हैं। रूप-सुन्दरता के लिए वे सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। यह बात किसी भी यात्री को कश्मीर की ओर सादर दृष्टि से देखनेकी प्रेरणा देती है कि मडनमिश्र, मम्मट भट्ट, अभिनवगुप्त आदि धुरंधर पडित कश्मीर के ही ब्राह्मण थे। चूँकि कश्मीर के अधिकतर मुसलमान धर्म-परिवर्तन किये ब्राह्मण हैं, इसलिए इनकी आकृति एव प्रकृति भी उनके समान ही होती हैं।

चावल के विशाल खेतों, सदा प्रवाहमान छोटे-बड़े कई नालों, तथा मीठे फलो का वितरण करनेवाले मनोहारी वृक्षो से सुशोभित कई बाग़ीचों को पार करते हुए तथा कई गाँवो में से भी होते हुए मुझे पश्चिम की ओर साठ-सत्तर मील यात्रा करनी थी। मार्ग इतना सरल था तथा बिलकुल मैदान मे से होकर जा रहा था कि मुझे यह विस्मृत-सा हो गया था कि मैं हिमालय

खण्ड में यात्रा कर रहा हूँ।

ईश्वर का सृष्टि-क्रम वस्तुत बहुत ही विस्मयकारी है। अत्यन्त सम-विषय, पथरीले और विकटतर हिमगिरि के अन्तर्गत भी जल-सपूर्ण, सस्य-शाक-समृद्ध एव मनोहर सम-भूमि की सृष्टि करने मे भी ईश्वर पूर्णत समर्थ है। हिमालय के अत्युच्च शिलोच्चयों के ऊपर कई स्थानों पर विशाल-वर्तुल और मनोज्ञ मैदानों एव सरोवरो को देखकर उनके कर्ता ईश्वर की सृष्टि-महिमा के प्रति अति विस्मय होता है। जब कोई सुन्दर मदिर हमे दिखायी देता है तो उसके कर्ता की शिल्प-कला को देख हम चकित हो जाते हैं। मनुष्य-कर के सपर्क से कलुषित हुए बिना, केवल ईश्वर-करों से सकलित, हिमालय का हर-एक पदार्थ अपनी विलक्षणता के कारण अपने निर्माता ईश्वर तथा उनके कर-कौशल की याद दिलाता है। यदि कृत्रिम सुन्दरता मनुष्य के बुद्धि-कौशल को प्रकट करती है तो अकृत्रिम-सुन्दरता सर्वेश्वर की अघटित-घटना पटु शक्ति-विशेष की घोषणा करती है।

यो, नि सर्ग-सुन्दर ईश्वर की महिमा का स्मरण करानेवाली कई रमणीय समभूमियों को पार करने के बाद उन्नत एव दूरतिक्रम पर्वत-पक्तिया आ जाती हैं। पर्वत-पक्ति की तराई मे स्थित 'रुद्रवन' नामक इस स्थान से मुझे तीस मील तक दुर्घट-विकट पर्वत-मार्ग से उत्तर की ओर जाना था। यद्यपि मैं जानता था कि ज्येष्ठ का महीना होने से पर्वत-शिखर का सारा हिम-समूह नही पिघला होगा, अत मार्ग अभी साफ नही हुआ होगा, किन्तु मेरा चित्त उत्साह से प्रफुल्लित था। अतः कष्टों की चिन्ता किये बिना मैं शैलारोहण करने लगा। मेरे साथ एक ब्रह्मचारी भी थे। दोपहर से पहले हम शिखर-देश पर पहुँच गये। अहा! वहाँ का दर्शन विस्मयकारी था। वह स्थान सपूर्ण रूप से घनी हिम-संहति से व्याप्त दिखायी पड़ा। हम यह निर्णय करने मे असमर्थ रहे कि हिम की व्याप्ति कहाँ तक है।

एक ओर तो हम जगदम्बिका के दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित थे और इसलिए निर्भय होकर आगे बढ़ना चाहते थे, किन्तु दूसरी ओर हिम-गह्वरों को देखकर हम भयभीत भी हो रहे थे। धीर होने के साथ-साथ हम भीरु भी थे। साहस में भीरुता इतनी निन्दनीय भी नही है। इसलिए मन में उत्पन्न भीरुता से हम लज्जित नही थे।

जो भी हो, दोलायित चित्तवृत्ति के साथ किकर्तव्य-विमूढ़ होकर हम पर्वतोपरि मैदान पर थोड़ी देर बैठे रहे। हम वस्तुतः इसी प्रतीक्षा में थे कि

देखें, जगन्माता इस सकट से हमारी रक्षा कैसे करेगी। भक्तों के पीछे सदा भगवान् चलते रहते है। उनको विपत्ति-गर्त से बचाने के लिए वे हमेशा जागरूक रहते है। लीजिए, दस बारह यात्री हमारे पीछे पर्वतारोहण करके गिरि-शिखर पर हमारे पास पहुँच गये। वे सब हिम-बहुलता के कारण भयभीत थे, किन्तु हिम के पास हम यात्रियों को देखकर उत्साहपूर्ण हो गये, और हमारे पास आ बैठे। वे तीर्थ-यात्री नहीं थे। पहाडो के अन्दर मजदूरी के लिए जाने वाले तक्षक थे। वे सभी मुसलमान थे। वे भी हमारे समान इस दिशा के नये यात्री थे। इसलिए हिम का फैलाव कहाँ तक है इसका अनुमान उन्हे भी नही लग रहा था। उन्होंने हमें तथा हमने उन्हें साहस बँधाया। सबने मिलकर आगे बढने का निश्चय किया।

शारदा के करुणातिरेक पर विश्वास करते हुए तथा जगदम्बिका के चरणारविंदो का स्मरण करते हुए मैं उनके साथ उठकर आगे चल पडा। उतराई पर हिम अधिक पडा रहता है, इसलिए उसे पार करना बहुत कठिन था। बार-बार पैर फिसलकर हिम में जा पडता था। हमारे पास हिम में चलने के लिए आवश्यक सामग्री नही थी। इस कारण यद्यपि हमें कुछ अधिक कष्ट सहना पडा, तो भी परमात्मा के अनुग्रह से हम सभी एक मील की लम्बाई का वह हिम-प्रदेश जैसे-तैसे किन्तु शीघ्र ही पार कर गये।

इसके बाद दुर्गम पर्वत-प्रांतो तथा घोर वनान्तरो से गुजरते हुए हम संध्या तक कृष्णगगा के किनारे के एक विश्राम-स्थल पर पहुँच गये। कृष्णगगा प्रसिद्ध सिंधु नदी के अग जेहलम नदी मे मिलनेवाली एक उपनदी है। रात्रि को हमने वही विश्राम किया। सवेरे गगा किनारे से सात-आठ मील आगे चलकर हम एक रस्सों के बने हुए पुल पर पहुँच गये। इस पुल पर हम ज्यों ही चढे तो यह भयकर रूप से उछलने-कूदने लगा। इसे किसी प्रकार से पार कर लगभग पाँच बजे पुनीत शारदा-मदिर में हमने प्रवेश किया।

शारदा-क्षेत्र समुद्र की सतह से लगभग ग्यारह हजार फुट ऊँचाई पर स्थित अत्यन्त निगूढ़ तथा विचित्र भूमि है। ऊँचे ऊँचे बर्फीले पहाडो तथा हिंसक जतुओं से भरे हुए विपिनों से आवृत इस पुण्यधाम को देखकर एक यात्री के मन में विचित्रता के साथ-साथ भय का भी सचार होता है। वहाँ केवल एक ही घर है जिसमें मन्दिर का ब्राह्मण पुजारी रहता है, और उधर कुछ दूरी पर वनवासी मुसलमानो की झोपड़ियाँ हैं। बस इतनी यहाँ की बस्ती है।

यद्यपि आज शारदा-क्षेत्र केवल वन्य-पशुओं तथा खेती-बाडी पर निर्वाह करने वाले कुछ अशिक्षित वन्य मुसलमानों की निवास-भूमि रह गया है, तो भी कभी वह पहले अनेक उद्भट पडितों के निवास की पुण्यपुरी थी। मैं शारदा में रहते हुए प्राय मनोरञ्जनार्थ बाहर घूमने निकल आया करता था। कहीं-कहीं मिट्टी के नीचे दूर तक दबी अति पुरातन ईंटों को देखकर इतिहासकारो द्वारा स्वीकृत उक्त अभिप्राय की याद करके चकित हो जाया करता था। मैदानो के समान हिमगिरि में भी गाँवों का वनो में तथा वनो का गाँवो में बदल जाना नितान्त सम्भव तो है ही, साथ ही विस्मयकारी भी है। अस्तु !

यहाँ की यात्रा प्राय. काश्मीर के निवासी ही कुछ विशेष कालों मे करते है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रदेशो के लोग यहाँ की यात्रा प्राय. नही किया करते। इसलिए इस क्षेत्र मे बाहर से आनेवाली जनता का प्रभाव भी नही के बराबर था। मुझे यह स्थान एक भूमि के रूप मे प्रतिभासित हुआ, जहाँ मानव-लोक को साधारण व्यवहार, कोलाहल अथवा विक्षेप कुछ भी नही है। इस भूमि मे आकर मन प्रशान्त, अन्तर्मुख एव परमात्म-प्रवण होकर आनन्दित हो उठता है। अत: शारदा क्षेत्र सचमुच एक परम दिव्य भूमि है। मन्दिर के बाहरी मकान मे जाकर हम निवास करने लगे। वहाँ उस समय दु.सह्य शीत पड रहा था। किन्तु वहाँ लकडी सुलभ है, अत उसी के सहारे हम शीत को सह्य बनाते रहे।

× × ×

निरतिशय शाति ही निरतिशय सुख है। वही परमात्मा का स्वरूप है। वही परम पुरुषार्थ मोक्षपद है। यह सर्वमान्य है कि शाति को छोडकर चित्त-क्षोभ से सुख नहीं मिलता। लेकिन इस शातिमय मोक्षपद को कुछ लोग दु.ख-ध्वंस कहते हैं; दूसरे कुछ लोग इसे विवेक-ख्यातिजनित-स्वरूपावस्थान मानते है; और कुछ अन्य लोग इसे शून्यभाव कहते हैं तथा कुछ और लोग इसे विशेष लोको का विषय मानते हुए भोग-जनित सुखातिशय कहते हैं। शान्ति का निरतिशय भाव निर्द्वैत मे ही सभव है, न कि सद्वैत में। जब तक अपने से भिन्न कोई वस्तु विद्यमान रहती है, अर्थात् अपने से भिन्न जगत् और ईश्वर वर्तमान हैं, तब तक अपने लिये अनतिशय शाति की प्राप्ति की सम्भावना नही है। शून्य इसलिए शान्ति का रूप नही हो सकता कि वह शून्य है। सत्ता और असत्ता के लिए *समानाधिकरण भाव का न होना ही इसका कारण है। वे भ्रान्ति के* कारण अतिशय शान्ति में निरतिशयता, परम पुरुषार्थता तथा कृतार्थता की *कल्पना करते हैं। निरतिशय शान्ति द्वैत के अत्यंताभावरूप ब्रह्मवस्तु को छोड़*

कर और किसी में स्थित नहीं हो सकती। अर्थात् शान्ति की पराकाष्ठा केवल द्वैतस्पर्श से भी हीन परब्रह्म ही है। यों, निरतिशय शान्तिरूप मोक्षपद अद्वैत ब्रह्म है, सिर्फ वही सत्य है और शेष सब मायामय एवं प्रातिभासिक है—इस वैदिक पक्ष का, पूर्वपक्षों का खंडन करते हुए, संसार में प्रचार करना ही श्रीशंकराचार्यपादों के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। इस महोन्नत उद्देश्य को सफल करने के लिए ही कई देशों की भाँति उन्होंने काश्मीर देश की भी यात्रा की थी। काश्मीर देश में शारदा क्षेत्र के तार्किकों का भी दमन करके उन्होंने ख्याति अर्जित की थी और *शारदापीठ—सर्वज्ञ पीठ पर आरोहण करने की* इच्छा से वे वहाँ भी गये।

मुझे वहाँ अनायास 'शंकरदिग्विजय' का यह प्रसंग स्मरण हो आया—

'वादी गजेन्द्रों का विभेदन करनेवाला श्रीशंकर देशिकेन्द्र मृगराज, लो देखो, आ रहा है'—मार्ग में स्थित जनता को यह सुनाते हुए आचार्यपाद *शारदा मंदिर के दक्षिण द्वार पर पहुँच गये। किवाड़ खोलकर जब वे अन्दर* के पीठ पर आरोहण करने लगे तब वादियों ने आकर शंकर को रोका। विशेष शास्त्रों में निष्णात एवं विजिगीषु शंकर ने उन सबको शास्त्रार्थवाद में अनायास ही, अल्प समय में ही, हराकर अपनी इच्छा पूरी की। अर्थात् जिस सरस्वती पीठ पर केवल सर्वज्ञ व्यक्ति ही अधिरोहण कर सकता था उस पीठ पर उन्होंने आरोहण किया—

संश्रावयन्नध्वनि देशिकेन्द्रः, श्रीदक्षिणद्वारमुर्व प्रपेदे।
कवाटमुद्घाट्य निवेष्टुकामं, स संभ्रमं वादिगणोन्यरोत्सीद् ॥

किन्तु मैंने यहाँ दक्षिण की ओर कोई किवाड़ नहीं देखा। आज के इस छोटे मंदिर के केवल पश्चिम भाग में ही एक किवाड़ है। इसलिए यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि शंकर के प्राचीन मंदिर में परिवर्तन आ गया होगा। मंदिर के अंदर विशाल चक्राकृति में एक वर्तुल मसृण पाषाण-पीठ, उसके सामने श्रीचक्र तथा कुछ और मूर्तियाँ आज भी दिखायी देती हैं। पाषाण-पीठ का लेपन घृत-मिश्रित सिंदूर से किया जाता है। इसलिए उसकी तीक्ष्ण लालिमा प्रचंड रूप से प्रकाशित थी और द्रष्टा के नेत्रों को आकृष्ट तथा *मन को मोहित करती थी। वहाँ का पुजारी इन पीठादियों की पूजा करता है।*

मेरे मित्रगण मुझ पर यह आक्षेप न करें कि अद्वैत ब्रह्म पर विश्वास रखने वाला मैं मिथ्याभूत एवं अचेतन मिट्टी-पत्थर के मंदिर का वर्णन करने में क्यों अपना अमूल्य समय गँवा रहा हूँ। वस्तुतः तथ्य यह है कि उपाधियों के

बिना निरुपाधिक ब्रह्म की प्राप्ति असभव है। पत्थर मिट्टी, या और किसी भौतिक पदार्थ की ईश्वर-बुद्धि के साथ उपासना उपासक के मन को शुद्ध तथा एकाग्र बनाकर उन्नयन कर देती है। स्थूल तथा सूक्ष्म उपासनाओं के बिना हमारा चित्त अद्वैत-बोध का अधिकारी नहीं बनता। उपासना न करने वाले लोग यद्यपि ब्रह्म-विचार मे प्रवृत्त रहते हैं, तथापि उन्हें वस्तु मे स्थिर प्रतिष्ठा नही मिल सकती। स्थिर प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो उन्हें ब्रह्म-विचार के पहले उपासना मे प्रवृत्त रहना होगा। अत उपासना के आश्रयीभूत पत्थर, मिट्टी या मूर्तियो का प्रेमपूर्वक वर्णन करना प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी ही होता है। यदि भक्त लोग शालग्राम, शिवलिंग आदि की ईश्वर-बुद्धि से पूजा करने का उपदेश देते है, तो योगीजन नाभि-चक्र, हृदय-पुण्डरीक मूर्द्धा-स्थित ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य आदि एक-एक शारीरिक स्थान-भाव को पा जाने का उपदेश देते हैं, तथा साथ ही औपनिषद् अन्न (स्थूल देह), प्राण मन, आकाश तथा प्रत्येक भौतिक पदार्थ की ब्रह्म के रूप मे उपासना करने का परामर्श देते हैं। इस सबका क्या अर्थ है ? उनके इन उपदेशों का तात्पर्य यह है कि स्थूल पदार्थों की भावना से हमारा मन थोड़ा-बहुत एकाग्र होकर ही सूक्ष्म पदार्थों की भावना करने में समर्थ होता है। सभी दार्शनिक इस तथ्य से सहमत है। एक पदार्थ की सतत-भावना से यह सत्य नही हो सकता। चित्त के उत्कर्ष के लिए किसी भी असत्य पदार्थ की उपासना करने मे कोई अनुपपत्ति नही है ।

यद्यपि पदार्थनिष्ठ सत्यता तथा मिथ्या के विवेचन के द्वारा नित्य सत्यवस्तु का निर्णय करने के बाद उपासनाएँ असंभव है, तथापि उसके पहले मिथ्या-पदार्थो मे सत्यता-बुद्धि के साथ, अर्थात् ईश्वर-बुद्धि के साथ उपासना अविहित या निष्प्रयोजन नही होती। यदि ऐसा होता तो स्थूल-बुद्धियों के लिए एकाग्रता के मुख्य साधन—किसी मूर्ति, धाम, तीर्थ अथवा रमणीय प्रदेश का इतना परम्परागत प्रचार तथा समादर न होता। इस दृष्टि से यदि मेरा उक्त वर्णन मेरे पाठकों के लिए किञ्चित् भी उपयुक्त सिद्ध हुआ तो मित्रगण मुझपर कोई आक्षेप न करेंगे—यह मुझे पूर्ण विश्वास है। चित्-ज्योति किसी भी गुण तथा क्रिया मे असबद्ध है, वह सत्य है। उसी को स्वस्वरूप जानकर मैं उसी मे आमोदित रहता हूँ और यह विश्वास रखता हूँ कि मेरा लिखना-पढ़ना ही नही, साँस लेना, खाना-पीना, विहार करना, भ्रमण करना एव समाधि में रहना—यह सब कुछ अपने भाइयो के कल्याण के लिए ही हैं।

••

: २ :

शास्त्रों के द्वारा ही नहीं, नित्य के अनुभव के माध्यम से सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले लोगों के द्वारा भी यह एक मान्य तथ्य है कि ईश्वर की शक्ति 'अघटित-घटना-पटीयसी' एक विचित्र शक्ति है। यद्यपि कई असंभव बातें संसार में संभव होती दिखायी भी देती हैं, तो भी स्थूल दृष्टि के लोग इस पर विचार नहीं करते कि इसका हेतु क्या है ? मनुष्य-शक्ति किसी सीमा को पार करने में असमर्थ है, किन्तु ईश्वर-शक्ति के आगे कोई विघ्न है ही नहीं, अर्थात् ईश्वरीय-शक्ति को कालदेशादि से छिन्न करने के लिए और कोई शक्ति नहीं है।

शारदा मंदिर के बाहरी मकान के एक एकान्त स्थान में मैंने छः-सात दिन प्रशान्ति के साथ बिताये। अपने अनुचारी ब्रह्मचारी के साथ कुछ समय वेदांत विचार में तथा शेष समय देवी-दर्शन एवं भजन-ध्यान में बीतता रहा। यहाँ का पुजारी ब्राह्मण भोजन आदि के द्वारा हमारी परिचर्या करने में जागरूक था। साधु-महात्माओं की परिचर्या के लिए मंदिर की ओर से कुछ प्रबंध रहता था। इसके अतिरिक्त उनको हमारे आने के बारे में श्रीनगर से एक माननीय महात्मा द्वारा सूचना भी थी। वे स्वयं भी श्रद्धालु और परम भक्त थे। वे तथा उनका परिवार हमारा आदर-सत्कार करता था। इसलिए यहाँ हमें कोई बाहरी असुविधा नहीं होती थी।

किन्तु जब एक सप्ताह ऐसे व्यतीत हो गया तो मैंने यहाँ से नीचे की ओर ही चल पड़ने का निश्चय किया। मुझे ऐसा लगा कि चाहे यह ब्राह्मण-परिवार कितनी ही भक्ति के साथ हमारी परिचर्या करता रहे, तो भी उनके आश्रय में अधिक दिनों तक रहना अच्छा नहीं है। यद्यपि उस रमणीय तथा प्रशांत प्रदेश में कुछ और अधिक दिन ठहर कर भजन करने की मेरी तीव्र अभिलाषा थी, तथापि उस अभिलाषा को पूरा करने की कोई गति मुझे नहीं दीख पड़ी। ब्राह्मण-गृह के लिए हमें निश्चय ही भार नहीं बनना चाहिए।

सन्यासिधर्म—भिक्षाटन से निर्वाह किया जाए, तो यह समाधान भी वहाँ सम्भव नहीं था, क्योंकि वहाँ हिन्दुओं के घर अधिक नहीं थे। हमारे वहाँ रहने की इच्छा पूरी करने के लिए पुरुष-प्रयत्न की शक्ति समाप्त-सी हो गयी—हमें पुरुष-प्रयत्न के सभी मार्ग निरुद्ध दीख पड़े। इसलिए हमने वह स्थान छोड़कर चले जाने का निश्चय किया और एक दिन सबेरे मन न मानने पर भी मैंने देवी से विदा ली। मंदिर से उठकर चलने लगा। पुजारी तथा अन्य लोगों ने हमारे प्रस्थान को बलपूर्वक रोका। इस प्रकार एक-दो नहीं, तीन बार उनके प्रेम-पूर्वक निरोध करने पर कुछ दिन और बीत गये। बात बड़ी विषम थी। 'अहो देवी! तुम्हारी लीला अपार है। ऐसा लगता है कि तू हमें यहाँ से जाने ही नहीं देना चाहती। जहाँ हमारी शक्ति पराजित हो जाती है, वहाँ तुम्हारी शक्ति अकुण्ठित होकर ही विद्यमान रहती है।"

शाम के तीन बज चुके थे। मंदिर के बाहरी मकान के ऊपरी मंजिल पर मैं ब्रह्मचारी के साथ एक वेदांत-ग्रंथ पढ़ते हुए उसका अर्थ-विचार कर रहा था कि यूरोपीयन टोप तथा चश्मा आदि लगाये एक सुभग तेजस्वी युवक बड़ी सभ्य रीति से हमारे स्थान की ओर बढ़ आये और भक्ति-भरित मुखभाव के साथ हमें प्रणाम किया। 'बैठिए' का मेरा आदेश पाकर वह हमारे पास जमीन पर निःसंकोच बैठ गये। उसके सामने भी आध घंटे तक जो वेदांत-पाठ होता रहा, उसे वह बड़े ग़ौर से चुपचाप सुनते रहे। वेदांत पाठ के बाद आध घण्टे मैं उनसे बातें करता रहा। बातचीत में ये अंग्रेजी भाषा के उच्चशिक्षित, तथा वेदांत एवं वेदांत-जीवी साधु-महात्माओं के बड़े भक्त दिखायी पड़े। वे पंजाब प्रदेश के बहुत बड़े अमीर थे, तथा काश्मीर के कुछ पहाड़ी भागों के देवदारु आदि वृक्षों के एक बड़े व्यापारी थे। पहाड़ों पर जहाँ-तहाँ रहनेवाले अपने कर्मचारियों की देख-रेख के लिए वे पंजाब से वहाँ आये थे। ईश्वर-भक्ति आदि विषयों पर कुछ देर तक बातें करते रहे। अन्त में विदा लेते समय उन्होंने मुझ से भाव-विभोर होकर कहा, "आप स्वामी जी के समान महात्मा इस निगूढ प्रदेश में आएँ तो यह कितनी सौभाग्य की बात है। वस्तुतः हम सब को अपरिमित संतोष हुआ है कि शारदा की कृपा से हम सबने आपके दर्शन किये। हम सब की प्रबल प्रार्थना है कि आप आगे और भी कुछ दिन तक यहाँ निवास करें।"

मैंने उत्तर दिया, "केवल शारदा की ही करुणा से यहाँ इतने दुर्गम स्थान पर पहुँच सका हूँ। वह देवी जितने दिन तक यहाँ रहने की आज्ञा देगी

उतने दिन यहाँ निवास होगा ।

इस पर वह बोले, "स्वामीजी, यहाँ रहने में आप को कोई असुविधा नहीं होगी । इसलिए मैं विशेषरूप से प्रार्थना करता हूँ कि आप कुछ और दिन यहाँ रहने की कृपा करें । कल सवेरे मुझे एक और जगह जाना है । जल्द ही आकर आप के दर्शन करूँगा । स्वामी जी ! आप मुझे निराश न करें ।"

यों प्रार्थना करके वे वहाँ से चले गये । रोज हम वहाँ से उपर्युक्त कारणों से जाना चाहते थे, पर उस अभिलाषा में विघ्न पड़ जाता था । उपर्युक्त सभाषण के अगले दिन सवेरे पूजक ब्राह्मण ने मंदिर में हमारे पास आकर नमस्कार करने के बाद कहा, "स्वामीजी ! कल यहाँ आप के पास जो सज्जन आये थे, उन्होंने शाम को चावल आदि कई पदार्थ घर में भेज दिये है । यह सामग्री इस उद्देश्य से बहुत भेज दी है कि स्वामीजी कई सप्ताह तक यहाँ रहेंगे । हमें यह काम भी सौंपा है कि ठीक तरह खाना आदि खिलाकर आपकी परिचर्या करें । मेरा विश्वास है कि अब तो स्वामीजी के मन का संकोच दूर हो जाएगा ।"

ब्राह्मण का यह निवेदन सुनने पर मुझे संतोष तो हुआ ही, पर इससे बढ़कर देवी की महिमा में आश्चर्य हुआ । यह कितना सत्य है कि जगन्माता देवी मनुष्य के लिए अदृश्य रूप से सत्कार्य चला रही है । अब ही नहीं, इसके पहले भी कई बार यह मेरे अनुभव में आया है कि निर्जन तथा अति दुर्गम अचल-शिखर पर भी अपने पुत्रों की रक्षा करने में, उनकी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में, माता सदा जागरूक ही रही हैं । देवी के चरणारविन्दों में कुछ दिनों तक रहने की प्रबल अभिलाषा होने पर भी खाने की नियमता को दूर करने का कोई उपाय न देखकर हम वहाँ से जाने के लिए विवश हो गये थे । किन्तु हमें वहीं रोक कर रखने वाली अन्नपूर्णा जगदंबा की करुणा तथा महिमा का मैंने मन ही मन आदर किया । ईश्वर-शक्ति की गति निरंकुश है । ईश्वरीय शक्ति को कहीं कोई रुकावट नहीं है । ईश्वरीय शक्ति का कौन उल्लंघन कर सकता है ?

जो भी हो, इस प्रकार ईश्वरेच्छा का पालन करते हुए हम निस्संकोच वहाँ रहने लगे । यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि उस पर्वत-मस्तक पर जहाँ कभी-कभी सिर्फ ज्वार के पकवान पर दिन बिताना पड़ता था, अब भात आदि अच्छे खाद्य-पदार्थ हमें प्रतिदिन मिलने लगे । हमारे लिए तो अन्न-दरिद्रता थी ही नहीं । इसका स्थान अन्न-समृद्धि ने ले लिया था । इसी प्रसंग में मुझे इस

मलयालम पद्य की स्मृति हो आयी है :

> रण्डु नालु दिनं कोण्टोरुत्तने,
> तण्टिलेट्टी नटत्तुन्नतुं भवान् ।
> माळिका मुकळेरिय मन्नन्टे,
> तोळिल माराप्पु केट्टुन्नतुं भवान् ॥[1]

शारदा का निवास शांति-प्रचुर तथा आनन्दपूर्ण था । मन की शुद्धि तथा शांति में विघ्न उपस्थित करने वाला वहाँ कोई कारण नही था । लेकिन कभी-कभी काश्मीर प्रदेश में आये कुछ यात्री वहाँ आकर शारदा देवी के सामने भेड़ो की बलि देने की रीति को निभाते थे । यद्यपि यह घटना हमारी आँखो के सामने नही होती थी, तथापि हमारे मन में थोड़ा विक्षोभ एव विषाद भर देती थी । काश्मीरी लोग भी बगालियो के समान शाक्तेय होते हैं । अज-बलि आदि कृत्य शाक्तेय तान्त्रिकाचार के अग है और काश्मीर के ज्यादातर मुख्य मंदिरों मे प्रचलित हैं । बडे श्रद्धालु एव बूढे पुजारी ब्राह्मण अक्सर मुझे समझाया करते थे कि भेड़ को काटकर बलि न देने से देवी अतृप्त रहती है । इस के अतिरिक्त वे मुझे इस कराली काली देवी की महिमाओ और पराक्रमों के सम्बन्ध मे भी कई कहानियाँ सुनाते थे ।

× × ×

यद्यपि आधुनिक चिन्तकों की यह राय है कि हिन्दुओ के ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा दूसरे देवता केवल पौराणिको के कल्पित पात्र-विशेष हैं, तथापि वे निग्रहानुग्रह-शक्ति के साथ यथार्थ-मूर्त्ति के रूप मे आज भी भक्तों के हृदय में निवास करते हैं । कितने ही भक्त विष्णु, शिव, शक्ति आदि का साक्षात्कार करके आनंदित हुए हैं और आज भी हो रहे हैं । अतः यद्यपि इन चिन्तकों की दृष्टि में देव-देवी सब कल्पित हैं तो भी भजनशील व्यक्तियों केलिए वे अकल्पित है और साक्षात् देखने एव व्यवहार करने योग्य हैं, भजनीय हैं, तथा सनातन सत्य रूप मे सदा विद्यमान रहते हैं । युक्तिवादी लोग किसी भी सिद्धान्त को चाहे विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकट करें, तो भी आस्तिक भक्त लोग उस से तनिक भी विमुख नहीं होते ।

यह स्थल देवदारु आदि दिव्य वृक्षो तथा अन्य प्रकार के वृक्षों से आपूर्ण

---

1. हे भगवान् ! दो ही चार दिनों में किसी को पालकी पर चलाने वाले भी आप हैं, तथा महल के ऊपर विराजमान महाराजा के कंधे पर चीथड़े डाल देने वाले भी आप हैं ।

था। इसमें विहार करना मेरे लिए एक स्फूर्तिदायक विनोद था। अहा ! किन-किन रूपों में वह परमात्मा प्रकट हुए हैं ! इन विषैले पौधों और अमृतमय पौधों में, फलदार वृक्षों और फलहीन वृक्षों में वही परमात्मा विद्यमान है। परमात्मा का भावना-वैचित्र्य कितना विलक्षण है ! जब इस पर विचार करते हैं कि किन-किन आकृतियों एवं प्रकृतियों का भावन करके परमेश्वर ने इस चराचरमय जगत् का सर्जन किया है तो उसकी कोई सीमा नहीं दिखायी देती। जैसे एक चित्रकार एक चित्र की रचना करने से पहले उसकी मन ही मन कल्पना करता है, वैसे ही उस महा चित्रकार परमेश्वर ने भी हर एक सृष्टि से पहले उसके बारे में भावन किया होगा; और अब भी वे भावन करते होंगे। भावन के बिना सृष्टि संभव नहीं है। ऐसा कोई पदार्थ स्पष्ट अथवा सजात हो नहीं सकता जो ईश्वर के भावन के अन्तर्गत नहीं आता। इतना ही कहना है कि ईश्वर का भावन-विस्तार अनंत एवं अचिन्त्य है। भिन्न-भिन्न आकार में ईश्वर का परिणाम ही सृष्टि है।

चूँकि ईश्वर से भिन्न कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं होती, अर्थात् ईश्वर-सत्ता को छोड़कर और कोई सत्ता नहीं है, इसलिए जगत् के नाम से व्यवहृत वस्तु ईश्वर ही है। लेकिन दूसरे पक्ष में नाम-रूपात्मक जगत् ईश्वर नहीं हो सकता। क्षण-क्षण बदलते हुए विकारी एवं विनाशी दिखायी देनेवाला यह जगत् ईश्वर कैसे हो सकता है ? यदि यह जगत् ईश्वर हो तो ईश्वर भी विकारी एवं विनाशी हो जाता है। ईश्वर तो सत्य वस्तु है, अर्थात् जिस सत्य वस्तु में कभी कोई विकार या विनाश नहीं होता है, वही ईश्वर है। सर्वविदित है कि इस जगत का हर-एक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। जो रूप या दशा आज की है वह कल की नहीं हो सकती; कल की दशा परसों की नहीं हो सकती। लेकिन ऐसे क्षण-परिणामी पदार्थों में कोई स्थिर-स्वरूप वस्तु आंतरिक एवं अनुस्यूत रूप में विद्यमान है जिसमें परिवर्तन नहीं होता। वही तो ईश्वर है। जैसे धागे के बिना फूलों की माला नहीं होती, वैसे ही ईश्वर के बिना जगत् भी नहीं होता।

आत्मा एवं ब्रह्म कहलानेवाला वही है। सभी असत्य वस्तुओं का आधारभूत केवल एक ही सत्य कहलानेवाला भी वही है। सत्य हमेशा एक ही होता है। सत्य दो नहीं हो सकते। दो सत्य वस्तुएँ, दो स्वतंत्र वस्तुएँ तथा दो आधारभूत वस्तुएँ—ऐसा कहना युक्ति के बिल्कुल विपरीत है। यदि सत्य वस्तुएँ दो हों तो वे एक दूसरे से परिच्छिन्न हो जाती हैं। परिच्छिन्न वस्तु तो

कभी स्वतंत्र, सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वनियामक नहीं हो सकती। अपरिच्छिन्न एवं सर्वाधिष्ठित केवल एक ही वस्तु सत्य है। इस सर्वतःसत्य प्राचीन वेदान्त-सिद्धांत का आज की विज्ञान-विद्या भी अनुकरण करती है, जिसका तर्क है कि 'अपरिच्छिन्न एवं अविनाशी एक ही शक्ति से सभी जगतों का आविर्भाव हुआ है।' कोई अनुकरण करे या न करे, सत्य सदा सत्य है। सत्य हमेशा एक ही है। इसकी रचमात्र भी हानि किसी भी क्षण में नहीं हो सकती। नवीन विज्ञान-विद्या तथा कई प्रकार के दर्शनों के आविर्भाव मे चाहे प्राचीन विश्वासो एवं सिद्धान्तो मे चाहे कितने ही परिवर्तन संभव हो जाएँ, तो भी यह सिद्धान्त कभी परिवर्तित नहीं हो सकता कि केवल एक ही वस्तु सत्य है। यही सत्य वस्तु सब का आधार एव मूल कारण है। सबको चेतना देती है तथा सब मे अनुस्यूत एव व्याप्त होकर सर्वदा प्रकाशमान है।

आचार्य-पंक्ति के अग्रणी बुद्ध भगवान् का भी यही सिद्धात है कि क्षण-क्षण-परिणाम को पाते रहनेवाला यह जगत् सत्य नही है, वह केवल प्रातिभासिक है और वह जिस में रहकर प्रतिभासित हो रहा है, वही एक वस्तु सत्य है। भगवान् बुद्ध का मत शून्यवाद नहीं है। उन्होंने कभी इस बुद्धिहीन सिद्धात का उपदेश नही दिया है कि परमतत्त्व शश-विषाण के समान असत् है और असत्य से सत्य जगत् की उत्पत्ति होती है। उनके शिष्यों में कुछ ने उनके आशय को गलत समझा तथा उसकी व्याख्या अन्यथा की। उनका आशय था कि वह परम तत्त्व शून्य-सदृश है। वह किसी भी प्रमाण के लिए अविषयक है; किसी भी सज्ञा मे निर्दिष्ट होने में असमर्थ है; तथा सत्-असत् कहलाने मे भी अविषयक है। यह आशय सभी उपनिषदो के लिए सम्मत है। जो वस्तु व्यवहार का विषय नही है, वह दृष्टि में शून्य ही है। फिर भी वन्ध्या-पुत्र के समान परम शून्य नही है। उनके उपदेश के अन्तर्गत इस गभीर आशय को उनके शिष्यों में से कई नही जान सके। उनके शिष्य ही नहीं, उस समय की जनता भी उनके इस आशय-रहस्य को नही जानती थी। एक ओर बुद्ध भगवान् यों स्पष्ट कहते हैं: "श्रमण गौतम एक अविश्वासी (नास्तिक) हैं। सत्यवस्तु के विनाश, शून्यता, अर्थात् अभाव का ही वे उपदेश देते है। इस तरह कई लोग—जो मुझमे नही है उस नास्तिकता का तथा जो मेरा सिद्धात नहीं है, उस शून्य सिद्धात का मुझ पर आरोपण करते हैं।"

इस प्रकार भगवान् बुद्ध की कई परिभाषाओं से यह निःशंक सिद्ध होता है कि वे शून्यवादी नहीं, ब्रह्मवादी थे। सभी प्राचीन और अर्वाचीन उच्च

दार्शनिक अद्वैत लक्ष्य में आ पहुँचते है। उच्च अद्वैत लक्ष्य में आये बिना विचार-शीलों की और कोई गति नही है; अर्थात् अनुमान-कुशलों के मन को समाधान एवं शांति नहीं मिलती। परमार्थ-दृष्टि में तो एक ही वस्तु में—जिसमें 'मैं—तू' का कोई भेद नही हैं—*रमना ही परम पुरुषार्थ है। उस वस्तु मे* रमनेवाला ही परम धन्य है। देवी-देवता तथा भक्ति-भक्त का सारा व्यवहार असत्य-दृष्टि मे है; अर्थात् द्वैत-दृष्टि मे है। जब द्वैत-भावना, अर्थात् देह-भावना की जाती है तो नियम्य-नियामक सबन्ध में भी सभी देवी-देवता उपस्थित रहते हैं। द्वैत के बिना देवी एव देवी-भक्ति सभव नही होती। *आत्मभावना मे*, अर्थात् आत्मरूप अद्वैत सत्यवस्तु की भावना मे, देव, देव-भक्त और देव-भक्ति कुछ भी शेष नही रहता। श्रीरामचन्द्र के प्रति हनुमान का यह निर्वचन कितना सत्य है कि देह-दृष्टि मे मैं आप का दास हूँ। जीव रूप में मैं आपका अंश हूँ। परमार्थ-दृष्टि मे मैं और आप एक ही है, कोई भेद नही होता :

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

विचार करने पर ज्ञात होता है कि चैतन्य वस्तु एक ही है। एक ही अखड वस्तु में कोई *व्यवहार होता भी नही हैं।*

× × ×

आइए, अब हम प्रकृत विषय पर आएँ। मैं नही भूल सकता कि शारदा की वन-विचित्रता तथा एकात-गभीरता मेरे मन को कैसे उच्च विचारो की ओर उठा ले जाती थी। वहाँ हमने पूर्ण शान्ति के साथ डेढ़ महीने तक निवास किया। शारदा की कृपा से भोजन तथा पुजारी-परिवार की प्रेमपूर्वक परि-चर्या की कोई कमी नही थी। यद्यपि वहाँ का जीवन निर्विक्षेप, अनन्य-चित्त एव शातिदायक था, तथापि हमने कश्मीर के दूसरे एक पुण्यधाम अमरनाथ की *यात्रा करने के सकल्प से* शारदा को छोड़ने का निश्चय कर लिया। हमारा यह निश्चय सुनकर वहाँ के लोगो ने बड़ा दुःख प्रकट किया। साथ रहने से प्रेम बढ़ता है। वियोग प्रेम को घटाता है। बहुत दिनों तक हमसे परिचित होने के कारण और *हमारी प्रकृति का मधुर रूप से आस्वादन करने के कारण* उन्हें हमारी वियोगवार्ता से बड़ा दुःख हुआ। साधु-महात्माओं के रूप में उन्हे हमसे कोई लाभ प्राप्त नहीं था, क्योकि ससार के ताप से तप्त एव तत्त्व-चिंतक लोग ही साधुओं से भक्तिपूर्वक व्यवहार करके उन से कई *अध्यात्म-*रहस्यो को ग्रहण कर कृतकृत्य होते हैं, लेकिन तत्त्व-चिंता से हीन उन लोगों को

हमसे यह सब कुछ भी अभीष्ट नहीं था। फिर भी, हम उनके स्नेह तथा आदर के पात्र बन गये थे। जो भी हो, हमने आषाढ़ महीने के मध्य में एक दिन स्नान-भोजनादि के उपरान्त शारदा के चरणारविन्दों में भक्ति-पूर्वक साष्टांग प्रणाम किया, और वहाँ से कश्मीर की राजधानी श्रीनगर की ओर यात्रा प्रारम्भ की। पूजकगृह के मातृजनों ने अश्रुपूर्ण नयनों से हमें विदा दी तथा शेष सभी लोगों ने थोड़ी दूर तक हमारा साथ देकर हमसे विदा ली।

तीन-चार दिनों में हम कठिन पर्वत-प्रदेशों को पार करके कश्मीर के समतल मैदान में प्रविष्ट हुए। जिस मार्ग से हम श्रीनगर से इधर आये थे, उसे छोड़कर एक और रास्ते से हम उधर चले। मनोहारी कश्मीर के मैदान में इधर-उधर के कुछ गाँवों तथा कुछ छोटे तीर्थ-स्थानों में रहकर विश्राम करते हुए धीरे-धीरे हमने यात्रा की। सत्सग तथा ब्रह्म-विद्या में आकांक्षा रखनेवाले एक कश्मीरी ब्रह्मचारी भी उस समय मेरे साथ थे। अतः हमें अच्छे मार्ग से ले जाना, अच्छे स्थानों पर रखना, गाँवों में भिक्षा का प्रबन्ध करना आदि सभी कार्य वे ठीक तरह निभाते थे। कश्मीरी भाषा अच्छी तरह व्यवहार करने का ज्ञान हम में नहीं था। किन्तु उनके सम्पर्क से हमें इस कठिनाई का भी अनुभव नहीं हुआ। बड़े आनन्द से धीरे-धीरे यात्रा करते हुए कुछ दिनों में हम जेहलम नदी के तट पर पहुँच गये। जेहलम नदी के किनारे-किनारे जल से भरे चावल के विशाल खेतों के साथ-साथ तीन-चार दिन यात्रा करने के बाद हम 'क्षीर-भवानी' पहुँच गये। क्षीर भवानी काश्मीर में एक मुख्य देवीमंदिर है। यहाँ एक कुंड ही मुख्य रूप से दर्शनीय है, जिसमें हमेशा फेन उठता रहता है, और कुछ लाल रंग का जल भरा रहता है। लोग इसे देवी की विभूति-महिमा अथवा देवी का विलास-स्थान समझते आ रहे हैं।

हमारे पूर्व-महर्षियों ने लोकविलक्षण एवं विस्मयकारी वस्तुओं को ईश्वरोपासना के प्रतीकों (आलंबनों) के सम्बन्ध में जो कल्पना की थी उसकी महिमा ज्ञानी ही जानते हैं। आश्चर्य-दर्शन से सामान्य जनता के मन में एका-एक ईश्वर-भावना की उद्भावना होती है। विचित्रतर पदार्थोंको ईश्वर का प्रतीक तथा विचित्रतर भूखण्डों को ईश्वरोपासना का स्थान इसीलिए माना गया है कि इन्हें देखकर निःसन्देह ईश्वर-चिन्तन उत्पन्न होता है, और इसे दृढ़ बनानेमें ये अत्यंत उपयुक्त हैं। प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य-प्रकृति के मर्मों को ठीक तरह से जान-पहचानकर उन्हें ईश्वर-साम्राज्य की ओर उठाने के लिए हरएक धार्मिक संस्था एवं कर्मोपासना की कल्पना की थी, किन्तु

उसका रहस्य जाने बिना ही आज के कुछ पंडित उनपर और उनके अनुयायियों पर अज्ञ अंध-विश्वासी होने का आक्षेप करते हैं। अस्तु! क्षीर-भवानी नामक यह स्थल तथा वह कुण्ड बड़ी विचित्रता लिए हुए जनता के मन को ईश्वर-चिन्तन की ओर उन्नमित करते हुए विराज रहा है।

क्षीर-भवानी से दो-तीन मील स्थल से चलकर फिर श्रीनगर की ओर लगभग दस बारह मील जल से होकर हमने यात्रा की। रास्ते में अनेक बड़े-बड़े लहराते हुए सरोवर आये। उनमें असंख्य नौकाएँ इधर-उधर चलती रहती थीं। यह दृश्य अति हृदयहारी है। लम्बी-लम्बी कृत्रिम सरिताओं में दूसरे कई यात्रियों के साथ मिलकर हमने भी नौका-विहार किया था। यह सब देखकर हमें केरल की खाड़ियों की यात्रा की याद आ रही थी कि यदि केरल में खाड़ियों के किनारों पर नारियल के बाग हैं तो यहाँ सरोवर के किनारों पर चावल के खेत तथा विशिष्ट वृक्षों से अलङ्कृत रमणीय पर्वत हैं। काश्मीर की झीलें अत्यन्त मनोहारी हैं। इनमें लाल कमल अनल्प सुषमा को बिखेर रहे हैं। हिमगिरि पर भी जल समुद्र-तट के ही समान अपने सुविशाल रूप में उमड़-घुमड़ रहा हो---यह महान् दृश्य देखकर अति विस्मय होता था। कुछ घंटों में यह अमित आनन्दकारी जल-यात्रा समाप्त हुई और हम अपने गतव्य स्थान श्रीनगर पहुँच गये।

●●

दूसरा भाग

७. अमरनाथ

अमरनाथ की यात्रा का वर्णन लिखने से पूर्व मैं एक दार्शनिक चर्चा करना चाहता हूँ। 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्य के कर्त्ता श्री हर्षमिश्र ईस्वी की बारहवी शताब्दी के एक महान कवि थे। सरस कवि होने के साथ-साथ वे कर्कश तर्क मे भी अति प्रवीण थे। यद्यपि काव्य मे उन्होने शृंगाररस का वर्णन किया है तो भी वे विषय-रस-सेवी नही थे। ब्रह्म-निष्ठ, ब्रह्मरस-सेवी तथा समाधि-प्रिय थे। वह 'कवि-तार्किक-चक्रवर्ती' की उपाधि से विभूषित थे। उनका 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक ग्रंथ वेदात-ग्रंथो की पंक्ति मे सर्वोत्तम स्थान रखता है। विचार-गंभीरता, तर्क-शैली तथा खण्डन-प्रौढता की दृष्टि से इसकी तुलना मे और कोई ग्रंथ वेदात-विभाग में आविर्भूत नही हुआ। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है—नैयायिक, मीमासक आदि के तर्कों का तिलश: खण्डन कर जगत को अनिर्वचनीय तथा केवल अद्वैत ब्रह्म-मात्र को सत्य सिद्ध करना। अद्वैत-बुद्धि को किसी द्वारा भी अबाध्य प्रमाणित करने के लिए उन्होने भेद-वादियो के 'भेद' रूपी पदार्थ का विकल्पपूर्वक जो खडन किया है, उसकी रीति का जरा यहाँ वर्णन करेंगे। वे वस्तुतः खंडन-कला में अति कुशल थे।

'एकमेवाद्वितीयम्' आदि अद्वैत-श्रुतियो मे उत्पन्न अद्वैत-बोध ठीक नहीं है, क्योंकि घट, पट आदि पदार्थों का भेद प्रत्यक्ष रूप से सबसे ग्रहण किया जाता है। घट-पट आदि का अभेद-ज्ञान श्रुतिजन्य-अद्वैत ज्ञान के लिए, अर्थात् अभेद-ज्ञान के लिए, बाधक है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष-सिद्ध भेद-ज्ञान के सिवा, श्रुति-सिद्ध अद्वैत-ज्ञान प्रबल या यथार्थ नही हो सकता।" यह भेद-वादियो का तर्क है। फिर भी उनके 'भेद' नामक पदार्थ के स्वरूप पर जरा विचार करें—

—विचार-दशा मे भेद नामक कोई पदार्थ ही प्रत्यक्षादियों के विषय मे सिद्ध नही होता। स्वरूप, अन्योन्यभाव, वैधर्म्य, पृथक्त्व इन चार प्रकारो में प्रभाकर आदि दार्शनिको ने भेद-पदार्थ का निर्वचन किया है। किन्तु ये चारो पक्ष ठीक नही हैं।

स्वरूप ही भेद हो तो घट-प्रतियोगिक भेद (घट से भेद) पट का स्वरूप

हो जाता है, क्योंकि प्रतियोगी के बिना भेद-ग्रहण नहीं हो सकता। ऐसा हो तो घट भी पट के स्वरूप के अन्तर्गत हो जाता है। यों, घट-पटों की एकता को ही भेदग्राही प्रत्यक्ष विषय बनाता है।

—अन्योन्याभाव के भेद-पक्ष में भी, एक में दूसरे के अन्तर्भाव के पूर्वोक्त दोष का निवारण नहीं होता। घटाभाव पट में हो तथा पटाभाव घट में हो, यही अन्योन्याभाव है। ऐसा हो तो पट में घटाभाव के साथ घट का भी रहना जरूरी है। क्योंकि घट के बिना घटाभाव पट में कैसे स्थित हो सकता है? इस प्रकार एक पदार्थ में दूसरे के अन्तर्गत होने के कारण वे भेद के बिना एकीभूत हो जाते हैं।

—वैधर्म्य नामक भेद के तीसरे पक्ष में भी दोष है। वह पक्ष है कि घट में घटत्व तथा पट में पटत्व का वैधर्म्य ही भेद है। ऐसा तो वैधर्म्य में दूसरा कोई वैधर्म्य स्थित है या नहीं? वैधर्म्यान्तर नहीं हो तो घटत्व-पटत्वों को अलग करनेवाले वैधर्म्यान्तर के न होने से वे दोनों एकता को प्राप्त हो जाते हैं। उलटे, वैधर्म्य में इतर धर्म के व्यावर्तक दूसरे एक वैधर्म्य को स्वीकार करें तो उस वैधर्म्य में दूसरा एक वैधर्म्य, उसके लिए तीसरा एक वैधर्म्य, उसके लिए चौथा एक—इस प्रकार वैधर्म्यों की अनन्त धारा होती है। अतः अनवस्था दोष आ जाता है। इसलिए वैधर्म्य नामक भेद का तीसरा पक्ष भी सिद्ध नहीं होता।

—अब अन्तिम पक्ष लें कि पृथक्त्व ही भेद है, दोष-लंघन में असमर्थ होकर वर्तमान है। क्या पृथक्त्व धर्म अपने भिन्न धर्मी (वस्तु) में स्थित है अथवा अभिन्न धर्मी में स्थित है? अभिन्न धर्मी में स्थित हो तो, अर्थात् भेद का उसके आश्रय से भेद नहीं होता हो तो, स्वाश्रय के साथ उसका अभेद हो जाता है। अथवा, यह स्वीकार करें कि अपने आश्रय से भेद का भेद होता हो तो, भेद अपने में निविष्ट हो तो, आत्माश्रय दोष तथा उलटे, भेद का दूसरा एक भेद स्वीकार करें तो, भेद-प्रवाह में अनवस्था दोष आ जाता है।

इस प्रकार चूंकि चारों पक्षों में भेद का प्रत्यक्ष विषय सिद्ध नहीं होता, इसलिए यह तर्क बिलकुल विचित्र है कि अद्वैत श्रुति तथा उससे उत्पन्न अद्वैत-ज्ञान के लिए भेद का प्रत्यक्ष-ज्ञान बाधक है।

श्रीहर्ष ने भेद-पदार्थ आदि का खंडन करके अद्वैत-सिद्धांत की स्थापना करने में वितंडावाद को अपनाया है। वाद, जल्प और वितंडा नामक कथा (शास्त्रार्थ-विचार) तीन प्रकार की है। वादकथा का फल तत्त्व-निर्णय तथा

जल्प और *वितण्डा का फल विजय है। फिर भी देखा जाता है कि कभी-कभी* सत्-प्रमाणों के रक्षाकवच के रूप में शास्त्रकारों ने पर-पक्ष को परास्त करने के लिए वितण्डा-कथा को भी अपनाया है, ताकि कुतर्कों के विष-लिप्त बाणों से *विद्ध होकर वे मृत न हो जाएँ।* उष्ट्र-लगुडिका (उन्मत्त ऊँट के लिए लाठी) के न्याय के बिना कुतर्कवाले वर्कशों के दमन का और कोई मार्ग तो नहीं है। जो भी हो, सिद्धान्त यह है कि भेद सत्य नहीं है, केवल अभेद ही सत्य है। यदि घट, पट आदि के भेद को न मानें तो संसार में कोई भी व्यवहार संभव नहीं होता। *अतः व्यवहार-दशा में भेद सबके लिए स्वीकार करना पड़ता है। फिर* भी परमार्थ-दशा में भेद-ग्रहण संभव नहीं होता। सारांश यह है कि पारमार्थिक जो है, वह अभेद है तथा भेद केवल काल्पनिक है।

खंडन-ग्रंथकारों की ऐसी खंडन-युक्तियाँ दृढ़ हों, चाहे अदृढ़, किंतु इस तत्त्व को तो सभी एकमत होकर मान लेते हैं कि एक एवं अद्वितीय ईश्वर-ज्योति ही सत्य है, तथा यह अनेकात्मक संसार असत्य है। जैसे समुद्र-जल तरंग, बुद्बुद् आदि के आकार में भासित होता है, वैसे ही एकमात्र-ज्योति गिरि नगरी, नर, तिर्यक् आदि के रूप में प्रतिभासित होती है। यों, तीर्थ-अतीर्थ साधु-पापी और पुण्य-पाप सभी ईश्वर-स्वरूप हैं तो, अथवा सब में ईश्वर-ज्योति प्रकाशित हो रही है तो, इस दृष्टि से देश, काल और वस्तु-विषयक कोई विषमता नहीं हो सकती। अस्तु!

× × ×

मेरी यह इच्छा नहीं थी कि 'अमरनाथ' नामक धाम की यात्रा करके *वहाँ किसी विशेष ईश्वर के दर्शन करूँ अथवा वहाँ से कोई पुण्य पा लूँ।* कश्मीर के निम्न प्रदेशों की भाँति अमरनाथ भी परमार्थ-दृष्टि में ब्रह्म है; अथवा व्यवहार-दृष्टि में पंचभूतात्मक है। फिर भी प्रकृति-विलास, देश-विशुद्धि तथा प्रशांति-महिमा में *सर्वश्रेष्ठ गिरि-शिखरों पर आनन्द-विहार करने के लिए* मैं उत्सुक था। ब्रह्मास्वादन ही ऐसे विहारों का मुख्य फल है। अनुभव-रसिकों को तो यह ज्ञात ही है कि ब्रह्म के ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा महिमा को प्रतिबिम्बित करनेवाला महादर्पण *ही प्रकृति है तो ब्रह्मास्वादन में प्रवृत्त प्रकृति बहुत ही* सहायक है। तीर्थाटन के व्याज से इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं अवसर हिम-गिरि-शिखरों पर पहले तथा अब भी विहार किया करता हूँ। आइए, अब हम कश्मीर के सुप्रसिद्ध *अमरनाथ की ओर चलें।*

शारदा से आकर श्रीनगर मे दस-बारह दिन से अधिक रहने का अवकाश हमे नही था, क्योकि श्रावण महीने की पूर्णिमा के दिन ही अमरनाथ के मुख्य दर्शन होते हैं। साल में एक ही बार के इस तरह पवित्र दर्शन के लिए हजारों लोग पूर्णिमा के पहले ही पंजाब आदि देशों से श्रीनगर पहुँच जाते हैं, और वहाँ से सब समूह बना कर, उत्सव के रूप मे, ऊपर की यात्रा करते हैं। यात्रा के लिए आवश्यक डेरे आदि सामग्रियाँ तैयार कर कश्मीरी सरकार यात्रियो की सहायता करती है।

पूर्णिमा के आठ-दस दिन पहले अनेक यात्रियो के बीच मैं भी ब्रह्मचारी के साथ अमरनाथ के लिए रवाना हुआ। श्रीनगर से इकसठ मील दूर 'पहलगाम' नामक स्थान तक समतल भूमि है। फिर वहाँ से अमरनाथ तक ऊपर इकतीस मील तक विकट तथा उच्चतर पर्वत-पंक्तियां हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर लगभग बानवे मील की दूरी होती है। पहलगाम तक चौड़ी सड़क है और गाड़ियो का आवागमन है। इसलिये यात्रियो में से अधिकतर लोग वहाँ तक गाडियो मे ही यात्रा किया करते हैं। किंतु मैंने श्रीनगर से तीस मील दूर स्थित 'अनतनाग' तक तो मोटर मे यात्रा की, तथा शेष सारी यात्रा पैदल ही की। इस रमणीय मार्ग पर धान के खेत हैं, जिनकी गुच्छेदार बालियाँ हर समय लहराती रहती हैं। इन खेतो के बीचो-बीच ऊँचे-ऊँचे, समान आकार के सायादार वृक्षो की मनोहारी कतारें हैं। यह सब कुछ अत्यन्त हृदयहारी है।

अनतनाग कुछ अधिक आबादी का एक छोटा-सा नगर है। यहाँ से सोलह मील दूर 'वेरीनाग' नामक स्थान से सुप्रसिद्ध जेहलम नदी निकलती है। पैदल यात्री अनतनाग से पश्चिमोत्तर दिशा मे स्थित पहलगाम में दो-तीन दिनों में पहुँच जाते हैं। पहलगाम दुग्ध गगा के किनारे एक रमणीय तथा निर्जन स्थान है। देवदारु वृक्षों से घने और हरे-भरे पवित्र वन यात्रियो के मन को हठात् आकृष्ट कर लेते हैं। वहाँ हमे ऐसे कई वास-स्थान दिखायी पड़े जहाँ अँग्रेज आदि स्वास्थ्य वृद्धि तथा सुखानुभव के लिए आकर ठहरते हैं।

हमने दो-तीन दिन पहलगाम मे विश्राम किया। विश्वभर की कृपा से भोजन, वस्त्र आदि सब कुछ हमें यथासमय, किसी कष्ट के बिना मिल जाते थे। भोजन के बाद लोगों की भीड़भाड़ से दूर, मैं एकान्त मे जाकर आनन्द भोगता था। एक मध्याह्न उस देश के कुछ मुसलमानों ने वनांतर में एकाकी बैठे मुझे देखकर यों कहना शुरू किया—"बाबाजी, आजकल भालू अकसर दिन में भी घूमा करते हैं। आपका यहाँ अकेले बैठना अच्छा नहीं है।"

और मैं सोचने लगा —देह की भावना करने पर तो भालू बड़ा ही भयानक तथा क्रूर जंतु है, लेकिन आत्मा की भावना करने पर वही सुखात्मक तथा अति प्रेमास्पद बन जाता है।

पहलगाम से यात्रा शुरू करने पर छः सात मील दूरी पर 'चन्दनवाटी' स्थान आता है। यहाँ यात्री विश्राम करते हैं। पहलगाम से ऊपर भू प्रकृति अत्यन्त भिन्न दिखायी देती है। पहलगाम तक तो अच्छी मैदान-भूमि है। किन्तु वहाँ से ऊपर उन्नत तथा विचित्र पहाड़ शुरू हो जाते हैं। इसी कारण आरोहण-जन्य यात्राक्लेश भी शुरू हो जाता है। दुग्ध-गंगा के किनारे-किनारे मार्ग ऊपर जाता है। यहाँ की भूमि पर्वत-वनाच्छादित तथा अत्यानन्ददायक है और यात्रियों के यात्रा-क्लेश को कम कर देती है।

चन्दनवाटी से आगे का विश्राम-स्थान 'शेषनाग' है। शेषनाग समुद्र की सतह से बारह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित लगभग एक मील घेरे का एक मनोहर सरोवर है। दुग्ध वर्ण का पवित्र जल इस सरोवर की एक बड़ी विलक्षणता है। उपर्युक्त पुण्य-सरिता दुग्ध-गंगा इसी सरोवर से निकलती है। इस सरोवर के ऊपर लगभग एक मील दूर एक विशाल मैदान है, जहाँ यात्री डेरा डालकर रहते हैं। सरोवर की सौन्दर्य-महिमा का आनन्द भोगने की इच्छा से आते-जाते कुछ अन्य साधुओं के साथ मैं उसके किनारे, जल के बिलकुल पास जाकर बैठता था और उसके हिम-शीतल तीर्थजल में अवगाहन आदि कर्म यथाविधि तथा भक्तिपूर्वक किया करता था। इस प्रदेश को अति दिव्य कहा जा सकता है। यह शिलोच्चय हिम-पटलों से आपूरित है। अतः अति धवल है। वृक्षादि से हीन यह पर्वत बिलकुल नग्न ही चारों ओर समुन्नत रूप में खड़ा है। अहा! वहाँ का विस्मयजनक तथा अलौकिक सुषमा-विलास केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। वह वर्णन का विषय नहीं है।

शेषनाग के मैदान में, जहाँ का जाड़ा असहनीय था, बड़ी कठिनाई से हमने एक रात काटी। सारी रात वर्षा होती रही। वर्षा अधिक समय तक होती रहे तो इन प्रदेशों में हिमपात भी शुरू हो जाता है। मैं भी दूसरे परिव्राजकों के समान यात्राओं में कपड़े अधिक नहीं ले जाया करता। अतः शीत के कष्टों को बड़ी तितिक्षा के साथ सह लेना पड़ा।

अगले दिन वहाँ से चार-पाँच घण्टों की यात्रा करके 'पंच तरंगिणी' के नाम से प्रसिद्ध स्थान पर पहुँच गया। बीच-बीच में पर्वतारोहण के प्राप्त होने से तथा शीताधिक्य के कारण यात्रियों को यहाँ कुछ अधिक कष्ट सहना पड़ता

है। इस प्रकार की यात्राओं में वृद्ध-वृद्धा, तरुण-तरुणी और साधु-गृहस्थ इन सबका भेद भाव या लघु-गुरु-भाव मिट जाता है। हम सभी घोड़ों के समान हाँफते-हाँफते पहाड़ पर चढ़ते जाते हैं और बीच-बीच में भक्तिपूर्वक या अभक्तिपूर्वक 'अमरनाथ की जय' बोलकर अपने आपको आश्वासन देते जाते हैं। वहाँ कुछ लोगों को कष्ट के कारण आँसू बहाते देख कुछ दूसरे लोग हँस पड़ते थे—यह कुछ समय ही ऐसा होता है। इधर कुछ लोग ऐसे भी थे जो किसी कष्ट का अनुभव किये बिना आगे बढ़ते जा रहे थे। मानो वे मानव न हों, मानव-शरीरधारी वृक्ष के तने हों। न आनन्द प्रकट करते थे न विस्मय। थकान के कारण न उनके मुख से कोई ध्वनि निकलती थी और न अपने-आपको प्रोत्साहित करने के लिए वे कोई जयध्वनि बोलते थे। बस, वे चढ़ते चले जा रहे थे। शायद उन्हें ऐसी यात्राओं का काफी अभ्यास था। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी। इधर मेरे मन में केवल एक ही भाव उदित था—आनन्द! वस्तुतः मेरा पतला शरीर पहाड़ पर चढ़ने में अधिक समर्थ है। किन्तु मेरा अनुचर ब्रह्मचारी रोज मुझ से दो-एक मील पीछे रह जाता था। इसलिए मुझे बीच-बीच में अधिक समय तक उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

अब हम सब 'पंचतरंगिणी' पहुँच गये। पाँच विशाल जलधाराओं के संगम का यह एक रमणीय तीर्थ-स्थान है। यहाँ भी यात्री स्नान-दान आदि करते है। यहाँ हाथ-पाँवों को ठिठुरा देने वाली सर्दी थी। पानी को छूने पर ऐसा लगता था मानों उसने उँगली को काट लिया है। वायु छुरिका की तरह शरीर में चुभ जाती थी। यहाँ हमने तीन रातें बितायीं। शेषनाग के समान पंचतरंगिणी की प्रकृति-सुषमा ने भी मेरे मन को आनन्दोन्मत्त बना दिया। तरुगुल्मादियों से हीन वहाँ की सुदूर तक फैली नग्नता, भूमि का ईषद् अरुण वर्ण-विशेष, वहाँ का एकांत एवं गंभीर वातावरण जहाँ केवल कुछ विशेष पक्षी ही आकाश में विहार कर रहे थे, बीच-बीच की वर्षा तथा असहनीय शीत-प्रचुरता—इस सबको देखकर मुझे तिब्बत देश में कैलास-पार्श्व या मान्धातृ-पार्श्व में किया गया निवास स्मरण हो आया। ऐसे प्रदेशों में रहते हुए चाहे कितने ही शारीरिक क्लेश क्यों न सहने पड़ते हों, किन्तु वे सब इसी प्रकार के अतुलनीय आनन्द-संदोह में निमज्जित हो जाते हैं।

यहाँ से चार मील की दूरी पर सुप्रसिद्ध अमरनाथ गुफा है। इस गुफा के निकट यात्रियों के रहने की सुविधा, अर्थात् कोई विशाल मैदान, नहीं है। इसलिए वे यहाँ से ऊपर रात्रि के निवास के लिए डेरे आदि नहीं ले जाया करते।

फिर भी कोई साधु तो गुफा मे ही कई-कई दिन तक रहते हुए भजन किया करते हैं। अधिकाश यात्री श्रावण पूर्णिमा के दिन ऊपर चार मील चलकर गुफा में जा अमरनाथ आदि के दर्शन करके तुरन्त ही नीचे की ओर लौट आते हैं।

पचतरंगिणी से गुफा तक पहुँचने के दो मार्ग है। एक पुराना, अधिक चढ़ाई का कठिन है। दूसरा नवीन और थोडा सरल है। यह नवीन मार्ग एक पहाड़ की परिक्रमा करते हुए चक्राकार रूप मे ऊपर जाता है। प्राचीन मार्ग उसी पहाड़ के एक ऊँचे शिखर पर चढ़कर उसे पार करके नीचे उतरता है। प्राचीन मार्ग खतरनाक है। इसलिए यात्रियों के लिए उस पर जाना मना है। फिर भी, लौटते समय हिम-सहृति से आवृत उस अलौकिक दृश्यो का स्पष्ट दर्शन देनेवाले पर्वत-शिखर पर चढ़ने के लिए मैं और मेरे कुछ साधु साथी लालायित हो उठे और हमने उसी पुरातन सरणि का अनुगमन किया।

हमने पचतरगिणी से दस बजे भिक्षा लेकर गुफा की ओर प्रस्थान किया। वहाँ सैकडो लोग इधर-उधर आ-जा रहे थे। उस तग, निविड मार्ग से हम बडी कठिनाई के साथ धीरे-धीरे चलकर लगभग एक बजे गुफा के निकट पहुँच गये। वह स्थान जहाँ-वहाँ से हिमाच्छन्न था। नीचे की ओर एक छोटी जलधारा वह रही थी! वहाँ की 'अमर गगा' मे स्नान-ध्यान करने के इच्छुक भक्त-जन 'अमरनाथ की जय' की उच्च जयध्वनि से चारो ओर वातावरण को गुंजा रहे थे। हमारा अन्तःकरण अत्यधिक भक्ति एव आह्लाद से आपूरित था।

अब हम देवों से भी वदनीय उस पाषाण-बिल के अन्दर प्रविष्ट हो गये। लोग भक्ति से मदोन्मत्त होकर भीड़-भाड़ मे सब कुछ विस्मरण कर भगवान् के दर्शन कर रहे थे। यह गुफा लगभग एक सौ-पचास फुट ऊँची तथा उतनी ही लबी-चौड़ी है, तथा समुद्र की सतह से तेरह हजार फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह अठारह हजार फुट ऊँचे एक महान् शिलोच्चय के पार्श्व मे ही है। गुफा मे देव-मूर्त्ति की आकृति के हिम-पिंड इधर-उधर चार-पाँच स्थानो पर दिखायी देते हैं। उन मे सबसे बडा हिम-पिंड ही अमरनाथ की मूर्त्ति है। जहाँ तक मुझे स्मरण है दूसरे हिम-पिंड पार्वती-गणेश आदि की मूर्तियाँ हैं।

आधुनिक चिन्तकों की राय है कि जाड़े के दिनो मे पाषाण-छिद्रों से जो पानी टपक पड़ता है उसका हिमाकार ही हैं ये प्रस्तुत मूर्तियाँ। वे प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए कहते हैं कि ज्येष्ठ-आषाढ़ महीनों में ये हिम-पिंड आकृति में कुछ अधिक बड़े दीखते हैं और धीरे-धीरे हिम के पिघलने से छोटे होते होते आश्विन-

कार्तिक मासों में ये निरवशेष लीन हो जाते हैं। लेकिन बड़े-बूढ़े और श्रद्धालु लोग इनके इन पाप-द्वार पाखंड-प्रलापों को नहीं सह सकते। स्थल-पुराण को प्रमाण मानकर उनका यह विश्वास है कि अमरनाथ आदि की मूर्तियाँ प्रतिवर्ष नवीन रूपमें पानी के गिरने से बने हिम-पिंड नहीं हैं। गुफा के अन्दर तो जलस्राव के लिए छिद्र ही नहीं हैं। ये तो काल-निरपेक्ष, निश्चल भाव से स्थित हिम-पिंड हैं। हाँ, कृष्णपक्ष में चन्द्र बिंब के अनुकूल वे थोड़ा-थोड़ा क्षत होते जाते हैं तथा शुक्लपक्ष में क्रमशः वृद्धि पाते-पाते पूर्णिमा के दिन पूर्णता को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः श्रद्धा पर आश्रित किसी एक धारणा को हिलाने में भला कौन-सा प्रमाण समर्थ हो सकता है? सभी प्रमाण बड़े गर्व के साथ एक श्रद्धालु के पास पहुँच तो जाते हैं, किन्तु उसके आगे सिर उठाकर खड़ा होने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता। अहो, श्रद्धा भगवति! आपकी जय हो! जय हो! यदि आप सर्वत्र सर्वोत्कर्ष तथा प्रतापी रूप में इस जग में वर्तमान न होतीं तो धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन कैसे जीवित रह पाता?

अनेक यात्रियों की भीड़ में हमने भी सब मूर्तियों के दर्शन किये। गुफा के अन्दर पाषाण-छिद्र में रहनेवाले तीन-चार पुण्यात्मा कबूतरों को भी हमने आमोदपूर्वक देखा। लोगों का विश्वास है कि गुहा-निवासी ये कपोत ऋषि-पुंगव हैं और पुण्यवानों को छोड़ अन्य लोगों को इन पक्षियों के दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते। जब हम गुफा के अन्दर खड़े थे तो वे कबूतर बाहर से अन्दर उड़ते हुए अपने पत्थर-कोटरों में आ बैठे। कृपापूर्वक हमें दर्शन देनेवाले वे कबूतर ऋषीश्वर हों अथवा सामान्य पक्षी, किन्तु मेरे दिल में उन्होंने आह्लाद तथा भक्ति उत्पन्न कर दी। उनके इस एकान्तवास के बारे में भी हमने विचार किया और विस्मित हुए।

गुफा के अन्दर दूसरी एक छोटी गुहा में उत्पन्न भस्माकृति की एक सफ़ेद मिट्टी को लोग प्रसाद के रूप में स्वीकार करते हैं, शरीर पर उसका लेपन करते हैं और घर ले आते हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस मिट्टी को प्रसाद रूप में देने तथा उसकी दक्षिणा के रूप में पैसा लेने आदि अधिकार एक मुसलमान के हाथ में है। सारा ब्राह्मणत्व वहाँ उस मुसलमान के आगे घुटने टेकता है। ईश्वर-प्रसाद, चाहे कैसे व्यक्ति के हाथ में हो, वह मूल्यवान् होता है। ब्राह्मण जाति श्रेष्ठ, मुसलमान जाति अश्रेष्ठ है, ऐसी मानव-निर्मित धारणाएँ इस ईश्वरीय सम्बन्ध का उल्लंघन नहीं कर सकतीं कि ईश्वरीय-प्रसाद पवित्र है, वह किसी के हाथों दूषित नहीं हो सकता।

बाहर अमरनाथ की यात्रा को मंगलपूर्वक पूरा करके मैं श्रीनगर के एकान्त उद्यान में एक महीने से अधिक समय तक शान्ति-पूर्वक रहा। फिर वहाँ सेनौ हज़ार दो सौ फुट की ऊँचाई पर स्थित 'बनिहाल पास' के द्वारा 'जंबु' नगर में जाकर मैंने कुछ दिनों तक विश्राम किया, तथा इसके बाद आश्विन महीने में रेलगाड़ी के द्वारा उन्मेषपूर्वक हृषीकेश पहुँच गया।

●●

८. ज्वालामुखी

ज्वालामुखी पश्चिम हिमालय मे एक बड़ा ही मशहूर मंदिर है। यद्यपि इस प्रदेश मे नाना प्रकार की आकृतियो एव प्रकृतियो वाले अनेकानेक देव-देवियो की पूजा जहाँ-तहाँ की जाती है, तथा हमारे प्राचीन ग्रंथों में उनका विशद वर्णन भी किया गया है, तथापि इस बात पर विचार-विमर्श करना व्यर्थ है कि ये सब कब और कैसे हुए, क्योकि इन सब का उत्तर विज्ञान भी देने मे असमर्थ है। देवी के अनेक आकारो मे एक आकार ज्वालामुखी भी है । इस देवी के विहार-स्थान इस भू-भाग को भी लोग उपचार से ज्वालामुखी कहते हैं।

ज्वालामुखी समुद्र की सतह से केवल दो हजार फुट की ऊँचाई पर हिमालय के निम्न-प्रदेश मे स्थित है। पजाब प्रात के प्रसिद्ध नगर 'होशियारपुर' से ऊपर का मार्ग शुरू होता है। यहाँ से हिमगिरि की तराई की छोटी पहाड़ियों मे होकर पचास मील दूर उत्तर की ओर चलें तो यह मदिर आ जाता है। इस मार्ग पर एक तरह की सफ़ेद विलक्षण मिट्टी बिछी है। घनी झाड़ियों से आछन्न यह मार्ग हिमालय की छोटी छोटी कमनीय पहाड़ियों के बीच में से गुजरता चला जाता है।

रेलगाड़ी से उतरकर यद्यपि कुछ भक्तों की प्रेरणा से मैंने मोटरगाड़ी मे हिमालय के अन्दर कुछ दूर तक यात्रा की, किन्तु गाडी में बैठा रहना मुझे शरीर के लिए कुछ अस्वास्थ्यजनक लगा। इसलिए मार्ग के बीच ही उतर कर मैं पैरो की सवारी पर ही अकेले चलने लगा। अभिशाप भी अनुग्रह बन जाता है। गाडी से उतर कर मुझे पैदल तो चलना पड़ा, किन्तु मैं स्वतन्त्र-विहार करने तथा हिमगिरि सुषमा का पूर्णतया उपभोग करने में भी समर्थ हो गया। गाडी मे चलता तो इस आनंद का सहस्रांश भी अनुभव नही कर सकता था।

इस लौकिक विषय की तरह उधर आध्यात्मिक विषय में भी इस न्याय का सयोग कर सकते हैं। आध्यात्मिक साधनाओ का अनुष्ठान करते समय कभी किसी मे कुछ पतन हो सकते हैं; अर्थात् साधक का चित्त तथा

इन्द्रियाँ अपने उच्च एवं शुद्ध पद से गिर कर मलिन पाप-वासनाओं और पाप-कर्मों में फँस सकती हैं। किन्तु इससे हमे निराश नही होना चाहिए; प्रत्युत आशा रखनी चाहिए। जो व्यक्ति पतन को उत्कर्ष का हेतु समझता है, वह पतन के समय आशावान बना रहता है, कभी निराश नही होता। अपने स्थान से पीछे की ओर हट जाना आगे छलांग मारने की फुर्ती को बढ़ाने मे सहायक होता है। इसलिए पीछे की ओर हट जाना कभी दोषकारी नही माना जा सकता। इस-लिए चित्त का अपने पद से पतित हो जाना उत्कर्ष की शक्ति को बढ़ा देता है। ऐसे पतन पर शोक नही करना चाहिए। किन्तु साधारण लोग यह तत्त्व नही समझ पाते। लौकिक या आध्यात्मिक परिश्रमों मे कोई पतन अथवा हानि हो जाती है तो वे बड़े दु:खी हो जाते है। हाहाकार करते हुए भगवान् को कोसते हैं। जो लोग इस सूक्ष्म तत्त्व को जान लेते हैं कि निग्रह के बाद अनुग्रह और दु:ख के बाद सुख आता है तो उन्हे कभी किसी स्थिति मे हाहाकार करने की आवश्यकता ही नही पड़ती।

मैं गाड़ी से उतरकर तपी हुई सड़क से, खुले वनों के बीच से, बिना किसी दु:ख का अनुभव किये आगे-आगे बढ़ता चला गया था। यह सन् १९२१ के मई के महीने की बात है। इस महीने के आतप का प्रताप उस निर्जल प्रदेश में चरम सीमा को पहुँच चुका था। तीस-चालीस मील दूर तक मार्ग मे पानी मिलना कठिन था। उधर कुछ दूरी पर 'चिंतापूर्णी' के नाम से एक प्रसिद्ध देवी-मदिर है। वहाँ मैं दर्शन के लिए चला गया। वहाँ के ब्राह्मणों में कुछ शिक्षित भी थे। उन्होने मुझे कम-से-कम एक रात वहाँ निवास करने के लिए मजबूर किया और भोज्य-पेयादि से मेरा सत्कार किया। उस गाँव मे तो नहीं किन्तु उसके पास मैंने वह रात बिता दी और बहुत कठिन मार्ग-श्रम को को प्रशात किया।

अगले दिन व्यासा का दर्शन हुआ। व्यासा सिंधु की पोषक सरिताओं में से एक है। विशालता एव नील-निर्मलता के साथ बहती हुई व्यासा मे उतर-कर मैंने सुखपूर्वक स्नान किया। जल की कमी के कारण पिछले तीन-चार दिन खुले रूप से स्नान करना सम्भव नही हो सका था। अहो! हिमाद्रि का स्वरूप कितना बहुरूप है। कहीं जल-दरिद्रता तो कहीं जल-प्रचुरता। कहीं अन्न-दरिद्रता तो कहीं अन्न-प्रचुरता। कहीं वन-बहुलता तो कही जन-बहुलता।

उस दिन उस नदी के किनारे के एक गाँव मे रहकर मैं दूसरे दिन ज्वालामुखी पहुँच गया जो वहाँ से अधिक दूरी पर नहीं था। ज्वालामुखी एक

विशाल-नितंब पर स्थित एक बड़ा गाँव-सा है। वहाँ बहुत-से लोग आबाद है। यहाँ के डाक-मुंशी एक पंजाबी ब्राह्मण का अतिथि बनकर मैंने कुछ दिन उस पुण्यक्षेत्र मे बिताये।

यह स्थान वृक्षो से विराजित है। इसके चारों ओर कई पहाड़ है। यद्यपि यह स्थान अत्यन्त मनोहारी है, तो भी उस समय की भयानक गर्मी के कारण वहाँ की मनोहारिता फीकी और स्फूर्तिहीन-सी दिखायी पड़ी। हाँ, ज्वालामुखी का मंदिर बड़ा ही सुन्दर तथा अत्याकर्षक है। काल-दोष मंदिर की सुन्दरता को कम करने में समर्थ नही हो सकता। सुवर्ण-खचित यह महान् मंदिर अपनी चिरंतन कीर्ति में उज्ज्वलता के साथ विलसित है। मंदिर के अन्दर इधर-उधर अग्नि-ज्वालाएँ उठ रही है। यद्यपि मेरे दर्शन के समय सात-आठ ज्वालाएँ ही जल रही थी तो भी कहा जाता है कि कभी-कभी इससे भी अधिक ज्वालाएँ प्रकट हुआ करती हैं।

वैज्ञानिकों का सिद्धांत है कि इस प्रकार लगातार जलनेवाली अग्नि-शिखाएँ गंधकी चट्टानो से निकलनेवाली ज्वालाएँ हैं, किन्तु देवी के उपासकों को, जो यह विश्वास करते हैं कि देवी ज्वाला के रूपमें स्वयं प्रकट हुई है, यह सिद्धांत पसन्द नही है। फिर भी, इस सच्चाई मे कोई संदेह नहीं है। यों जलती हुई गंधकी चट्टानें हिमालय के कई स्थानों में दिखायी देती हैं। कहीं-कहीं, जैसे बदरीनाथ, जमनोत्री आदि स्थानो पर ऐसी चट्टानो के अन्दर से जलधाराएँ झरती हैं और उनके संयोग से आग मे उबाला हुआ-सा पानी गरम होकर सदा बहता रहता है। चूंकि इनमें साधारण लोगो के मन को विस्मित करके आकृष्ट करने की शक्ति है, इसलिए ऐसी ज्वालाओं तथा गरम जल को उन्होने उपासना का विषय बना रखा है। किसी भी मुख्य मंदिर के निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसी कल्पनाओ से प्राचीन आचार्यों का उद्देश्य सामान्य लोगों के मन मे लौकिक विषयो को हटाकर उनमें ईश्वर-भक्ति जागृत करना था।

मंदिर के अन्दर का भाग अच्छे चिकने पत्थर जड़कर बड़ा ही सुन्दर बना दिया गया है। इस प्रकार ऊँचाई पर पत्थरो की बनी दीवारो के छिद्रों के बीच में से निकलती ज्वालाएँ जलकर प्रकाश दे रही हैं। मैंने बड़ी भक्ति के साथ ज्वालाओं तथा देवी-मूर्तियों के दर्शन किये। यहाँ के पुरोहितों ने मुझे बड़े गर्व के साथ यह बताया कि मुगल बादशाहो मे प्रमुख अकबर ने तथा

पंजाब-केसरी रणजीतसिंह ने यहाँ आकर देवी के दर्शन किये थे और मनौती मानी थी।

जैसा कि दूसरे कई पुण्य-स्थानों में होता है। यहाँ भी मैंने कई असहाय भिक्षुओं को घूमते-भटकते देखा। इन दरिद्र-नारायणों की उदर-पूजा ऐसे स्थानों में किसी-न-किसी प्रकार से होती रहती है। यह प्रशंसनीय ही है कि यहाँ के धर्म-बुद्धि निवासियों और यात्रियों की उदारता इनके पेट को हमेशा भरती रहती है। अन्न-दान के द्वारा अनाथ की सहायता गृहस्थों का पुनीत कर्तव्य है। दीनों की पूजा के समान इस संसार में और कोई महान् पूजा नहीं है। प्राणियों का शरीर ही नारायण का मुख्य मंदिर है। काशी, रामेश्वर आदि तो विश्वनाथ के गौण स्थान है। अतिथियों की आराधना करना ही साक्षात् परमात्मा की पूजा है। यह महान् तत्त्व गृहस्थियों को समझना चाहिए। उनको चाहिए कि वे पुराण-प्रसिद्ध रंतिदेव का चरित्र सदा स्मरण रखें।

●

देखिए, रंतिदेव एक धनी राजा थे। उन्होंने अपना सब-कुछ अतिथियों को दान में दे दिया। जब सारा धन समाप्त हो चुका तो वे गहने-बर्तन दान देने लगे। वे भी समाप्त हो गये। चावल, दाल, घी आदि खाद्य-पदार्थों में भी बाकी कुछ नहीं रहा। जब सब समाप्त हो चुका तो उपवास शुरू हुआ। एक-दो नहीं, तीन-चार भी नहीं, लगातार अड़तालीस दिनों तक बिलकुल खाये पिये बिना वे भूख से परेशान हो गये। लीजिए, एक ब्राह्मण आ रहे हैं। इन अनाथ-अतिथि का सत्कार करना भी उनका कर्तव्य है। किसी तरह कुछ खाने की चीजें लाकर जल्द ही बना-पकाकर ब्राह्मण को भक्ति के साथ खिला-पिलाकर शेष खाना खाने को बैठ गये। लीजिए एक दूसरे विप्र आ रहे हैं। अपने खाने में से आधा उन्हें भी खिला दिया। फौरन कुछ शिकारी आ गये और उन्होंने राजा से खाना माँगा। बाकी खाना देकर राजा ने इन्हें भी संतुष्ट करके भेज दिया। भूख और प्यास से परेशान रंतिदेव ने वहाँ दोने में जो जल शेष रह गया था उसे पीना चाहा। कुछ दूर से एक चंडाल का आर्तनाद उनके कानों में आ पड़ा—"हे राजन्! पीने के लिए जरा पानी देने की कृपा कीजिए।" अहा! हा! पीने के लिए जो पानी हाथ में लिया हुआ था, उसे भी उन्होंने उस पिपासु चंडाल के लिए दान दे दिया। भूखे और प्यासे दानी रंतिदेव जमीन पर गिर कर मरने को हैं। किन्तु ईश्वर-रूप में निष्काम रूप से जग की पूजा करनेवाले कल्याणकारी महात्माओं की कभी हानि नहीं हो सकती—

न हि कल्याण-कृत् कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति। सर्वसाक्षी तथा सर्वेश्वर नारायण उन पर खुश हुए और शुद्ध-चित्तवाले राजा रतिदेव धीरे-धीरे मुक्तिपद को प्राप्त हो गये। यदि भारतीय इस बात को याद रखें कि हम सब इतने स्वधर्म-निष्ठ तथा दानवीर रतिदेव जैसे महापुरुषों की सतानें है तो भारत से सात्त्विक दान की परम्परा कभी नष्ट नही हो सकती। सात्त्विक दान का लक्षण है :

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

दान देना ही दान का फल है। इस भावना को लेकर उत्तम देश, उत्तम काल तथा उत्तम पात्र मे अनुपकारियो के लिए दान देना चाहिए। ऐसा दान ही सात्त्विक दान है। जिनसे किसी प्रत्युपकार की आशा नहीं हो सकती, ऐसे व्यक्तियो के लिए दिया दान ही शुद्ध सात्त्विक दान है। प्रत्युपकार-प्राप्ति की इच्छा में किसी अमीर या स्वसबधी को बुलाकर मीठी-मीठी चीजें पेट भर, खिलाना-पिलाना उत्तम दान के अन्तर्गत नही आता। अत: वही दान सार्थक तथा उत्तम होता है जो दरिद्र-नारायणो की जलती हुई जठराग्नि में आहुति है। उसी की आहुति धन्य एव उत्तम है। ऐसा अग्निहोत्री सदा विजयी रहे, सदा विराजता रहे।

लेकिन कोई यह न समझ ले कि अनाथो की आराधना की महिमा गानेवाला यह प्रकरण भिक्षुको के प्रोत्साहन का--भिक्षावृत्ति के मडन का—प्रतीक है। भिक्षुको की सख्या हमारी पुण्य-भूमि मे असहनीय रूप से बढ़ गयी है। ऐसे अनाथो के लिए अब कोई योजना बनाकर उन्हे उचित जीवन की ओर ले जाने का समय आ गया है। हम भिक्षावृत्ति के पक्ष मे नही है। जो उद्यम करके कमा सकते हैं उन्हे भीख देना उचित नहीं है। इस प्रकरण मे केवल इतना बताना था कि दीन एवं दुःखी प्राणियो की निष्काम बुद्धि के साथ सेवा करना सब से समुन्नत धर्म है। यद्यपि भिक्षावृत्ति जुगुप्सित है तो भी भिक्षुक जुगुप्सा के पात्र नहीं हैं। जब तक गरीबी, बेकारी और भिक्षावृत्ति का अत नही होता तब तक उनकी सहायता न करना अन्याय एवं सनातन-धर्म के विरुद्ध है।

●

प्राचीन काल मे ज्वालामुखी पर्वत सन्यासियो का एक बहुत बडा केन्द्र था। इतिहासज्ञो का कहना है कि यहाँ तीन सौ से ज्यादा सन्यासियों के मठ थे, जिनमें बड़ी-बड़ी यति-मडलियाँ रहा करती थीं। किन्तु आज वे

मठ प्रायः नष्ट हो गये हैं। रहने लायक मठ या स्थिर रूप से रहने वाले यतिवर आज यहाँ हैं ही नहीं। कुछ समय के लिए यहाँ रहकर भजन करने वाले कुछ देवी-भक्त तान्त्रिकोपासक जटाधारी कापायधारी ही वहाँ दिखायी पड़े। ऐसा सुना गया कि देवी-स्थान होने के कारण यहाँ माँस और मद्य की क्रीड़ा सुलभ है। ऐसे स्थान हमारे भारतवर्ष में बहुत कम हैं जहाँ तान्त्रिक-चरण, यानी शक्ति-पूजा का प्रचार न हुआ हो।

× × ×

मैंने यहाँ एक ऐसे युवक साधु को देखा जिसे योग-मार्ग का ठीक ज्ञान नहीं था और न उसमें इस ओर विशेष प्रवृत्ति थी, किन्तु उसने यह सुन रखा था कि योगमार्ग एक पुण्य-मार्ग है। अतः वह योगाभ्यास के लिए यहाँ निवास करने के उद्देश्य से प्रबुद्ध पुरुषों के संपर्क को छोड़, निरालंब होकर व्यर्थ और शून्य जीवन बिता रहा था। यह ठीक है कि योगविद्या भगवान की प्राप्ति के उपायों में एक श्रेष्ठ उपाय है। तान्त्रिकाचार आदि अशुद्ध आचरणों की अपेक्षा यह कितना ही प्रशस्त है। योगविद्या का अभ्यास किये बिना ज्ञान-निर्णय नहीं हो सकता। लेकिन औपनिषद्, आर्ष तथा शुद्ध योगविद्या को सच्चे रूप में आचार्यों से सीखकर उस का अनुष्ठान करना चाहिए। शास्त्रोक्त योग के हेतु, स्वरूप और फल को अच्छी तरह शिक्षितों से जाने बिना स्वयं रेचक, पूरक आदि को करने लग जाना तो खतरनाक है।

कुछ लोगों का विचार है कि रेचक आदि प्राणायाम क्रियाएँ ही योग है। दूसरे कुछ लोगों ने नेति, धोति आदि क्रियाओं को योग समझ रखा है। और कुछ लोगों का विश्वास है कि अन्दर कुछ नक्षत्र या सूर्य-चन्द्रों को देख लेना योग है। कुछ लोगों की भ्रान्ति है कि विशिष्ट आसन से शरीर को थोड़ा-सा आकाश में उठा सकें तो वही योग की परम सीमा है। किन्तु इन में से कोई भी योग नहीं है। ये सब यदि किसी को सिद्ध हों तो भी उस से वह सच्चा योगी नहीं बनता। इन के सिद्ध न होने से कोई अयोगी भी नहीं होता। तब शास्त्रोक्त परम पुरुषार्थ स्वरूपिणी ब्रह्म-विद्या का साधन असली योगविद्या का स्वरूप क्या है? उसके स्वरूप के बारे में यहाँ कुछ बता देना इस प्रसंग के अनुकूल ही जाना पड़ता है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' यह योग का लक्षण-सूत्र है। प्रतिक्षण चंचल रहनेवाली चित्तवृत्तियों को रोक लेना ही योग-शक्ति है। यम, नियम,

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—योग के ये आठ अंग हैं। पहले यम, नियम और आसन का अभ्यास करके उन को अपनाकर फिर प्राणायाम में प्रवर्तमान होना चाहिए। प्राणायाम करने का मतलब है विधि-पूर्वक रेचक, पूरक एवं कुंभक का अभ्यास करके प्राणजय करना—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः। (योगसूत्र)

आसन-विजय के बाद फिर प्राणायाम के जिस रूप का अभ्यास करना चाहिए, उस का प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादन है। बाहर की वायु को अन्दर खींच लेना श्वास (पूरक) कहता है तथा अन्दर कोष्ठगत वायु को बाहर छोड़ देना प्रश्वास (रेचक) कहता है। इन श्वास-प्रश्वासों की गति को रोक लेना ही मुख्य प्राणायाम (कुंभक) है। मतलब यह है कि यों प्राणायाम तीन प्रकार का है—पूरक, रेचक और कुंभक। इस प्रकार हठयोगियों के समान राजयोगियों ने भी प्राणायाम को योग के एक मुख्य अंग के रूप में स्वीकार किया है—

हकारः कीर्तितस्सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते,
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥

हकार सूर्यनामा प्राण और ठकार चन्द्रनामा अपान है। इन प्राणापानों का एक भाव हठयोग कहलाता है। यह हठविद्या के प्रधान आचार्य गोरक्षनाथ का अभिप्राय है। अतः हठयोग केवल प्राणाभ्यास तथा उस के द्वारा प्राप्त आरोग्य, जरा-पलित से रहित नित्य यौवन, ओज की वृद्धि, दीर्घायु आदि शारीरिक उन्नति पर समाप्त होता है। शरीर कितना ही प्रबल बन जाए तो भी शरीर शरीर ही है। पेड़ कितनी ही सदियों तक नीरोग तथा जिन्दा रहे तो भी वह पेड़ ही है। लेकिन राजयोग ने चित्त-वृत्तियों के निरोध-रूप अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के एक उपाय के रूप में प्राणायाम को अपनाया है।

प्राणायाम को बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे सीख लेना चाहिए। शेर जैसे प्राणी को एक बिल्ली के समान अपने अधीन करना बड़ी कठिन बात है। *साधक को हमेशा यह याद रखना चाहिए कि प्राणों के वश में हो जाने* पर उपकार जितना सुखद होता है, उनके बिगड़ जाने पर अपकार भी उतना ही भयानक होता है। क्रमशः, धीरे-धीरे, लंबे समय के प्राणाभ्यासों के द्वारा व्यष्टि-शरीर के प्राणों को जीतनेवाला समष्टि-प्राण तत्त्व को भी जीत लेता है। जैसे हमारी सब शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों एवं आचरणों के लिए व्यष्टि-

प्राण कारण है वैसे ही ब्रह्माण्ड की सब क्रियाओं का एकमात्र कारण समष्टि-प्राण है। व्यष्टि-प्राणों की विजय के द्वारा इतने महान् समष्टि-प्राण भी योगियों के अधीन हो जाते हैं। व्यष्टि-समष्टि एक ही शक्ति है, दो शक्तियाँ नहीं हैं। योग-दार्शनिकों का यही सिद्धान्त है कि इस प्रकार प्राण-विजय को पूर्णरूप से प्राप्त करनेवाले एक योगी के लिए समष्टि-प्राणशक्ति भी स्वाधीन हो जाती है। इसलिए वह सूर्य-चन्द्रों से युक्त इस महान् ब्रह्माण्ड को भी अपनी उँगली पर नचा सकता है। अस्तु ! यह सिद्धि-विषयक अंश यहाँ विचारणीय नहीं है।

प्राण-विजय के बाद प्रत्याहार का अभ्यास करना चाहिए। इन्द्रियों के अनुधावन से मन को खींचकर अलग कर लेना ही शास्त्र-भाषा में प्रत्याहार कहलाता है। जैसे तालाब का पानी इधर-उधर के छिद्रों से अस्थानों की ओर बहता जाता है, वैसे ही मन इन्द्रियों द्वारा सदा विषयों में चलता रहता है। हमारे पास कोई आवाज आती है। हम चाहें या न चाहें, उस आवाज को सुन लेते हैं। हमारे पास कोई आदमी आता है। हम चाहें या चाहें, उस रूप को देख लेते हैं। इस प्रकार शब्द, रूप आदि हर-एक विषय हमारी इच्छा के बिना ही स्वयं इन्द्रियों के द्वारा हमें, अर्थात् हमारे मन को, आकृष्ट किया करता है।

यदि इन्द्रियों के वशीभूत मन की, उन के पीछे इस प्रकार दौड़ते रहने की, दुर्दशा को न रोक लें तो वह अचंचल एवं अंतर्मुख होकर कोई भावना तक नहीं कर सकता। यह प्रसिद्ध है कि इन्द्रिय गोलक, इन्द्रिय और मन के संबंध से ही बाहरी विषय ज्ञान-विषय बन जाते हैं। यदि इन्द्रिय और मन का संयोग नहीं होता तो विषय-ज्ञान भी नहीं होता। भिन्न-भिन्न होने पर भी, व्यवहार में एक हो जानेवाले इन्द्रियगोलक, इन्द्रिय और मन को अलग-अलग अपने-अपने स्थानों पर जब तक नियुक्त नहीं कर सकते, तब तक हम इन्द्रियों के दास बन कर काम करते हैं। इतना ही नहीं, किसी वस्तु का अनुध्यान बिलकुल असंभव भी हो जाता है। इसलिए इन्द्रियों के साथ मन के संयोग एवं वियोग को अपनी इच्छा के अनुसार नियंत्रित करने की शक्ति को अभ्यास के द्वारा पाये बिना योगी बननेवाले के लिए और कोई रास्ता नहीं है। चूँकि स्वेच्छा की परवाह किये बिना, शरीर में सदा संयोग-वियोगात्मक सभी व्यापारों के करनेवाले प्राण हैं, इसलिए प्राणाभ्यास के द्वारा प्राण-निरोध-शक्ति के सम्पन्न होने के साथ-ही-साथ धीरे-धीरे इन्द्रियों को प्रत्याहार-शक्ति भी सम्पन्न हो जाती है।

प्रत्याहार के सम्पन्न होने के बाद क्रमपूर्वक धारणा-ध्यान-समाधियों में

प्रवर्तमान होना चाहिए। धारणा, ध्यान एवं समाधि चित्त की केवल भावना-भूमियाँ हैं। पहले स्थूल पदार्थों में चित्त के निबंधन का अभ्यास करना चाहिए। स्थूल-चिंतन के स्वाधीन होने पर फिर सूक्ष्म-चिंतन का अभ्यास करना चाहिए। स्थूल एवं सूक्ष्म ध्यान के आलंबन साधकों के रुचि-भेद के अनुसार कई प्रकार के होते हैं। मूलाधार आदि पद्म और ज्योतियाँ योग-साधकों के लिए सब से प्यारे स्थूल ध्यानालंबन हैं। विष्णु, शिव आदि देवता-स्वरूप भक्तों के प्यारे ध्यानालंबन होते हैं। सागर की लहरों के समान प्रतिक्षण मन में उठनेवाली वृत्तियों को रोककर चित्त के एकाकार-प्रवाह के योग्य किसी भी तरह का आलंबन स्वीकार्य है। हृदय-कमल और भ्रूमध्य के शरीर-देशों पर मनोवृत्ति का निबंधन करना अथवा हृदयाकाश, भ्रूमध्य या शिरोमध्य में एक अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशपुंज की भावना करना अथवा बाहरी विष्णुमूर्ति, शिवमूर्ति या देवीमूर्ति की भावना करना—इस प्रकार अपनी रुचि के अनुसार आध्यात्मिक या शारीरिक (बाह्य पदार्थों) में चित्तवृत्ति का निबंधन ही धारणा है। यही वृत्ति-निबंधन अधिक समय तक लगा रहे तो वह ध्यान कहलाता है। ध्यान और ध्याता की भेद-प्रतीति से अलग होकर केवल ध्येय वस्तु ही प्रकाशित रहे तो वह समाधि है। ध्यान-काल की अपेक्षा समाधि-काल अधिक है। यों धारणा-ध्यान-समाधियों की सिद्धि स्थूल आलंबनों में हो जाने पर फिर सूक्ष्म आलंबनों में उनका अभ्यास करना चाहिए।

योग-प्रक्रिया के अनुसार पंचतन्मात्राएँ, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रधान तथा वेदान्त-प्रक्रिया के अनुसार आध्यात्मिक और आधिदैविक प्राण, मन आदि तत्त्व धारणादि के सूक्ष्म आलंबन हैं। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म आलंबनों में क्रमशः धारणादि का अभ्यास करके रजस्तमोमलों से रहित चित्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म निराकार, निर्गुण एवं निर्विशेष रूप से वर्तमान आत्मवस्तु के ग्रहण के लिए समर्थ हो जाता है। आत्मवस्तु में किये जानेवाले धारणा-ध्यान आदि के द्वारा धीरे-धीरे यह चित्त दृढ़ तथा दीर्घ आत्मसमाधि में अधिरोहण करता है। जिस समाधि की दशा में चित्त वृत्ति-विहीन होकर, अग्नि में कर्पूर के समान अथवा जल में नमक के समान विलीन होकर, आत्माकार बने और जिस में ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटि की प्रतीति-गंध भी न हो, उसमें आत्मा स्वस्वरूप में एवं स्वमहिमा में प्रकाशमान होती है। इस निरतिशय और सर्वोत्तम चित्तभूमि को योगी असंप्रज्ञात और वेदान्ती निर्विकल्प कहते हैं। यह परम पुरुषार्थ रूप धर्ममेघ समाधि एक साधक को सिद्ध पद की ओर तथा एक

अयोगी को योगी-पद की ओर उठाती हैं। इस प्रकार तामस्, राजस् और सात्विक की त्रिविध चित्त-वृत्तियों का निरोध रूप एवं स्व-स्वरूपावस्थान रूप परम-पद को प्राप्त करनेवाला ही मुख्य योगी है। दूसरा कोई वास्तव में योगी संज्ञा के लायक नहीं होता। वे सब साधन में साध्य की भ्रान्ति करने वाले अशिक्षित बुद्धि हैं। अतः एक योगी साधक का अनन्य कर्तव्य है कि साध्य रूपी परमयोग के हेतु-स्वरूपों को अच्छी तरह जानकर अलक्ष्य में लक्ष्य की भ्रान्ति किये बिना लक्ष्य को ही लक्ष्य बनाकर उसकी ओर अभिनिवेश के साथ आगे बढ़े।

'योगो योगात् प्रवर्तते' यह योग में सुसम्मत एवं सुप्रसिद्ध कथन है। योग में जो कई भूमियाँ हैं, उनमें पूर्वभूमि की विजय के बाद उत्तरभूमि में प्रवर्तमान होना चाहिए। किन्तु ईश्वर के अनुग्रह से किसी के लिए निम्न-भूमियाँ स्वयं ही स्वाधीन हों तो, चूंकि उसके लिए उन भूमियों का अभ्यास जरूरी नहीं है, इसलिए वह बाद की भूमियों में प्रवर्तमान होने का अधिकारी है। यदि किसी को इस शरीर में प्राणायाम-प्रत्याहारों के अभ्यास के बिना ही ईश्वर के अनुग्रह से धारणा-शक्ति मन में सिद्ध है तो उसके लिए उन पूर्व-भूमियों की ओर निगाह तक डालने की जरूरत नहीं है। वैसे ही सूक्ष्म विषय में धारणा करने की मानसिक शुद्धि पहले ही किसी को प्राप्त हो तो, फिर उसके लिए स्थूल-विषय के ध्यान का कोई लाभ नहीं हो सकता। इस प्रकार स्वयं अपने चित्त की सामर्थ्य को पहचानकर उत्तरोत्तर-भूमि में साधकों को चढ़ते जाना चाहिए। यह योग का निष्कर्ष है कि स्वस्वरूप का अन्तिम रूप असंप्रज्ञात ही परम योगपद है, उसको पानेवाला ही परम योगी है, और जैसे अधिकारी-भेद के अनुसार प्राणायाम-प्रत्याहार आदि के क्रम-पूर्वक अभ्यास के द्वारा होता है, वैसे उनका अभ्यास किये बिना भी परम पद पर पहुँच कर आनन्द भोगने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

●●

९. रिवाल सरोवर

जिसको वरने से सर्वस्व-वरण की, जिसको जानने से सर्वस्व जानने की, और जिस को पाने से सब-कुछ पा जाने की प्रतीति होती है, वही परम-सत्य मूल वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म को जानने पर फिर किसी और सत्य को जानना नहीं है। ब्रह्म को पाने पर किसी और वस्तु को फिर पाना नहीं है। किंतु ब्रह्म को कोई जानता नहीं है। ब्रह्म को कोई जानने की इच्छा नहीं करता। ब्रह्म-लाभ की इच्छा के योग्य बुद्धि की निर्मलता और सूक्ष्मता किसी की नहीं दिखायी देती। नश्वर विषयों को लोग स्वीकार कर लेते है। उनकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए अपना सारा महत्त्वपूर्ण पौरुष लगा देते हैं। उनके बारे में बड़ा अभिमान भी करते हैं कि ये अपने हैं। अहो विचित्र! हम खुद अपने नहीं होते। फिर ये बाहरी विषय कैसे अपने होते है? विषय से पैदा होने वाले सभी सुख जिस सुख का लेशमात्र है, उस ब्रह्म-सुख को अंगीकार करने वाले भाग्यवान् व्यक्ति बहुत ही कम है। आज और सर्वदा, तथा यहाँ और सर्वत्र, माया की इस मोहन-सामर्थ्य में कोई भेद नहीं होता।

माया के जीतनेवाले महर्षि-समूहों से युक्त हिमगिरि प्रदेशों में भी ऐसी महिमा के प्रसार को देखते-देखते चकित होकर, ज्वालामुखी से मैं अकेले ही एकान्त में भिन्न-भिन्न गाँवों तथा विभिन्न वनों को पार करके ऊपर की ओर चल पड़ा। कांगड़ा नामक हिमालय का यह भाग नगरों के समान बड़े-बड़े गाँवों, विशाल खेतों एवं सुन्दर चाय के बाग़ीचों से भरा हुआ परिष्कृत स्थल है। दो हजार दो सौ फुट की ऊँचाई पर स्थित उस जिले के मुख्य स्थान कांगड़ा नगर से मार्ग ऊपर की ओर जाता है।

इससे थोड़ी दूर पर 'वैद्यनाथ' नामक एक पुण्यस्थान आ जाता है। वैद्यनाथ तीन हजार दो सौ फुट ऊँचा स्थान है। यहाँ एक बहुत प्राचीन और इतिहास-प्रसिद्ध देवमंदिर है। उत्तर की ओर दूर पर दिखायी पड़नेवाले ऊँचे हिमाच्छन्न शिलोच्चय, तथा दक्षिण में विशालता में फैले हुए खेत उस स्थान को बड़ा ही रमणीय बना देते हैं। वहाँ के स्थिर-निवासी एक महात्मा के आतिथ्य

में मैंने कुछ दिन वहाँ रहकर विश्राम किया। वहाँ से कुछ ऊँचाई पर योगीन्द्रनगर प्राप्त होता है। यहाँ से एक हिन्दू राजा के द्वारा शासित मंडी नामक हिमालय-प्रदेश शुरू होता है। हिमगिरि की तराई में पठानकोट नामक स्थान से योगीन्द्रनगर के लिए एक सौ एक मील की दूरी है। योगीन्द्रनगर तक रेलगाड़ी तथा यहाँ से कुछ और दूर तक मोटरगाड़ी जाती है। योगीन्द्र-नगर से छत्तीस मील ऊपर स्थित एक छोटे नगर मंडी नाम की राजधानी में मैं दो दिन की यात्रा करके पहुँच गया। चूँकि उस मार्ग पर मोटरगाड़ी चलती थी, इसलिए उस पर कठिन चढ़ाई-उतराई अथवा कोई दूसरी दुर्गमता नहीं थी। मंडी के प्रसिद्ध विश्वनाथ-मंदिर में मैं रहने लगा। व्यास नदी के किनारे उस रमणीय स्थान पर भक्तों की सेवा का पात्र बन मैं कुछ दिनों तक आराम करता रहा। यद्यपि वहाँ ब्रह्म-शास्त्र के जिज्ञासु बहुत कम थे, तो भी ज्ञानियों का आदर करने वाले कम नहीं थे। तीर्थाटन के लिए आये कई अन्य साधु भी उन दिनों वहाँ रह रहे थे।

रिवाल सरोवर मंडी नगर से लगभग पन्द्रह मील पश्चिम-दक्षिणी दिशा पर स्थित है। उस पुण्य सरोवर के लक्ष्य में एक दिन सवेरे मैंने वहाँ से प्रस्थान किया। वहाँ पर मिले एक युवक सन्यासी भी सेवक के रूप में मेरे साथ चल दिये। चढ़ाव-उतार के कारण मार्ग दुर्गम था। प्रचण्ड सूर्यताप में खाली पेट पहाड़पर चढ़ने का काम बड़ा कठिन था। वस्तुतः मनोबल तथा इच्छा-शक्ति के बल पर कितने ही बड़े कष्टों को झेलने के लिए मनुष्य समर्थ बन जाता है। वहाँ के पर्वत-प्रदेश इतने नंगे थे कि छाया में बैठकर जरा विश्राम करने के वास्ते कोई पेड़ दिखायी नहीं देता था। एक बजे से कुछ पहले कुछ दूर से ही हमें उस पुण्य-सरोवर के दर्शन हुए और आध घण्टे के अन्दर हम उसके पास पहुँच गये। उसके अलौकिक सौंदर्यामृत को अतृप्त होकर पीने से हमने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया और यात्रा के सभी कष्टों को भूल गये। यह सरोवर वृत्ताकार था और इसका घेरा एक मील था। यह नली-निर्मल और अति शीतल जल से पूरित था। लाल कमल आदि मनोहर सुमनों से मंडित था। विशेष प्रकार के कृष्णवर्ण वाले पक्षियों के विलक्षण नाद से मुखरित था। इस सब सौंदर्य को देखकर चित्त अत्याह्लादित हुआ। इस तड़ाग में उतर कर हमने विधिपूर्वक स्नान किया।

इसी सर में दो-तीन छोटे-छोटे द्वीप हैं, जो वायु की गति के अनुसार इधर-उधर चलते रहते हैं। यात्री इन द्वीपों का दर्शन महादेव के रूप में करते

हैं। इन पर छः-सात फुट ऊँचे, एक तरह के दृढ़ तृण-समूहों से ढँके हुए, एक-दो छोटे-छोटे पेड़ भी है। छोटे द्वीपों के आकार के इन भूमि-खंडों के कारण ही पुराणों में इस सर की यशोगाथा गायी गयी है। यहाँ यात्री जल में भूमि-खंडों के चलने के आश्चर्यमय दर्शन करने के लिए आया करते हैं।

× × ×

स्कन्द-पुराण में इस सरोवर का नाम 'नीलह्रद' है, तथा सर के उस स्थान का नाम 'ह्रदालय' है। नीलह्रद के बारे में 'स्कन्दपुराण' से एक छोटा-सा उदाहरण यहाँ दे देना असंगत न होगा। एक बार लोमश महर्षि हिमाद्रि के दक्षिण भाग में तपस्या कर रहे थे। तब वे इसी सरोवर के पश्चिमी किनारे शिव की तपस्या करते रहे। शिव उनको दर्शन देने के लिए आये और इसी सरोवर में तृण-द्रुमादि से युक्त गिरि-शृंग के रूप में, प्लव के समान उस सरोवर में इधर-उधर चलते रहे। लोमश ने उठकर सर की ओर देखा तो आश्चर्य-चकित हो गये। उन्होंने महादेव की पूजा और स्तुति की और शिव ने कई अभीष्ट वरों को प्रदान कर उन्हें प्रसन्न किया।[1]

× × ×

---

1. महाद्रौ च समारूढ़ ह्रदमेकं ददर्श ह।
कूजद्भिः सारसैर्हंसैश्चक्रवाकैश्च शोभितम्॥
क्रीडद्भिरप्सरोवृन्दैर्जलक्रीडाभिरन्ततः।
गायद्भिः किन्नरगणैश्चतुर्दिक्षु समावृतम्॥
घनच्छायैस्तरुवरैः परितो मण्डितं शुभं।
स्फटिकस्वच्छसलिलं पद्मोत्पलविराजितम्॥
पद्मगन्धसमायुक्तं मन्दानिलमुवीजितं।
परितः शिखरैश्छन्नं दक्षिणाप्लुतमद्भुतम्॥
... ... ।
धर्माम्बुप्लुतदेहोऽसौ दृष्ट्वा मुदमवाप ह॥
× × ×
महदाश्चर्यकरं लोके जले पर्वतसंभ्रमः।
किमिदं देवचरितं किं वा दानवसंभवम्॥
इत्थं चिन्ताकुलमनास्तत्र शंभुं ददर्श ह।
चकितः सहसोत्थाय दत्वार्घ्योंपायनादिकम्॥

इस सरोवर के बारे मे पुराण-कथा के विषय मे यही कहूँगा कि तड़ाग के जल मे भूमि-खंडो का चलता रहना, उनमे कई शस्यो की खेती करना तथा उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर खींच ले जाना काश्मीर देश में साधारण बात है। अस्तु ! इन छोटे द्वीपों के ही कारण यह सरोवर उत्तर के हिन्दुओ की भक्ति तथा आदर का पात्र तथा तीर्थस्थान बन गया है।

बड़े आनंद के साथ तीन-चार दिन तक हम सरोवर के किनारे एक एकान्त भवन में रहे। प्राचीन काल मे स्वधर्म से भ्रष्ट होकर कुटुम्बी बने सन्यासियों की वंश-परम्परा हिमालय के कई भागों की तरह यहाँ भी दिखायी पड़ती है। हिमालय में मेरे परिव्रजन करते समय ऐसे कुटुम्बों का आतिथ्य स्वीकार करने का भाग्य या दुर्भाग्य मुझे कभी-कभी मिला था। यति-कुल में पैदा होकर भी पत्नी-बच्चों से घिरे किसी कुटुम्बी को ज्यों-ज्यो देखता हूँ, त्यों-त्यो सन्यास-धर्म की कठिनाई के बारे में मैं गहरी चिन्ता किया करता हूँ। सन्यास-धर्म का विधिपूर्वक पालन करना सामान्य मनुष्य के लिए बिलकुल असंभव है। इतिहासकारों का कहना है कि भगवान् बुद्ध और शंकराचार्य के बाद भारतवर्ष में सन्यास बहुत प्रचलित हुआ था। इतिहासज्ञो का यह भी कहना है कि अधिकारी और अनधिकारी के भेद के बिना सन्यासियों की संख्या बढ़ती चली गयी। इसलिए कइयो को अपने धर्म से पतित होकर कनक-कामिनी की गुलामी करनी पडी। शिव ! शिव ! कामिनी और कनक को जीत लेना क्या आसान बात है ? सिर्फ गेरुए कपड़े पहनने-मात्र से किसी की सहज मनोवासनाएँ कैसे नष्ट हो सकती हैं ? काम-क्रोध आदि हर एक वासना का संस्कार अपने उद्बोधक पदार्थ के सामने अवश्य उद्बुद्ध हो जाता है। विषयों के निकट आने पर भी उनको न जागने देने, तथा जाग जाने पर भी उनको बढ़ाये बिना दमन करने की सामर्थ्य, लम्बे समय के परिश्रम से, कुछ अनुगृहीत व्यक्तियों को ही मिल पाती है। इसीलिए पूर्वजों ने कहा है कि सन्यास-धर्म बड़ा कठिन है और इसीलिए वह श्रेष्ठ तथा पूजनीय है।

कुछ लोगों का तर्क है कि वैराग्य आकाश-कुसुम के समान एक असत्य वस्तु है। विराग-दशा की अवहेलना करते हुए कुछ पूर्वी और पश्चिमी समा-लोचक यह मानते हैं कि वैराग्य केवल शब्दमात्र है; उसका अनुष्ठान करना किसी भी मानव के लिए संभव नहीं है। चूंकि विषयोन्मुखता मन तथा इन्द्रियों का सहज-धर्म है, इसलिए उसे रोक सकना एक भ्रान्त कल्पना है, और राग की अनुद्बोधावस्था जब-तब सभी में होती है तो उसे वैराग्य बता देना

अविवेक है । मानना पड़ता है कि उनकी यह आलोचना गलत नहीं है । वह बुद्धि-संगत ही है । पर इतनी कमी अवश्य है कि वह सीमा के बाहर हो गयी है । उनकी यह धारणा कि इन्द्रिय एवं मन की विषयोन्मुखता को रोकना असाध्य है, युक्ति तथा अनुभव के विरुद्ध है । फिर भी इसमें पक्षान्तर नहीं है कि वह दुस्साध्य है । काम आदि वासनाओं को दृढ़ प्रयत्न के द्वारा धीरे-धीरे जीता जा सकता है । किन्तु तात्कालिक अप्रकटता के कारण यह समझना अविवेक है कि उनको पूर्ण रूप से जीता जा चुका है । वस्तुतः काम आदि वृत्तियों को जीतकर शम, दम आदि की सामर्थ्य पाने के पहले ही संन्यासमार्ग में प्रवेश करना महादुःखों का कारण बन जाता है । यह बहुत ही आवश्यक है कि पुराने संन्यासियों की इस दुर्दशा को वर्तमान संन्यासी और भविष्य के संन्यासी अच्छी तरह समझ लें और उससे अपने लिये कोई सबक सीख लें ।

मैं जब वहाँ रहता था तब कभी-कभी सर के किनारे बुद्ध के मंदिर में जाकर बुद्ध-मूर्त्ति के दर्शन किया करता था । सर के समान वह बुद्ध-मंदिर भी मेरे मन में बड़ी भक्ति, आनंद तथा श्रेष्ठ विचारों को पैदा कर देता था । गृहस्थ-धर्मी एक तिब्बती वहाँ पूजा करते थे । जब मैं वहाँ जाता तो वह पुजारी प्रेमपूर्वक मेरा स्वागत करके मेरी कुशलता पूछते थे । तिब्बत की राजधानी लासा से तीर्थयात्रा के लिए आये एक लामा भी उस समय वहाँ निवास करते थे । उन्होंने मुझसे कहा कि बौद्ध ग्रन्थों में भी एक बड़े पुण्यतीर्थ के रूप में प्रस्तुत सर का वर्णन किया गया है । उनमें यह सर 'सो-पैमा' के नाम से निर्दिष्ट है । तिब्बत आदि से अनेक बौद्ध धर्मावलंबी प्रतिवर्ष यहाँ की यात्रा करके सर के दर्शन, परिक्रमा आदि करते हैं, और बौद्ध लोग सर की परिक्रमा ही मुख्य समझते हैं । इस सर की उत्पत्ति के बारे में हिन्दू पुराणों में कही कहानी से बिलकुल भिन्न एक कथा भी उन्होंने मुझे कह सुनायी । हर-एक तीर्थ के बारे में जो ऐसी एक-एक अर्थवाद कथा है उसका यद्यपि यथाश्रुत अर्थ में कोई मतलब नहीं है, तथापि श्रद्धा पैदा कर देने के कारण उनका निजी महत्त्व है ।

बुद्ध-मूर्ति के सामने अखंड दीप जलता रहता है । उस तीर्थयात्री लामा को सर की परिक्रमा तथा बुद्ध-मूर्ति के सामने दण्ड-प्रणाम को छोड़ और कोई विधि मैंने नहीं देखी । अहा ! बौद्ध लामाओं की तपस्या कितनी कठिन है ! तिब्बत में लामाओं के आश्रम में जब मैं रहता था तब भी उनके अति कठिन तपस्या-नियम को देखकर मेरा मन चकित हो जाता था । किन्तु हिन्दू-संन्यासी

तो अधिकतर वाणी के आडंबर में खुश होकर व्यर्थ जीवन बिताते दिखायी पड़ते हैं। एक दिन शाम को मैंने भी उनके साथ भक्ति-पूर्वक उस सरोवर की परिक्रमा की।

जब मैं पहली बार उस मंदिर मे गया था तब बातचीत के बीच वहाँ की गृहिणी ने मेरे भोजन के लिए चावल आदि खाने की चीजें मेरे पास लाकर रख दी थीं। "माता जी ! भोजन के लिए मैं दूसरा प्रबंध कर चुका हूँ," ऐसी कृतज्ञता से भरी मेरी बात सुनकर भी उन्होंने उसे स्वीकार करने की मुझसे बार-बार प्रार्थना की। यद्यपि मैंने उनका उपहार स्वीकार नहीं किया, तो भी धर्म पर उनकी श्रद्धा देख मैं चकित था। एक हिन्दू गृहिणी के समान एक बौद्ध गृहिणी भी अतिथि के सत्कार मे बड़ी ही जागरूक है। अतिथि-सत्कार मे ही नहीं, दूसरे कई धर्माचरणों मे भी वे हमारे ही समान हैं। आज हिन्दू-धर्म के समान बौद्ध धर्म भी यद्यपि बहुत दूषित हो गया है, किन्तु यह खुशी की बात है कि उसके कुछ अच्छे अंश बिलकुल नष्ट नहीं हुए।

× × ×

इस तरह ह्रदालय के आनंदमय निवास को समाप्त कर हम मंडी राजधानी की ही ओर लौटे। ह्रदालय के निवास को 'आनंदमय' का विशेषण देने से यह शंका न हो कि मंडी का जीवन हमारे लिए आनंद-हीन था। वहाँ भी हमें आनंद ही होता था। आनंद आनंद ही कहा जा सकता है। प्रमाद से मुक्त एक सन्यासी के लिए किसी भी देश, किसी भी काल तथा किसी भी व्यवहार मे आनंद के सिवा और कोई भाव भला हो ही क्या सकता है ? दु:ख में भी वह आनंद का अनुभव करता है, क्योंकि दु:ख को भी वह आनंद के रूप में देखता है। आनंद ब्रह्म-स्वरूप है। दु:ख, सुख आदि का सारा संसार आनंद मे अर्थात् ब्रह्म में अधिष्ठित है। आधारभूत आनंद से वह भिन्न नहीं है। दु:ख-सुख, नर-नारी, नगर-सागर सब कुछ आनन्द-स्वरूप ही है।

लेकिन आज के कुछ वैज्ञानिक यदि जगत् से भिन्न किसी अधिष्ठान का आक्षेप करते हैं तो उसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। पृथ्वी आदि केवल चार भूतों में घूमने-फिरनेवाले वैज्ञानिकों को भूतातीत, इन्द्रियातीत एवं अव्यक्त पदार्थों के बारे में राय देने का अधिकार ही नहीं है। जो इन्द्रिय या यंत्रों की जाँच के विषय नहीं होते ऐसे सूक्ष्म विषयों मे उनका हस्तक्षेप करना उपहासजनक

१०. मणिकर्णिका और वसिष्ठ

मण्डी राजधानी में और भी कुछ दिन आनन्दपूर्वक रहने के बाद हम वहाँ से ऊपर की ओर मणिकर्णिका के लिए यात्रा करने लगे। वहाँ का मार्ग यद्यपि सुगम है, उसमें बड़े-बड़े वन या कठिन उतार-चढाव भी नहीं है, किन्तु प्रचण्ड सूर्य-किरणों के कारण तथा भोजन-सामग्री के अभाव में हमारे लिए वह यात्रा एक कठिन तपस्या ही थी। दिन मे भयानक गर्मी पड़ती थी, अतः हम ज्यादा-तर रात मे ही यात्रा करके कई गाँवो को पार करते रहे।

•

पर्वत हो या मैदान, सब जगह सांसारिक व्यवहार चलते रहते है। ससार सब कहीं ससार है। कही असंसार नही दिखायी पड़ता। ससार-चक्र विराम के बिना सदा चलता रहता है। ईश्वर अपनी मायाशक्ति के द्वारा हमेशा संसार-चक्र को चलाता रहता है। खाना, पीना, श्रम करना, विश्राम करना, प्यार करना, द्वेष करना, सुखी होना, दुःखी होना आदि संसार-क्रम सदा, सर्वत्र चलता रहता है। कोई हो या कोई न हो, कोई जन्म ले या कोई मर जाए, कोई बढे या कोई घटे—इस प्रकार के द्वन्द्वो की चिन्ता किये बिना ससार अपने स्वभाव के अनुसार आगे बढता जाता है। अहो! ईश्वर का लीला-रहस्य हमारी समझ से परे है।

कितने राजा-महाराजा मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं? कितने पण्डित पचतत्त्व मे मिल जाते हैं? कितने देश-भक्त देश से विदा लेते है? कितने बच्चे अनाथ हो जाते है? किन्तु इनसे संसार की गति नही रुकती। यह प्रकृति का नियम है कि एक के नष्ट हो जाने पर उसके स्थान पर दूसरा आ जाता है। जब यही वास्तविकता है तो यह चिन्ता क्यो की जाए कि मेरे मर जाने के बाद मेरे पुत्रो की रक्षा कौन करेगा? अथवा यह अभिमान क्यों किया जाए कि मेरे दान न देने पर ये ग़रीब कैसे गुजर करेंगे? मेरे काम न करने पर देश की उन्नति के लिए और कौन काम करेगा? आदि, इस इस प्रकार का अभिमान करना

जाना है। महात्माओं के अनुभव तथा अनुमान को प्रमाण मानकर विचारसमर्थ तत्त्वद्रष्टा दार्शनिक वीर जो चिन्तन करते हैं वही सूक्ष्म वस्तुओं के निर्णय में पर्याप्त होता है। यह संसार अधिष्ठान-स्वरूप ही है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध राय देनेवाले इस देश में प्राचीनकाल में भी कम नहीं थे। पंचख्यातिवाद तो पंडितों के बीच प्रसिद्ध ही है। जो भी हो, विचारशील मनुष्य इस के लिए तैयार न होंगे कि इस जगत् के, जो कि किसी नियमित रूप के बिना क्षणिक है, तथा दृष्ट-नष्ट स्वभाव के साथ भासमान है, अधिष्ठान में बुद्धि को पहुँचाये बिना, सत्य वस्तु के रूप में अभिषेक कर उसमें रमते रहें।

●●

१०: मणिकर्णिका और वसिष्ठ

मण्डी राजधानी में और भी कुछ दिन आनन्दपूर्वक रहने के बाद हम वहाँ से ऊपर की ओर मणिकर्णिका के लिए यात्रा करने लगे। वहाँ का मार्ग यद्यपि सुगम है, उसमें बड़े-बड़े वन या कठिन उतार-चढ़ाव भी नहीं हैं, किन्तु प्रचण्ड सूर्य-किरणों के कारण तथा भोजन-सामग्री के अभाव में हमारे लिए वह यात्रा एक कठिन तपस्या ही थी। दिन में भयानक गर्मी पड़ती थी, अतः हम ज्यादातर रात में ही यात्रा करके कई गाँवों को पार करते रहे।

●

पर्वत हो या मैदान, सब जगह सांसारिक व्यवहार चलते रहते हैं। संसार सब कहीं संसार है। कहीं असंसार नहीं दिखायी पड़ता। संसार-चक्र विराम के बिना सदा चलता रहता है। ईश्वर अपनी मायाशक्ति के द्वारा हमेशा संसार-चक्र को चलाता रहता है। खाना, पीना, श्रम करना, विश्राम करना, प्यार करना, द्वेष करना, सुखी होना, दु:खी होना आदि संसार-क्रम सदा, सर्वत्र चलता रहता है। कोई हो या कोई न हो, कोई जन्म ले या कोई मर जाए, कोई बढ़े या कोई घटे—इस प्रकार के द्वन्द्वों की चिन्ता किये बिना संसार अपने स्वभाव के अनुसार आगे बढ़ता जाता है। अहो! ईश्वर का लीला-रहस्य हमारी समझ से परे है।

कितने राजा-महाराजा मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं? कितने पण्डित पंचतत्त्व में मिल जाते हैं? कितने देश-भक्त देश से विदा लेते हैं? कितने बच्चे अनाथ हो जाते हैं? किन्तु इनसे संसार की गति नहीं रुकती। यह प्रकृति का नियम है कि एक के नष्ट हो जाने पर उसके स्थान पर दूसरा आ जाता है। जब यही वास्तविकता है तो यह चिन्ता क्यों की जाए कि मेरे मर जाने के बाद मेरे पुत्रों की रक्षा कौन करेगा? अथवा यह अभिमान क्यों किया जाए कि मेरे दान न देने पर ये ग़रीब कैसे गुज़र करेंगे? मेरे काम न करने पर देश की उन्नति के लिए और कौन काम करेगा? आदि, इस इस प्रकार का अभिमान करना

अविवेक-पूर्ण है ? काम करना जरूरी है। किन्तु अभिमान करना व्यर्थ है। ऐसा दुरभिमान करने वाले उस मूर्ख बुढ़िया के समान हैं जिसका अभिमान था कि यदि मेरा मुर्गा बांग न दे तो पौ नहीं फटेगी। सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि और उनका पालनकरने वाले करुणा-निधि परमेश्वर के विद्यमान रहने पर कोई, चाहे वह कितना ही पराक्रमी पुरुष क्यों न हो, यह अभिमान नहीं कर सकता कि 'मेरे न रहने पर जग चलेगा कैसे ?' ईश्वर-शक्ति के सामने मनुष्य-शक्ति भला क्या चीज है ? जगत्-पिता परमेश्वर स्वयं सब कुछ करते हैं। ईश्वर की शक्ति से यह जगत् चल रहा है। यों, सब कहीं, सब व्यवहारों में और सब पदार्थों में ईश्वर की बहुमुखी महिमा स्फुट रूप से प्रकाशमान है।

●

मंडी से छत्तीस मील दूर 'भून्तर' नामक बड़े गांव में हम दो दिन की यात्रा से पहुँच गये। वहाँ नदी के किनारे एक साधु के आश्रम में कुछ भक्त जनों की सेवा में हमने दो-तीन दिन विश्राम किया। फिर वहाँ से व्यास गंगा को छोड़ पार्वती गंगा के तट से ऊपर की ओर यात्रा शुरू की। मणिकर्णिका नामक पुण्यक्षेत्र यहाँ से केवल बीस मील पर स्थित है। यद्यपि वहाँ के पहाड़ छः-सात हजार फुट ऊँचे हैं तथापि उनकी निम्नतर तराइयों के मार्ग ग्रीष्म के ताप से जल रहे थे। किन्तु कुछ दूर, ऊपर की ओर चलते जाने पर, शीतल भूमि शुरू हुई। पर्वत नितंब के छोटे-छोटे खेतों में अफीम के पौधे फलों के साथ मदोन्मत्त भाव से लहरा रहे थे। उस मार्ग में भी हमने अनेक गांवों को पार किया। आखिर दूसरे दिन शाम को हम मणिकर्णिका पहुँच गये।

मणिकर्णिका एक छोटा-सा ग्राम है जिसमें कुछ तीर्थ-पुरोहित दरिद्र पर्वतीय ब्राह्मण रहते हैं। यहां की विशेषता एक है—एक ऊँचे पहाड़ के नीचे, पार्वती गंगा के तट पर गंधक-जल की एक धारा। यह धारा इतनी गरम है कि उसमें आटा तथा चावल पकाया जा सकता है, और इसी धारा के एक-दो कुंड हैं। इसी कारण यह स्थान तीर्थ माना गया है। यद्यपि यह स्थान मुझे इतना रमणीय नहीं लगा, किन्तु ऐसा अवश्य प्रतीत हुआ कि इस जलधारा में इतनी सामर्थ्य अवश्य है कि स्थूल-बुद्धि सामान्य जनता को आकृष्ट कर उसमें श्रद्धा एवं भक्ति पैदा कर सके। इसीलिए पूर्वजों ने इसे एक तीर्थ बना दिया था। दर्शन के लिए कुछ देव-मंदिर भी हैं। ब्रह्माण्ड पुराण में प्रस्तुत तीर्थ का जो वर्णन किया गया है उसे वहाँ के एक ब्राह्मण ने मुझे सुनाया था। हम वहाँ स्नान-दर्शन आदि करते हुए दो-तीन दिन रहे।

●

अहा ! श्रद्धा महान वैभव तथा महान विचित्रता से भरी है ! वह पानी को *तीर्थ बना देती है।* पत्थर को परमेश्वर बना देती है। दुनियाँ की सभी धार्मिक संस्थाएँ श्रद्धा पर प्रतिष्ठित है। वह संसार को ऐसे आगे बढाती है जैसे एक सेनापति सेना को। यदि श्रद्धा न हो तो संसार में कोई धार्मिक कार्य हो ही नही सकता। सहज सासारिक व्यापारो को करते हुए भी अधर्म-गर्त मे गिरे बिना संसार को धर्म-मार्ग पर चलानेवाली श्रद्धा ही है। दुनिया के दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न तथा अनेकानेक धार्मिक सिद्धात श्रद्धा के ही आश्रय पर पल रहे हैं। जिसमें श्रद्धा नही है, वह किसी भी दर्शन को सत्य मानकर उसका अनुष्ठान नहीं कर सकता। श्रद्धा के आश्रय को बिलकुल छोड़कर केवल सर्व-सम्मत युक्तिवादो के द्वारा कोई वस्तु-निर्णय करना असभव है। दुनिया मे आज तक जितने दर्शन हुए है उनमे कोई भी केवल अनुमान के आधार पर न तो वस्तु-निर्णय कर सका है, और न भविष्य मे ऐसा होनेकी सभावना है। प्रत्यक्ष-प्रमाण के लिए जो विषय अगोचर है, उनका निर्णय अनुमान-प्रमाण के द्वारा दार्शनिक करते हैं। ऐसे भी कई सूक्ष्म, निगूढ एव सत्य तत्त्व हैं जिन तक अनुमान की पहुँच भी नही हो सकती। उनका निर्णय कैसे किया जा सकता है ? उनका निर्णय केवल महात्माओ तथा शास्त्रो पर श्रद्धा के द्वारा ही किया जाता है। जिस व्यक्ति मे श्रद्धा नही है, वह उनका निर्णय नही कर सकता। यदि वस्तु-तत्त्व अनिश्चित हो तो उसकी साधना मे कैसे लग सकते हैं ? उन्नति एवं महिमा का एकमात्र कारण श्रद्धा है। कठिन तपस्याओं को भी सरल बना देनेवाली श्रद्धा है। इसके वैभव एव विचित्रता का वर्णन कैसे करूँ ?

●

मणिकर्णिका से लौटकर हम दो दिनों में भून्तर पहुँच गये और अगले दिन सात मील की दूरी पर कुल्लु राजधानी मे प्रविष्ट हुए। कुल्लु भी मडी के समान एक छोटा नगर है। मडी से पश्चिमोत्तर दिशा में स्थित कुल्लु नामक हिमालय के एक छोटे-से भू-भाग की राजधानी है कुल्लु। वह मणिकर्णिका नामक उपर्युक्त तीर्थ भी कुल्लु के अन्तर्गत है। यह स्थान व्यास के तट पर समुद्र की सतह से केवल तीन-चार हजार फुट की ऊँचाई पर है। इसका जलवायु समशीतोष्ण है। इसकी आबादी बहुत अधिक नहीं है। मैं वहाँ कुछ दिनों तक एक एकांत स्थान मे बड़े उल्लास के साथ निवास करता रहा। यद्यपि कुछ विशेष व्यक्तियों ने मुझ से प्रार्थना की थी कि मैं कुछ महीनों तक वहाँ के 'सनातनधर्म मंदिर' में रहूँ, और सब प्रबन्ध वे कर देंगे, तो भी कई कारणों से मेरा मन वहाँ न

लगा। अतः कुल्लु मे कुछ दिन विश्राम करने के बाद मैं दूसरे साधु के साथ एक दिन सवेरे वसिष्ठ के लक्ष्य से यात्रा करने निकल पड़ा।

वसिष्ठ कुल्लु से चौबीस मील उत्तर की ओर हिम से ढकी पर्वत-मालाओ की तराई पर स्थित एक विशेष तीर्थ है। यह महर्षि का मुख्य तपः-स्थान था। मणिकर्णिका के समान यहाँ भी उष्ण जल से भरा एक कुंड लहरा रहा है। कुंड के पास एक मन्दिर है जिसमें वसिष्ठ भगवान की मूर्ति प्रतिष्ठित है। हम व्यास-गंगा के किनारे-किनारे मनोहारी पर्वत-प्रांतों को देखते धीरे-धीरे चलते हुए तीसरे दिन वसिष्ठ धाम पर पहुँच गये। इस एकान्त एवं विशाल मार्ग ने मन को बड़ा आनन्द तथा उत्साह देते हुए यात्रा के कष्ट को कम कर दिया था। वसिष्ठ से दो मील नीचे तक मोटर गाड़ी चलती है, इसलिए उसमे जानेवाले के लिए यह प्रदेश दूर या दुर्गम नही लगता।

बड़ी भक्ति और आनंद के साथ स्नान, दर्शन, भजन आदि करते हुए हम चार दिन वसिष्ठ मे रहे। क्षुधा-शान्ति के लिए खाद्य-पदार्थ पास के ग्राम से मिलते रहे। यद्यपि इस प्रदेश के पहाड़ी लोग बहुत गरीब हैं, और बड़ी कठि-नाई के साथ जीवन बिता रहे हैं तो भी वे ईश्वर, साधु और स्वधर्म मे परम्परागत श्रद्धा एवं भक्ति रखते हैं। इसी कारण उन्होंने हमारा सत्कार आदरपूर्वक किया।

×   ×   ×

जिस ईश्वर ने उदारशील धर्म-बुद्धि कुटुंबियो के लिए नित्य-दरिद्रता एवं नित्य-दुःख दिया है, उसकी सृष्टि-महिमा का रहस्य समझ मे नही आता। ससार के सभी दार्शनिको के लिए यह एक कठिन समस्या है कि यदि ईश्वर सर्वशक्त, स्वतंत्र एवं दयालु है तो उसने इतने दुःखभरे ससार की सृष्टि क्यों की है। इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से देने की कोशिश की गयी है। दर्शन-ग्रंथो मे अनेक कर्कश तर्कों द्वारा इस विषय की आलोचना की गयी है। ईश्वरवादी दार्शनिक कितनी ही युक्तियों की वर्षा करें तो भी कुछ लोग इस अन्याय को देखकर ईश्वर-सत्ता का भी निषेध करने लगते हैं कि सर्वशक्त भगवान ने इतने दुःख-भरे ससार की सृष्टि की है। यदि यह मान लें कि ईश्वर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है और उसने इस दुःखपूर्ण प्रपंच की सृष्टि की है तो उस पर निर्दयता, विषम दृष्टि, राग, द्वेष आदि अनेक दोषो की कल्पना करनी पड़ेगी, और ऐसे अनेक दोषों से दूषित ईश्वर को मान लेना मूर्खता है। शारीरिक भाष्य मे 'ईश्वरस्तु पर्जन्यवत् द्रष्टव्यः' से लेकर श्री शंकर ने कितनी ही युक्ति

तथा मधुरिमा के साथ इस गहन विषय पर अपनी राय प्रकट की है। जिसका तात्पर्य इस प्रकार है—इस जगत में ईश्वर की तुलना बादल से की जा सकती है। चावल, जौ आदि अनाज की सृष्टि में बादल सामान्य कारण-मात्र है। विभिन्न अनाज भिन्न भिन्न रूप में अंकुरित होकर फूलें-फलें, इसके लिए उन बीजों में वर्तमान भिन्न-भिन्न शक्ति-विशेष ही मुख्य कारण है। वैसे ही, ईश्वर भी देव, मनुष्य आदि की रचना में सामान्य कारण-मात्र है। उनकी आकार-विषमता, व्यवहार-विषमता तथा सुख दुःख आदि की भोग-विषमता में उन-उन जीवों के पूर्वकृत कर्म ही मुख्य कारण हैं।

इस प्रसिद्ध बात पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखायी देता कि ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ यहाँ तप करते थे। प्राचीन ऋषि एकांत जीवन और *आत्म-चिंतन का आनन्द भोगने के इच्छुक थे। आत्मा को भूलकर वे अनात्म* विषयों में जरा भी रस लेना नहीं चाहते थे। आत्मलाभ के बिना यह सारा ब्रह्माण्ड ही मिल जाए तो भी वे उसमें कोई लाभ नहीं मानते थे। आज के समान वे आत्मलाभ को केवल शब्दों में नहीं मानते थे; दीर्घकाल तक योग-समाधि में विहार किये बिना उनका मन तृप्त नहीं होता था। उन ऋषियों को यह धारणा स्वीकार्य नहीं थी कि देह-नाश के बाद ही निरातंक एवं निरर्गल आत्मानंद होता है, न कि जीवन की दशा में। समाधि के द्वारा वे सशरीर ही शुद्ध *आत्मानंद भोगते रहे। "हे आर्यपुत्र! मेरी भगिनी तो सन्तानवती बन चुकी* है। मैं सन्तानवती क्यों नहीं होती?" पत्नी के इस भाव-गर्भित उपालंभ को सुन नपुंसक पति जवाब देते हैं, *"प्रिये! जब तक मैं जिन्दा रहूँगा, तब तक* तू सन्तानवती नहीं होगी। मेरे मरने के बाद अवश्य ही तू बनेगी।" पति के जीवनकाल में ही यदि संतान न हो तो यह आशा कैसे की जा सकती है कि उसके मरने के बाद होगी? उसके पति का यह शोचनीय उत्तर स्पष्टतः पुत्रोत्पादन में असमर्थता प्रकट करता है। हमारे पूर्वजों ने ऐसे ज्ञानी जनों की तुलना इस नपुंसक पति की है जो जीवन-दशा में निरातंक आत्म-समाधि एवं आत्मसुख को भोगे बिना विदेह में उसको भोगने के इच्छुक हैं।

इसीलिए समाधि-प्रिय प्राचीन ऋषीश्वर यदि समाधि के लिए बड़े ही अनुकूल वातावरण हिमगिरि के ऊपरी देशों के आश्रय में आये तो यह ठीक ही है। *यद्यपि दूसरे भी कुछ ऐसे स्थान हिमालय में इधर-उधर हैं जो भगवान* वसिष्ठ के निवास-स्थान कहलाते हैं, तथापि हिमावृत पर्वत-पंक्तियों का *निकटवर्ती, तप्तजलमय, विदूरता में स्थित एवं नितांत सुन्दर प्रस्तुत स्थान, पुन* सब में उत्तम होकर शोभायमान है। अस्तु!

●●

११. त्रिलोकीनाथ

: १ :

पश्चिम हिमालय मे परिव्रजन करने के उद्देश्य से मैं हृषीकेश से चला था, तो 'त्रिलोकीनाथ' नामक पुण्यधाम भी मेरी कल्पना मे था। मुझे वहां के मार्ग का पूरा पता नहीं था। इसलिए यह यात्रा निश्चित नही थी। जब कुल्लु से मार्ग का पूरा पता मिल गया तो मैंने तुरन्त वहाँ की यात्रा का निश्चय कर लिया। जब यह भी मालूम हुआ कि हिम-पद्धति एवं शीत की अधिकता से मार्ग बड़ा दुर्गम है तो वहाँ के प्रस्थान का उत्साह और भी अधिक बढ़ता गया। वसिष्ठ के ग्रामीणो ने मेरी यात्रा को अनुरोधपूर्वक रोका था। उन्होने मुझे सलाह दी कि मार्ग मे 'लट्टाङ्' नामक एक घाट को पार करना है। इस ज्येष्ठ महीने मे वहाँ बहुत दूर तक बरफ पड़ी होनी है, तथा इस समय वहाँ की सर्दी भी सहन नहीं होती, इसलिए दो महीने के बाद ही जाना अच्छा है। पर मैंने उनकी सलाह की परवाह नही की। मार्ग कितना ही कठिन क्यों न हो तो भी—चूकि अधिक समय वहाँ रहने की मेरी इच्छा नही थी, इसलिए—मैंने यही निश्चय किया कि अविलब यहाँ से यात्रा शुरू करनी चाहिए।

त्रिलोकी की यात्रा करने की इच्छा रखने वाले सात-आठ साधु वसिष्ठ मे रहते थे। वहाँ से यह स्थान पैंसठ मील की दूरी पर है। मार्ग की दुर्गमता को जानते हुए भी जब इन साधुओं ने मेरा दृढ़ संकल्प देखा तो उन्होने बड़ी खुशी के साथ मेरे साथ चलने के लिए अपना विचार प्रकट किया। इस सम्बन्ध मे अधिक क्या कहूँ। मैं तो अकेले ही प्रस्थान करने के लिए तैयार था, किन्तु जब इन सात-आठ साधुओं को भी अपने साथ चलने को तैयार देखा तो मैं अति प्रसन्न हुआ।

एक दिन भोजन के बाद दो बजे भगवान वसिष्ठ को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर हमने वसिष्ठ से सानंद यात्रा शुरू की। जून के महीने की कठिन धूप थी। एक दो गाँवों से भिक्षा में मट्ठा लेकर पी लिया। व्यास के किनारे से पाँच-

छः मील उत्तर की ओर जाने पर धीरे-धीरे चढ़ाई शुरू हुई। दो मील ऊपर चढ़कर बरफ से ढँकी लट्टाङ् पर्वतमाला की तराई पर शाम को पहुँच गये। लाल नामक उस स्थान में एक धर्मशाला के एक अनावृत बाहरी भाग में हमने रात बितायी। वहाँ की असहनीय सर्दी से हम सभी रात भर ठिठुरते रहे।

प्रभात हुआ। तेरह हजार पाँच सौ फुट ऊँचे लट्टाङ् दर्रे को आज पार करना है। हिम से भरे भयानक-विकट मार्ग में आज बहुत दूर तक चलना है। मेरे साथी साधु मार्ग-विषमता की चिन्ता से भय-विकल थे और अपने आसनों पर ही बैठे हुए थे। उन्हें मैंने साहसी वचनों से प्रोत्साहन दिया और यह सलाह देकर आगे चल पड़ा कि जरा भी आलस्य किये बिना वे जल्दी मेरे पीछे चलते आएँ। बड़ी कठिन विकट चढ़ाई पर चढ़ते जाना था।

त्रिलोकीनाथ का भक्ति के साथ स्मरण कर हम ऊपर चढ़ने लगे। दस ही क्षण के अन्दर सब लोग घोड़े के समान हाँफने लगे। फिर भी हम एक मील से ज्यादा ऊपर चढ़ गये। एक विशाल चट्टान पर बैठकर कर विश्राम किया। लो, यहाँ से एक जलधारा के रूप में व्यास गंगा निकलती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह प्रदेश वेदव्यास का आश्रम-स्थान था, और यहाँ से निकलने के कारण इस नदी का नाम व्यास-गंगा पड़ा। यद्यपि व्यास महर्षि का मुख्य स्थान बदरिकाश्रम था, तथापि वे यहाँ भी तपश्चर्या में रहा करते थे। दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि यह वही नदी है जो 'विपाशा' के नाम से पुराणों में वर्णित है। इस नदी का नाम विपाशा क्यों पड़ा पुराणों में इसका वर्णन आख्यायिका के रूप में मिलता है। यह भी कहा जाता है कि कि विपाशा का अपभ्रष्ट रूप ही व्यास है।

अधिक समय बैठकर विश्राम करने का समय नहीं था। हमें दस-ग्यारह बजे से पहले-पहले घाट को पार करना था। ग्यारह बजे के बाद प्रचण्ड हवा चलनी शुरू हो जाती है। तब घाट को पार करना ज्यादा मुश्किल हो जाएगा। हम सब उठे और तेजी से चल पड़े। ऊपर चढ़ते जाने पर वृक्ष-लताओं से बिलकुल शून्य नगे मैदान आते गये जो कि हमारे मन को अधिक आनंद देते रहे। हममें से एक साधु को चढ़ाई शुरू करने पर सिर-दर्द होने लगा था और ऊँचे पर्वत-शिखरों को देखकर डर से उसका मन काँपने लगा था। इसलिए वह दो मील की ऊँचाई से नीचे ही लौट पड़े। शेष हम सब इधर-उधर बैठकर थोड़ा-थोड़ा विश्राम करते और साहस एवं ईश्वर-चिन्तन के साथ फिर भी चढ़ते चले गये। लगभग चार मील ऊपर चढ़ जाने पर हम सब थककर चूर-चूर हो

गये। इसीलिए थोड़ा-थोड़ा पाथेय खाकर हमने वहाँ अधिक समय तक विश्राम किया।

अब यहाँ से आगे हिम-पटलों से आवृत धवल पर्वत-शिखर को पार करना है। सामने विशाल सफ़ेद चोटी को देखते ही साथुओं का सारा साहस समाप्त हो गया। मार्ग का अच्छा परिचय हुए बिना उस घाट को पार करने की कोशिश करना सचमुच बड़ा ही खतरनाक था। हिम में प्रवेश करके यदि रास्ता भूल जाए और इधर-उधर भटकना पड़े तो मौत ही इसका नतीजा है। इसलिए मार्ग की चिंता से मेरा मन भी थोड़ा-सा घबरा गया। किन्तु—

विपदस्सन्तु नःशश्वद् यासु संकीर्त्यंते हरिः।

यह महान वाक्य कितना ही सच है कि संपत्ति प्रायः सर्वेश्वर को भुला देने-वाली एक मादक वस्तु है तथा केवल विपत्ति में ही ईश्वर दृढ़-स्मरण एवं संकीर्तन का विषय बन जाता है। जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करते तथा एक बार भी ईश्वर का स्मरण नहीं करते ऐसे नास्तिक भी विपत्ति आ पड़ने पर "हे परमेश्वर! परमात्मन! हे दीनबन्धो! बचाओ, बचाओ" आदि की पुकार करके प्रार्थना करने लगते हैं। कोई एक संस्कार ही उन्हें ऐसा करने को प्रेरणा देता है। यह भी ईश्वर की ही महिमा है, अथवा उसी की ही करुणा है। यद्यपि सबके हृदय-सरोवर के अन्दर यह ज्ञान-रत्न विद्यमान है कि ईश्वर है और उसकी महिमा अपार है, तथापि नाना प्रकार के विषयरस की लहरियों से आवृत होने के कारण वह प्रकट नहीं होता, किन्तु अवसर आ पड़ने पर, अर्थात् विषयरस के शुष्क हो जाने पर, "हे परमात्मन्! कृपासिंधो! बचाओ बचाओ!" आदि के शब्दों मे वह स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

यह एक तथ्य है जो कि सर्वत्र दिखायी पड़ता है। इस यात्रा में मेरे सहगामी मित्र भी इस विषम अवसर पर अपने को बचाने के लिए हृदयपूर्वक और भक्ति के साथ ऊँचे स्वर मे "त्रिलोकीनाथ की जय" पुकारने लगे। साधु होने पर भी उनमे ज्यादातर ऐसे थे जो हृदयपूर्वक भगवान की शरण में नहीं आये थे। फिर भी उनके मन को उस समय ईश्वर में लगा हुआ देखकर मैंने इसे भी ईश्वर की ही कृपा समझी। ईश्वर की कृपा हो तो भक्ति पर विश्वास न रखने वाले लोग भी क्षण भर में अति भक्त बन जाते हैं।

लीजिए, हमारे पीछे घोड़ों, गधों और भेड़ों पर सामान लादे यात्रियों का एक दल ऊपर चढ़ता आ रहा है। उनको देखते ही हमारा मन आनंद से

भर गया। मुझे ऐसा लगा मानो ये हमारी सहायता के लिए ईश्वर के भेजे हुए मार्ग-रक्षक हैं। जो भी हो, जब वे हमारे पास पहुँच गये तब हमने बड़े आनन्द तथा प्रेम के साथ उनका स्वागत किया और उनका पीछा करते हुए साहस के साथ घाट को पार करने लगे। वे लोग विदेशों में व्यापार करनेवाले तिब्बत के कुटुंबी थे। उनके साथ स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। लद्दाख यारकन्द, तिब्बत आदि दूर देशों की ओर इसी घाट को पार करते हुए मार्ग जाता है। ज्येष्ठ महीने से कार्तिक महीने तक ब्रिटिश देश से इन देशों की ओर तथा वहाँ से यहाँ की ओर कई व्यापारी इसी घाट को पार करते हुए हर साल आते जाते हैं। इन व्यापारियों के कदमों का पीछा करते हुए हम बरफ के ऊपर धीरे-धीरे चलने लगे।

प्रातः के नौ बज चुके हैं। सूर्य का प्रकाश पड़ने पर हिम-समूह चमचम चमकने लगा। सूर्य-किरणों की गर्मी से बरफ़ थोड़ा-थोड़ा पिघलने लगा। इसी कारण पैर हिम पर फिसलने लगे। यद्यपि मैं चाहता था कि धूप से हिम के पिघलने से पहले-पहले इस हिम-महति को पार कर लेना चाहिए, किन्तु दैवेच्छा से थोड़ी देर हो गयी। वस्तुतः केवल एक विषय का ज्ञान होने से उसका अनुष्ठान होना सभव नहीं होता। अनुष्ठान बाहरी तथा आतरिक दोनों सामग्रियों पर निर्भर रहता है। ज्ञान के होने पर भी अपनी इच्छा के अनुकूल सदा उस का अनुष्ठान संभव नही होता। अब हिम के पिघल जाने से उसे पार करना बड़ा कठिन तथा खतरनाक हो गया था। रास्ता केवल एक-दो फुट चौड़ा था और वह भी कड़ी ढाल वाले पहाड़ की बग़ल में से होकर जा रहा था। इसी रास्ते पर हमे जाना था। फिसलने का डर हर समय बना हुआ था। फिसलकर यदि नीचे गिरे तो मृत्यु निश्चित थी। पहाड़ की बग़ल बरफ़ से ढँकी हुई थी। ऐसे मार्ग से फिसल जाने वाले बिना किसी आधार के पहाड़ की गहरी तह की ओर लुढ़कते जाते हैं और हिम के ढेरों मे मिल कर अगोचर हो जाते हैं। इस स्थिति में न तो वे स्वयं अपने को बचा सकते है, और न देखनेवाले दूसरे लोग उन को बचा सकते हैं। हमारे ऊपर-नीचे और आगे-पीछे सब कहीं विशालता में फैला हुआ हिम-समूह था। उसी के बीच में से चलते जाना हमारे लिए दुर्गम तथा भयावह था, क्योंकि हम ऐसी विकट यात्रा से परिचित नही थे।

यद्यपि मेरे लिए हिम बड़े आनंद का कारण था, तो भी मार्ग-विषमता के कारण बड़ा कष्ट झेलना पड़ा। फिसल कर गिरें तो लुढ़क जाए बिना नहीं

रह सकते। ऐसे तंग भयानक रास्ते से लगभग डेढ़ मील ऊपर चढ़ते जाने पर पहाड़ की ऊँची सीमा का एक विशाल मैदान मिल गया। वहाँ दो से आठ फुट तक सर्वत्र घना हिम-समूह फैला हुआ था। अब हम उसी पर बच्चों के समान दौड़ते हुए और निश्चिन्त कदम बढ़ाते हुए स्वच्छंद रूप से चलने लगे। कभी-कभी हम चीनी के कणों के समान मृदुल तथा विशाल हिम-राशि पर फिसलकर ढुलक भी पड़ते थे, किन्तु फिर उठकर आगे की ओर कदम बढ़ाने लगते थे। ग्यारह बजे से पहले-पहले हम उस विशाल मैदान के मध्य-भाग पर पहुँच गये। वहाँ हम सब ने पहाड़ की चोटी पर स्थित हिम से ढके पर्वतीय देवता को प्रणाम किया और उसकी परिक्रमा की। चूँकि वहाँ विश्राम करने की जगह नहीं है, इसलिए व्यापारी तो आगे चलने लगे, किन्तु मुझे वहाँ देवता के पास एक पत्थर के ऊपर हिम के पिघल जाने के कारण थोड़ी-सी साफ जगह मिल गयी और मैंने वहाँ बैठ कर बहुत देर तक आराम किया।

अहा! उस पर्वत-पंक्ति की धवल-धवल, चमचम चमकने वाली दिव्य-सुषमा का मैं कैसे वर्णन करूँ? हिम ही हिम! जहाँ देखिए, जहाँ तक नज़र जाती है, हिम-राशि को छोड़ और कोई वस्तु आँखों के सामने नहीं आती। मुझे ऐसा लगा कि मैं मिट्टी की भूमि पर नहीं, रजत-भूमि पर बैठा विश्राम कर रहा हूँ। मध्याह्न की प्रचण्ड सूर्य-किरणों के प्रतिबिंब से हिम-राशि भी सूर्य-मंडल के समान समुज्ज्वल हो गयी थी। इतनी समुज्ज्वल कि आँखें चौंधियाँ जाती थीं और इसलिए बड़ी देर तक हिम-पटल पर आँखें दौड़ाना असंभव हो गया था। मैं लगभग पन्द्रह मिनट तक वहाँ बैठा-बैठा अलौकिक कान्ति का उपभोग करता रहा। नीचे उज्ज्वलता और धवलिमा के साथ प्रकाशमान हिम की शोभा, उधर ऊपर गहरी नीलिमा और निर्मलता के साथ प्रकाशमान आकाश की कान्ति—दोनों का सौम्य संघर्ष उस दोपहर के समय उस पहाड़ की चोटी को एक दुर्लभ और विलक्षण चमत्कार-भूमि बना रहा था।

हिम-पर्वतों के शिखर मेघ-मालाओं से आवृत रहने के कारण प्रायः अदृश्य रहा करते हैं। कुछ विरले ही अवसरों पर इस प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं कि इन्द्रनील के बने निर्मल ऊपरी वितान के नीचे रजत-पर्वतों का सम-विषम फ़र्श बिछा पड़ा है। फिर, प्रकृति के ऐसे अलौकिक विलास को उचित रूप से भोगने की इच्छा एवं सामर्थ्य रखनेवाले यात्री भी ऐसे दुर्गम मार्गों पर बहुत कम ही चला करते हैं। सच तो यह है कि प्रकृतिदेवी के ऐसे नृत्य-मंच पर एक सहृदय की स्थिति में तथा वेदांतियों की निर्विकल्प समाधि

में बहुत बडा अतर नही होता। यदि एक ओर निर्विकल्प समाधि में ऐसा जगत् जो कि नाम रूप और क्रिया से युक्त राग-द्वेष, शोक-मोह और सुख-दुःख से पूर्ण शत्रु-मित्र, पुत्र-कलत्र आदि कल्पनाओं से मण्डित तथा पडित-पामर, स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष आदि विषमताओं से विषम प्रकट नहीं होता तो वैसा जगत् प्रकृतिदेवी की विलास-भूमि मे भी दिखायी नही देता। इसीलिए विद्वानो ने प्रकृति-दर्शन का उल्लेख समाधि-भूमि के रूप मे किया है।

वहाँ की दिव्य-सुषमा-पुंज में मैं सब कुछ भूल कर, यहाँ तक कि अपने-आपको भूलकर, बहुत देर तक उस पत्थर पर बैठा रहा, और तभी मुझे ध्यान आया कि मेरे साथी यात्री बहुत आगे बढ़ गये है। मैं तुरन्त उठकर चलने लगा। यहाँ से पहाड़ का उतार शुरू होता है। उतार का रस्ता भी चढाव के रास्ते के ही समान विकट एव भयानक था। मैं लकडी टेकते हुए धीरे-धीरे उतरने लगा। हम में से किसी को यह मालूम नही था कि बरफ आगे कितनी दूर तक होगी। व्यापारियों के मन मे भी इस बात की शका थी कि न जाने ऐसी स्थिति कहाँ तक रहेगी। ईश्वर की कृपा से उतार में एक मील से अधिक दूर हिम नही था। धीरे-धीरे उस विकट हिम-भाग को पार कर हम विशाल मिट्टी की पहाड़ी के पार्श्व से स्वच्छद तेजी के साथ नीचे उतरने लगे।

लट्टाङ् पर्वत-पक्ति के इस ओर जिस प्रकार व्यास गगा बहती है, उसी प्रकार इसके उस पार 'भागा' नामक एक नदी कुछ दूर से निकलकर नीचे बहती है। यह नदी तथा दूसरे एक पर्वत से निकलनेवाली 'चन्द्रा' नामक एक नदी, दोनों मिलकर 'चन्द्रभागा' (चनाब) नाम से आगे चल कर सिंधु की एक पोषक नदी बन जाती है। पहाड़ी ढाल से नीचे उतरकर इस भागा के किनारे से कुछ दूर जाने पर एक छोटी-सी धर्मशाला मिल गयी। इस प्रकार तीन मील से अधिक सम-विषम हिम-प्रदेश को तथा आठ मील तक के भू-प्रदेश को पार करके सयमनीपुरी के कपाट के समान भयानक 'लट्टाङ्' दर्रे को लाँघकर हम बिलकुल थके-माँदे, चूर-चूर होकर लगभग तीन बजे उस धर्मशाला मे पहुँच गये और उस दिन वहाँ विश्राम किया।

घाट के उस पार भू-प्रकृति बड़ी ही विलक्षण दीख पड़ी। वृक्षादि से हीन, बिलकुल नग्न और हिम से आवृत शिखरों से युक्त ऊँचे पहाड़ों से भरा वह प्रदेश बड़े विस्मय को पैदा करता था। गाँव इधर-उधर दिखायी पड़ते थे। वहाँ बौद्ध धर्मावलम्बी, एक तरह की मकर-जाति के लोग, निवास करते हैं। उनका बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म से इतना मिला हुआ है कि उनके हिन्दू होने

की भ्रांति हो जाती थी। यहाँ भी गाँवों से कुछ दूर पर लामाओं के आश्रम दिखायी पड़ते हैं। किन्तु यहाँ के लामा तिब्बत के लामाओं के समान तपस्वी और सदाचारी नहीं हैं। ये अधिकतर गृहस्थ-धर्मी बनकर स्त्री-सहवास के रस में डूबे हुए लौकिक जीवन बितानेवाले हैं। मैं यहाँ के कुछ लामाओं के आश्रमों में गया था और उनके आचरणों को समझ लिया था।

'खोक्सर' नामक उस स्थान से हमने अगले दिन सवेरे यात्रा शुरू की। मार्ग पश्चिमोत्तर दिशा में जा रहा था। सर्दी इतनी अधिक थी कि हाथ-पैरों की उँगलियाँ लकड़ी के समान ठिठुर जाती थीं। इसलिए सवेरे स्वच्छंदतापूर्वक चलना कठिन हो गया था। उधर कड़ाके की सर्दी की भीषणता तथा लकड़ी की कमी के कारण रात में नींद भी बहुत कम आयी थी। किन्तु हम कुछ दूर तक कठिनाई से चलते रहे। आठ-नौ बजे सूर्य भगवान् और उसकी तप्त किरणें हम पर पड़ने लगीं। थोड़ा हाथ-पैर खुल गये और हम चेतना के साथ चलने लगे। दस बजे के पहले हम नौ मील दूर के सीसु नामक स्थान पर पहुँच गये।

यहाँ हमने थोड़ी देर आराम किया। वहाँ भिक्षादि के लिए कोई सुविधा न थी, इसीलिए हम फिर आगे बढ़े। एक ग्राम के निकट जल के पास खाना पकाकर खाया और शाम को सीसु से सात मील दूर 'गोन्दुला' नामक एक सुन्दर स्थान पर जा पहुँचे। यहाँ एक राजमहल स्थित है।।

अगले दिन वहाँ से दस मील दूर 'लोटु' नामक एक गाँव के पास एक धर्मशाला में रात बितायी। इस प्रदेश के बौद्ध-धर्मी ग्रामीण प्रेमपूर्वक भिक्षा देकर साधुओं का आदर करने में बड़े उत्सुक थे। मेरे साथ के साधु तो भिक्षा लेने में बड़े प्रवीण थे। अतः भोजन के विषय में मुझे कोई कष्ट नहीं होता था। पका हुआ अन्न स्वीकार करना साधुओं को पसन्द नहीं था। इसलिए हम प्रतिदिन अपक्व खाद्य-सामग्री लाकर और उसे पकाकर खाया करते थे। साधु-मंडली के नेता के रूप में वे मेरे भोजन आदि कार्यों में बड़ा ध्यान रखते थे। चूँकि दूध और मट्ठा उस मार्ग में बहुत मिलता था, इसलिए चलने के कारण हमारे शरीर को रत्त मात्र भी थकावट की अनुभूति नहीं होती थी।

लोटु से हम अगले दिन सवेरे उठकर चल दिये। लोटु से पाँच मील पीछे 'तंती' नामक स्थान पर भागा नदी चन्द्रा से मिलकर 'चन्द्रभागा' बन गयी है। अब हम उस दिव्य सरिता के सुन्दर किनारे से आगे चल रहे हैं। 'त्रिलोकीनाथ' नाम का प्रसिद्ध धाम भी इसी चन्द्रभागा के तट पर बसा है। लोटु से सात मील की दूरी पर 'जादुमा' नामक एक गाँव स्थित है। मार्ग पश्चिमोत्तरी

दिशा पर धीरे-धीरे निम्न प्रदेशों की ओर जा रहा था । इसलिए शीत की कठिनता कम होती गयी । इतना ही नहीं, जादुमा से आगे वृक्ष-लतादि तथा घने वनों के शुरू होने से भूमि की प्रकृति ही बदल गयी । जादुमा तक भूमि की प्रकृति बड़ी ही अलौकिक एवं असाधारण थी । बिलकुल नंगी, हिम शिखरों से सुशोभित तथा कृष्णारुण वर्ण में आकर्षक समुन्नत पर्वत-पंक्तियाँ हृदय को बड़ा आनन्द देती थीं । यहाँ से आगे पहाड़ी शोभा एक अन्य रूप में प्रकट होती है । जादुमा से सात मील दूर 'त्रोटु' नामक गाँव में रात बितायी ।

●

अगले दिन हम वहाँ से सिर्फ सात मील की दूरी पर बड़े आनंद के साथ 'त्रिलोकीनाथ की जय' की जय-ध्वनि करते हुए ग्यारह बजे से पहले-पहले 'त्रिलोकीनाथ' में प्रविष्ट हो गये । तभी मेरे मन में विचार उठने लगा—

अर्कानलादि वेळिवोक्के मद्दिक्कुमोरू ।
कण्णिन्नु कण्णु मनमाकुन्न कण्णतिनु ।।
कण्णायिरुन्न पोरुळ ताने्न्नुरक्कुमळ ।
वानंदमेन्नु हरि नारायणाय नमः ।।

—हरिनामकीर्तनम्

प्रकृति की सारी शोभा को दिखानेवाले सूर्य, चन्द्र आदि हैं । सूर्य, चन्द्र आदि को प्रकाशित करनेवाली, अर्थात् ग्रहण करनेवाली आँख है । आँखों की भी आँख मन है, अर्थात् आँख को प्रकाशित करनेवाला मन है । मनोवृत्ति के बिना आँखों का व्यापार किसी भी वस्तु को प्रकट करने में समर्थ नहीं होता । ऐसे मन को भी प्रकाश देनेवाला चैतन्य है । चैतन्य के बिना जड मन चक्षुओं को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता । इस प्रकार यह सिद्ध है कि सभी शोभाओं की आधारभूत महाशोभा है—चैतन्य । निरतिशय प्रकाश वही चैतन्य हूँ मैं, अर्थात् मेरा रूप, इस निर्णय पर अनुभूत ज्ञान-समाधि ही सर्वश्रेष्ठ पद है । उस पद की अपेक्षा प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप और सब व्यवहार निकृष्ट है । फिर भी, प्रारब्ध का अनुरोध करनेवाले संस्कार के द्वारा हर व्यवहार में विमुख विवेकी भी ईश्वर से आकृष्ट होता है । किन्तु ऐसी उच्च समाधि से, जिसमें शारीरिक इन्द्रियों का भान तक न हो, ईश्वर की प्रेरणा से उठकर देहेंद्रियों के व्यापार करते समय भी, उस व्यापार में भी, विवेकशील पुरुष आत्म-समाधि का अनुभव करता है । तब भी वह आत्म-समाधि से विचलित नहीं होता ।

यही स्थिति पर्वत लाँघने जैसे कठोर व्यापारों में भी होती है । यात्रा

में आनेवाले नाना प्रकार के कष्टों को मैं आत्मरूप में, आनंद रूप में, ही भोगता रहता हूँ।

: २ :

इन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक देवों में, ऋग्वेद में उनके स्तुति-गीतों में, उनके तर्पण की सोम-रस आदि वस्तुओं में तथा उनकी पूजा के फल—स्वर्ग आदि लोकों में यद्यपि हमारे पूर्वज आर्य महर्षि अधिक काल तक रमते रहे, तथापि अन्ततः उनकी तत्त्वोन्मुख विचार कुशल बुद्धि ऐसे विनश्वर रमणीय वस्तुओं से उठकर गुण-क्रिया आदि से हीन, देश-काल आदि से अच्छेद्य, अद्वितीय एवं आनन्दघन तक वस्तु में पहुँच गयी। उन्होंने चिन्तन के द्वारा ही नहीं, अपने अनुभवों के द्वारा भी यह जान लिया कि दो वस्तुएँ कभी सत्य नहीं हो सकतीं। सत्य हमेशा एक ही होता है। उन शुद्धात्माओं की बुद्धि में वेद-स्वरूप ईश्वर ने अद्वितीय सत्य वस्तु को प्रकाशित किया। इस प्रकार सत्य वस्तु के दृढ़ अनुभव से जन्म लेनेवाले उन के उद्‌गार है—"सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'एकमेवाद्वितीयम्,' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' आदि अनेक प्रौढ़ वाक्य।

इस प्रकार आर्य महर्षि-पुंगवों से दुनिया के सामने गाया गया वह परम-तत्त्व उसके बाद के सभी तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए विश्रांति का स्थान बन गया। उस परमतत्त्व का साक्षात्कार करके मुमुक्षु लोग निरतिशय विश्रांति एवं कृत-कृत्यता पाते रहे। ऐसा विश्वास करने में भूल नहीं होगी कि हमारे इतिहास-प्रसिद्ध भगवान बुद्ध भी वेद से प्रतिपादित और विचारशील पुरुषों के विश्रांति-स्थान उस ब्रह्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देख कर उसमें रमनेवाले महात्माओं में से एक थे। क्षत्रियकुल में जन्मे तथा वेद-वेदांतों में पारगत भगवान बुद्ध ने ब्रह्म-वस्तु को लक्ष्य करके कभी शून्यार्थ में किसी शब्द का प्रयोग किया हो तो भी वह अभाव का सूचक नहीं हो सकता। आज के कई विद्वान समालोचकों की यह राय है कि बुद्ध भगवान ऐसे औपनिषद् ब्रह्म में निष्ठा रखनेवाले महापुरुष थे, जिसका निर्देश सत् में, असत् में या सदसद् दोनों से भिन्न रूप में किया जा सकता है, अथवा जिसका निर्देश ऐसे किसी भी शब्द के द्वारा नहीं किया जा सकता।

ऐसे ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मवादी, ब्रह्ममूर्ति तथा लोक-कल्याणकारी बुद्धदेव की मूर्ति को ही त्रिलोकीनाथ मंदिर में पूजा करते देखा गया। मैंने साधुओं से

सुना था कि त्रिलोकीनाथ बदरीनाथ के समान विष्णुधाम है तथा त्रिलोकीनाथ कहलानेवाले भगवान विष्णु हैं और इसलिए मंदिर में बुद्ध-मूर्ति को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। जिन बुद्ध भगवान को हिन्दू लोग विष्णु के अवतार समझते आ रहे हैं, उनको विष्णु मानकर यदि वे प्रणाम करें तो उसमें कोई दोष या असंगति भी नहीं है।

मंदिर के पुजारी एक गृहस्थ बौद्ध-भिक्षु थे, उस समय वे बाहर गये हुए थे। इसलिए उनकी पत्नी ने हमें प्रेमपूर्वक देव-दर्शन आदि कराये। हमने विधिपूर्वक त्रिलोकीनाथ के दर्शन किये। वहाँ की मनोहारी बुद्ध-मूर्ति का आकार, उसकी पूजा-सामग्रियाँ और पूजा-पद्धतियाँ आदि सब वैसे ही थे जैसे तिब्बत के कई मंदिरों में देखे जाते हैं। तिब्बत में कैलाश के मार्ग पर अधिकतर काँसे की मूर्तियाँ ही दिखायी पड़ती हैं। किन्तु यहाँ बुद्ध की मूर्ति संगमरमर की बनी थी। लामा और उनकी पत्नी चमड़े तथा ऊन का बना, घुटने तक लंबा एक प्रकार का जूता पहने हुए ही देव-पूजा, दीपाराधना और परिक्रमा आदि सब करते हैं। यद्यपि ऐसे आचार हमारे लिए उपादेय नहीं होंगे, तथापि हिमालय के ऊपर बौद्ध देशों में ये सर्व-सामान्य हैं। त्रिलोकीनाथ नामक धाम चंबा नामक हिमालय प्रदेश के अन्तर्गत है। चंबा देश तो ब्रिटिश राजा के अधीन एक देशी राजा के शासन में है।

पुजारी लामा के घर के ऊपरी मंजिल में दूसरे साधुओं से अलग मैं एकांत में रहता था। साधु लोग वहाँ जितने ही दिन चाहें रह सकते हैं, पर गृहस्थ लोगों को एक-दो दिन से ज्यादा रहने नहीं देते। चीन, तिब्बत आदि बौद्ध देशों से आनेवाले लामाओं तथा विरले ही कुछ हिन्दू साधुओं को छोड़ कर उस दुर्गम धाम में कोई नहीं आता था। जब हम वहाँ पहुँचे थे तो तब भी कुछ बौद्ध लामा मंदिर के एक ओर रहते थे। सवेरे-शाम घर के एक ओर डमरू एवं घंटा बजाते बौद्ध लामाओं का भजन-पाठ तथा दूसरी तरफ शंखनाद के साथ हिन्दू साधुओं का महादेव की महिमा का स्तुति-पाठ मेरे मन में भक्ति, विस्मय और कृतार्थता का भाव पैदा कर देते थे।

मंदिर के पास थोड़े-से घरों का एक छोटा गाँव है। वहाँ ठाकुर साहिब की उपाधि के साथ वहाँ के लोगों से आदर-पूर्वक राजा कहलानेवाले एक अमीर भी रहते थे। कहा जाता है कि उस मंदिर के अतिरिक्त आसपास के भू-भागों पर भी कई बातों में उनका अधिकार चलता था। उन दिनों वे वातरोग के कारण शय्यावलम्बी थे। फिर भी उन्होंने मुझ से मिलने की

इच्छा प्रकट की। इसलिए मैं अपने एक साथी साधु के साथ एक दिन शाम को उनके राजमहल गया था। वे भवन की ऊपरी मंजिल के एक विशाल कमरे में सोये हुए थे। उठने में असमर्थ, हाथ जोड़ते हुए हमारा स्वागत किया। इस प्रदेश में चावल की बनी एक प्रकार की शराब का बहुत उपयोग होता है। इसलिए उनके नौकर-चाकर उस काम में लगे हुए थे। साधु-भक्त और ईश्वर-भक्त उन्होंने शय्या पर पड़े-पड़े ही अच्छी हिन्दी में मुझ से बड़ी देर तक वार्तालाप किया। उन्होंने कई सरस एवं विशेष इतिहास के अंश मुझे कह सुनाये। मुझे उनकी बातों से ज्ञात हुआ कि वे सनातन धर्म पर आस्था रखते हैं। क्षत्रिय जाति के हैं। दो सौ वर्षों के पहले उनके पूर्वज यहाँ आकर बसे थे। उस समय यह स्थान मनुष्यघाती राक्षसों से भरा था और उनके पूर्वजों ने उन सबको मारकर देश की सुव्यवस्था बनायी थी। उन्होंने यह भी बताया कि त्रिलोकीनाथ की महिमा से ही इस निगूढ़ पर्वतप्रदेश में भी उन्हें कभी-कभी महापुरुषों के दर्शन मिल जाते हैं। इस में शंका नहीं है कि यद्यपि इस प्रदेश के ग्रामीण एक समय हिन्दू ही थे तो भी बौद्ध धर्म के साथ बहुत दिनों के संबंध के कारण वे अब बौद्धाचारी बन गये हैं।

हमें वहाँ राजगृह आदि स्थानों से खाने की चीजें मिल जाती थीं। उनको पकाकर साधु लोग मुझे भी खिला देते थे। इसलिए मैं किसी कष्ट के बिना आनन्दपूर्वक भगवान का स्मरण करते हुए तीन-चार दिन वहाँ रहा। मनोहारी, नग्न एवं हिमशोभित शैल-शिखरों तथा नीलिमा के साथ घने देवदारु वनों से आवृत त्रिलोकीनाथ के मैदान की प्राकृतिक सुषमा मेरे हृदय को आकृष्ट करती थी।

हममें से दो को छोड़ और सब साधु काश्मीर देश की ओर रवाना हो गये। यहाँ से कश्मीर दस-बारह दिन की यात्रा से पहुँच सकते हैं। मैंने उन दोनों के साथ कुल्लु की ओर यात्रा शुरू की। हम जिस रास्ते से आये थे उसी से लौट रहे थे। लगभग चौदह मील नीचे जाहुमा नामक गाँव में हम एक दिन ठहरे। अधिकतर गाँव से प्राप्त सत्तू, दूध और मट्ठे से शरीर का पोषण करते रहे।

जाहुमा से 'मन्महेश' के नाम से प्रसिद्ध पुण्यधाम की ओर एक मार्ग जाता है। मन्महेश चपादेश के अन्तर्गत बर्फीले पहाड़ों के बीच एक दुर्गम स्थान है जिस के आसपास मनुष्यों का वास नहीं होता। सिंधु की उपनदी ऐरावती उसके पास से निकलती है। यद्यपि हमें उस पुण्यक्षेत्र का ज्ञान था

तथापि जादुमा से जानेवालों के लिए 'कुन्ति पास' नामक एक भयानक घाट को पार करना पड़ता है। उस समय उस घाट में पाँच-छः मील तक हिम फैली पड़ी थी, और कोई पथ-प्रदर्शक भी नहीं मिल सका था। इसलिए हमने उस रास्ते से जाने का विचार छोड़ दिया।

अब हम छोटे रास्ते को छोड़कर चन्द्रा नदी के किनारे-किनारे पाँच मील ज्यादा चलकर 'केलगा' नामक एक बड़े गाँव में केवल मनोविदोनार्थ चले गये थे। वहाँ ब्रिटिश सरकार के कुछ अधिकारी रहते थे और उनके आतिथ्य में ही हमने एक दिन वहाँ बिताया। वहाँ भयानक वर्षा एवं हिमपात शुरू हो गया। ईश्वर की कृपा से हम उन अधिकारियों के सत्कार के पात्र बन चुके थे, इसलिए हम बहुत अधिक ठंड से बच गये।

वह गाँव 'लावल' नामक प्रदेश का मुख्य स्थान था। वहाँ से तिब्बत, तुर्किस्तान आदि राज्यों की ओर मार्ग जाते है। वहाँ हमे गिरि-शिखरो पर लामाओ के सुन्दर आश्रम दीख पड़े। हिम-वर्षा से धवल-धवल, आनददायक तथा अति शीतल पहाड़ो के बीच से लगभग पन्द्रह हजार फुट ऊँचे केलगा से हमने सर्दी से ठिठुरते हुए ही अगले दिन यात्रा शुरू की। रास्ते में फिर वर्षा हुई। ठंड असहनीय हो गयी। भूमि पर पैर रखना मुश्किल हो गया।

यह शास्त्रीय सिद्धात सत्य ही है कि कितने ही बड़े दिव्य अद्वैतज्ञानी हो तो भी भावाद्वैत के सिवा क्रियाद्वैत सभव नही है। शीत-उष्ण, सुख-दुख, जल-अग्नि आदि सभी एक ही हैं, ब्रह्मरूप ही हैं, तथा स्वस्वरूप ही हैं—ऐसी भावना को छोड़ बड़े अद्वैत-निष्ठ व्यक्ति भी उन्हें एक करके व्यवहार में नही ला सकते। सबको ब्रह्म के रूप में देखनेवाले ज्ञानी भी जैसे मृदुल आतप में जमीन पर लेट सकते हैं वैसे कठिन हिमवर्षा में नहीं लेट सकते। अमृत-तुल्य दूध के समान विष को नही पी सकते और जल के समान आग में डुबकी नहीं लगा सकते। व्यवहार वस्तुत. शरीर पर आधारित है। शरीर ज्ञानी और अज्ञानी का समान होता है। इस कारण व्यवहार में विज्ञ तथा अज्ञ के बीच अधिक अतर नहीं है। यद्यपि ज्ञान के द्वारा ज्ञानी के मन में धैर्य, तितिक्षा, शम, दम आदि का उत्कर्ष होता है, तथापि हिम, आग, हवा, वर्षा आदि पदार्थों के सहज धर्म को नष्ट नहीं किया जा सकता। अतः हम साधारण लोगों को शीत आदि के आक्रमण से जो कष्ट हुआ था, उस पर आश्चर्य की कोई बात नहीं।

उन दिनो प्रतिदिन वर्षा होती रहती थी। इसलिए जाते समय हमें जितनी शीत-बाधा हुई थी, अब उससे भी कहीं अधिक शीत-बाधा झेलते हुए

हमे बडी मुश्किल से लौटना पडा। लट्टाग दर्रे मे यद्यपि वर्षा के साथ ताजी बरफ़ पड़ती रहती थी, तो भी पुरानी बरफ के पिघल कर कम होते रहने से परिणाम मे पहले से ज्यादा बरफ नही थी। फिर भी, शीत पहले से अधिक थी। अत अधिक कष्ट झेलते हुए ईश्वर की कृपा से उसे भी किसी प्रकार पार करके किसी विपत्ति के बिना हम वसिष्ठ पहुँच गये।

वसिष्ठ के ग्रामीणो ने हमारे प्रयत्न की सफलता पर अभिनदन करते हुए भक्ति के साथ हमारा स्वागत किया। वहाँ ठहरे बिना अगले ही दिन मै कुल्लु की ओर रवाना हो गया। दूसरे एक मार्ग से, अर्थात् व्यास-गंगा के बायें किनारे से, मनोहारी पहाडी प्रदेशो और कुछ गाँवो को पार करके दूसरे ही दिन मैं कुल्लु पहुँच गया। मेरे मन मे कुल्लु मे भी अधिक दिन रहने की इच्छा नही थी। मैंने निश्चय किया कि चातुर्मास के आरभ के दिन आषाढ़ पूर्णिमा के पहले ही उत्तरकाशी पहुँच जाऊँ, और साथ ही नीचे उतरे बिना ऊपर के पहाडी मार्ग से ही उस ओर यात्रा करूँ।

इस निर्णय के फलस्वरूप ज्येष्ठ-पूर्णिमा के दिन, अर्थात् जून महीने की बाईसवी तारीख को, सवेरे-सवेरे काशी विश्वनाथ का स्मरण करते हुए मैंने कुल्लु से प्रयाण प्रारम्भ किया। जून महीने के आरभ मे ही वसिष्ठ से त्रिलोकीनाथ चला था। चूँकि अधिक दिन रहने की सुविधा नही थी और उसकी जरूरत भी नही जान पड़ी, इसलिए मैंने उस ऊपरी प्रदेश की यात्रा थोड़े ही दिन मे समाप्त कर साधु-जनो से भरे एव आध्यात्मिक तेज से देदीप्यमान उस देवगगा के किनारे के लक्ष्य मे यात्रा प्रारम्भ की।

इस प्रकार हृषीकेश से रवाना होने की अप्रैल की अठारहवी तारीख से जून की बाईसवी तारीख तक दो महीने और चार दिन महाभागा व्यासगगा तथा त्रिलोकीनाथ मे सानद विहार करने के बाद दूसरे सब साधुओ को छोड़कर मैं अकेले ही सौम्यकाशी की ओर चलने लगा।

शकर ने गाया है—कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः। यह अनुभव सिद्ध है कि परिग्रह जितना ही कम होता है, उतना ही स्वातत्र्य और सुख बढ़ता है। दूसरे साधुओं से आढ्त रहने पर वे आदर के साथ मेरी परिचर्या करते थे, फिर भी इससे बढ़कर मुझे अपना एकाकीपन आनद देता था। स्वय निर्द्वन्द्व, भिक्षान्न-जीवी, अविचारित लाभ से सतुष्ट एवं निरातक होकर सुखपूर्वक मैं धीरे-धीरे चलता रहा।

कुल्लु से शिमला एक सौ बाईस मील दूर है। मुझे पहले कुल्लु से लगभग पैंसठ-सत्तर मील दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित 'रामपुर' नामक एक छोटे नगर में जाना था। यह नगर 'बिशायर' नामक हिमालय-प्रदेश की राजधानी है। इसे उस देश के अधिपति एक राजा ने बसाया था। शिमला से करीब अस्सी मील पश्चिमोत्तर दिशा में सतलज नदी के किनारे विराजमान यह एक छोटा-सा सुन्दर नगर या एक बड़ा-सा गाँव है। कुल्लु से दो-तीन दिन का रास्ता चलने पर मुझे वहाँ भयानक वनों में घिरे एक पहाड़ को पार करना था, जिस की दूरी कम से कम दस मील है। सवेरे की ठंड में धीरे-धीरे मैं अकेले ही वनांतर में घुसने लगा। नाना प्रकार के ऊँचे वृक्षों से निबिड घनी-घनी वल्ली, गुल्म आदि से आवृत्त भिल्ली के झंकारों से झरारित और अंधकार से भरे उस भयानक विपिन ने मेरे मन में भय नहीं, अपितु महान् आश्चर्य और आनंद पैदा कर दिया था। सुनियंत्रित मन एक बड़ी सेना से भी कहीं बढ़कर सभी दशाओं में मनुष्य की मदद करता है। वह पुरुष को कायरता तथा खतरों से बचाता है। ईश्वर के चिंतन तथा सुन्दर प्रकृति के दर्शन से उन्मत्त एवं सुरक्षित मेरा मन रत्तमात्र भी चंचल नहीं हुआ था। पर्वत-शिखर की शीतल एवं रमणीय भूमि पर मैं देर तक बैठा रहा और समाधि-सुख का अनुभव करता रहा। वहाँ भालू आदि दुष्ट पशुओं का होना स्वाभाविक था, तो भी मुझे कोई दिखायी नहीं पड़ा।

इस पहाड़ को पार करने पर उतरते समय मार्ग में कई छोटे-छोटे गाँव आये। यों, पाँच-छः दिनों की यात्रा से मैं सकुशल रामपुर पहुँच गया। मानसरोवर से निकलने वाली शतद्रु (सतलज) नदी के पवित्र सलिल में स्नान-पान आदि करते तथा कई देव-मंदिरों के दर्शन करते मैंने दो तीन दिन सानंद वहाँ व्यतीत किये। वहाँ एक सुन्दर बौद्ध-मंदिर भी दिखायी पड़ा जहाँ अखंड-दीप जलता रहता था। मंदिर में एक पुस्तकालय भी था जिसमें अनेक बौद्ध-ग्रंथ थे। दो-एक बार इस मन्दिर में जाकर मैंने बौद्ध-मूर्ति के दर्शन किये। वहाँ के अध्यक्ष बौद्ध-लामा ने प्रेमपूर्वक कई ग्रन्थ मुझे दिखाये और बौद्ध-धर्म के बारे में कई बातें कीं। चूंकि यहाँ से सतलुज के किनारे से तिब्बत की ओर अच्छा रास्ता है, इसलिए कई व्यापारी हिन्दुस्तान से चीज़ें लेकर इस रास्ते से ऊपर की ओर यात्रा किया करते हैं।

रामपुर से लगभग चालिस मील पूरब की ओर 'रोडु' नामक स्थान के लक्ष्य में मैंने वहाँ से यात्रा आरम्भ की। मार्ग में कठिन उतार-चढ़ाव थे।

दो बजे एक गाँव मे पहुँच गया। उस गाँव के मुखिया ने, अपनी पत्नी को जल्दी खाना पकाने की आज्ञा दी। वे सब खा चुके थे, और लगभग एक घंटे के अन्दर खाना पकाकर मुझे खिलाया गया। इस प्रकार ग्रामीणों का आतिथ्य स्वीकार करते हुए तथा यात्रियो के आवागमन के न होने के कारण उस शून्य गभीर वनातरों मे धीरे-धीरे सानद चलते हुए तीसरे दिन मैं रोडु पहुँच गया। वहाँ एक वैष्णव महात्मा राजगुरु द्वारा निर्मित एक बडे आश्रम में मैंने दो-एक दिन विश्राम किया। अब यहाँ से मुझे यमुना के तट की ओर जाना था। यमुना से थोड़ी दूरी पर भागीरथी स्थित है।

रोडु से निकलकर एक छोटी नदी के किनारे से चार मील जाने पर वहाँ एक एकात और सुन्दर स्थान पर खुली कुटिया में रहनेवाले एक महात्मा दिखायी पडे। मुझे देखते ही उन्होने चिरकाल से परिचित आत्ममित्र के समान बड़े प्रेमभाव से मेरा स्वागत कर अपने पास एक व्याघ्र-चर्म पर बिठाया।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥
(भक्तिरसायन)

भगवान के गुणगणो के श्रवण के द्वारा द्रवावस्था को प्राप्त मन की सर्वेश्वर के साथ अभिन्नता को विद्वान लोग भक्ति कहते है। वैष्णव धर्म में ऐसी ही भक्ति पर विचार किया गया है और उसका अनुष्ठान किया गया है। नारद, शाण्डिल्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य आदि ने भक्ति-तत्त्व पर खूब विचार किया था और उस का अनुष्ठान भी किया था। परतु क्रमशः उसमें कई मलिनताएँ आ गयीं। आज उस धर्म मे केवल छुआछूत का विचार, भक्ष्य और अभक्ष्य का विचार तथा अन्य धर्मों के प्रति विद्वेष ही शेष दिखायी पडते हैं।

इन महात्मा से मिलकर मुझे ऐसा लगा कि विशाल बुद्धि एवं भक्ति-भाव में सलग्न कुछ सज्जन आज भी वैष्णव धर्म में विद्यमान हैं। भक्ति तथा सेवा-बुद्धि में परस्पर-सबध है; जहाँ भक्ति है वहाँ सेवा-बुद्धि भी अवश्य होती है। जो भक्ति के साथ ईश्वर की पूजा करते हैं, वे ईश्वर के रूप मे सब की पूजा करते हैं। यह सेवा-बुद्धि भी इन महात्मा की एक विशेषता दिखायी पडी। उनके मजबूर करने के कारण मैं उनके साथ चार दिन उसी कुटिया में रहा। वे अपने हाथों खाना बनाकर प्रतिदिन प्रेमपूर्वक मुझे खिलाते थे। आसपास के ग्रामीणो के लिए वे आदर के पात्र थे। इसलिये खाने की चीजों

के लिए वहाँ कोई कमी नहीं थी। वे योग-क्रियाओं के अच्छे जानकार थे। शास्त्र-विषयों के पंडित न होने पर भी वे सामान्य रूप से कुछ विज्ञ थे। अंग्रेजी के भी कुछ शब्द जानते थे। बड़े ही नम्र-प्रकृति के थे। मैंने उनसे पूछा, "योग-क्रियाओं का कहाँ तक अध्ययन किया है? योग-क्रियाएँ क्या भक्ति को बढ़ाएंगी?" तो उन्होंने बस इतना ही उत्तर दिया कि "आप जैसे परमहंसों से कुछ भी कहने में मैं शक्त नहीं हूँ।" महात्माओं का कथन है कि अपने गुणों का गर्व सभी गर्वों से बढ़कर महान पाप है। उन गुणवान महात्मा में इतना अधिक विनय देखकर उनके प्रति मेरे मन में बड़ा आदर पैदा हुआ। सचमुच ऐसे सुपात्र महात्मा मुझे बहुत कम दिखायी दिये हैं।

वहाँ बीच-बीच में आनेवाले ग्रामीणों ने तथा इन महात्मा जी ने कुछ और दिन वहाँ रहने की प्रार्थना की। किन्तु मैं वहाँ से जाने को तैयार हो गया, और अगले दिन चल दिया। आठ मील दूर 'हाड़ुकोदा' नामक एक प्रसिद्ध देवी-स्थान में रात को मैंने विश्राम किया। फिर वहाँ से बहुत ही एकान्त तथा जनशून्य विशाल वनांतरों से चौबीस मील यात्रा करके मैं 'अनोली' नामक गाँव में पहुँच गया। वहाँ भी नदी-तट पर रमणीय देव-मंदिर विराजमान है। वहाँ एक दिन रहकर विश्राम किया।

अनोली से आगे मुझे रीछ आदि दुष्ट जंतुओं से भरे, विशाल घोर वन से आच्छादित, पन्द्रह मील से अधिक लम्बे एक जन-शून्य पहाड़ को पार करना था। मैंने सुना रखा था कि उस वन में अकेले प्रवेश करना खतरे से खाली नहीं है, किन्तु और कोई मार्ग नहीं था। इसलिए मैंने अकेले ही सवेरे यात्रा शुरू की। उस अत्यन्त निगूढ़ प्रदेश से प्रतिदिन यात्रा कौन करता है? इस लिए सहायता के लिए किसी की प्रतीक्षा किये बिना मैं एकाकी होकर चलने लगा। कुछ दूर चलने पर रास्ता भूल गया तथा दो तीन मील एक मार्ग से आगे बढ़ा। किन्तु मार्ग के चिह्न मैं जानता था, इसलिए मुझे धक्का हुई और खुद लौटकर मैं दूसरे रास्ते से चलने लगा। विचार-शक्ति एवं ईश्वर-कृपा को छोड़ उस वनांतर में विपत्ति से बचाने वाला मेरा और कौन था? इस प्रकार उस महागंभीर तथा घने अँधेरे से भरे वन में मनोहारी दृश्य-विलासों को देखते-देखते अपने को भूल कर अकेले ही काफ़ी दूर तक चलता गया कि वहीं मुझे तराकहरिहर करनेवाले कुछ यात्री मिल गये। फिर कुछ दूर उनके साथ मैं चलता रहा और दो बजे के लगभग पर्वत के उस पार तराई पर जा पहुँचा। उस समय तक मैंने खाना नहीं खाया था। चूंकि खाने के समय तक अगले गाँव

मे पहुँच जाने का विचार था, इसलिए खाने की कोई चीज साथ नहीं ली थी। अतः भूख से व्याकुल मैं जल्दी ही आगे बढ़ने के लिए उत्सुक था। इधर तक्षकवृत्ति के वे लोग खाना पकाने लगे। इसलिए मैं भी एक पेड़ के मूल पर बैठकर विश्राम करने लगा। तुरन्त ही उनमे से एक ने मेरे पास आकर यों प्रार्थना की, "बाबाजी, मैं नीच जाति का हूं। मेरी रोटी आप नहीं खा सकते। लीजिए, मैंने आटा, आग, लकड़ी आदि तैयार करके रखे हैं। जल्द ही दो-तीन रोटी बनाकर खा लीजिए। अधिक देर करने का समय नहीं है।"

नीच जाति के, अशिक्षित तथा मलिन शरीर के उस मनुष्य का यह देव-दुर्लभ मनोभाव देखकर मैं बहुत खुश हुआ। संसार स्वार्थ मे चल रहा है। परमार्थ-व्यापार संसार में है ही नहीं, है भी तो वह बड़ा ही दुर्लभ है। दुनिया की यही रीति है कि 'सभी चीजें मेरे लिए हों, दूसरों के लिए कुछ न हो।' यदि किसी से प्रश्न करें कि 'यह सारा संसार नष्ट हो जाए और सारा संसार जीता रहे—इनमें से किस पक्ष को स्वीकार करता है?' तो अगले ही क्षण उसका यही स्पष्ट उत्तर मिलेगा कि 'सारा संसार नष्ट हो जाए। संसार से मुझे क्या लेना? किन्तु मुझे तो अवश्य जीवित रहना चाहिए।' संसार मे ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो उत्साह के साथ कह सकें कि यह सारा संसार मेरे नाश के कारण सुखपूर्वक जीता रहेगा तो मेरा अहोभाग्य! लो लो, मैं अपना शरीर त्यागने के लिए तैयार हूं। किन्तु देव-तुल्य मानव संसार मे कितने हैं?

मैं उस व्यक्ति के निःस्वार्थ प्रेम से विह्वल हो गया। मैंने उससे कच्ची सामग्री ली और दो-तीन रोटियां बना कर अपनी भूख मिटायी तथा पास ही बहता, देवराज के लिए भी दुर्लभ, विमल-मधुर जल पीकर प्यास बुझायी। उसके बाद वहां से चलकर थोड़ी ही दूर एक गांव मे पहुँच गया। इस प्रदेश का नाम 'रामसरायी' है। इधर-उधर कुछ गांव हैं। यहां चारों ओर दूर-दूर तक चावल के विशाल खेत हैं। यहां से पूरब का हिमालय-प्रदेश 'टेहरी गढ़वाल' कहाता है।

अगले दिन सवेरे से फिर चलने लगा। यहां छः मील की दूरी पर यमुना के दर्शन होते हैं। कुछ दूर चलकर विश्राम करने के वास्ते मार्ग के किनारे एक घर के सामने बैठ गया। एक व्यक्ति ने घर से बाहर आकर, मेरी ओर देखा। 'जय नारायण' के शब्द से प्रणाम किया। उन्होंने मुझसे कहा कि बाबा जी! यहां खाना खाए तो अभी बनवाये देता हूं। यद्यपि खाना खाने की मेरी इच्छा नहीं थी, तथापि दस बज चुके थे, आगे का

गाँव कुछ दूरी पर था और वहाँ पहुँचने में थकावट महसूस होती थी, इसलिए मैंने जवाब दिया कि "भोजन करूंगा।" दूर के एक खाली मकान में एक पाचक ने विशेष पवित्रता के साथ खाना पकाया। नहा-धोकर पाकशाला के पास बैठकर मैंने खाना खाया। खाते समय प्रासंगिक रूप से पाचक ने मुझे बताया कि वह गृहस्थ एक पहाड़ी हिन्दू-स्त्री से शादी कर वहाँ रहने वाले एक मुसलमान है। वह स्वयं एक क्षत्रिय है और उनका नौकर है। भिन्न-धर्मी होने पर भी हिन्दू-साधुओं में उनकी भक्ति देख मुझे आश्चर्य हुआ। ऐसा कोई नियम नहीं है कि भक्ति, दया, उदारता आदि गुण एक जाति अथवा व्यक्ति में हो सकते हैं और दूसरी जाति या व्यक्ति में नहीं हो सकते।

खाने के बाद मैं आगे बढ़ा। लीजिए, महाभागा कालिन्दी जी बह रही हैं। चिर-विरहिता माता की ओर एक बालक के समान मैं बड़े अभिनिवेश के साथ यमुना के पास दौड़ता गया। जुलाई महीने की धूप पड़ रही है। महाभागा, पुण्यचरिता एवं वासुदेव-प्रिया जननी यमुना के चरणारविन्दों में मैंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। उसकी गहराई लगभग एक ही फुट थी, चौड़ाई भी कम थी। इस प्रकार कृशगात्रा होकर इन्द्रनील के समान चट्टानों के बीच से धीरे-धीरे बहने वाली यमुना बालिका को देख मेरा मन आनन्द से नाचने लगा। इतना ही नहीं, उसके बारे में कई समुन्नत विचार भी मेरे मन में उठने लगे। वृन्दावन, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, प्रयाग आदि प्रदेशों के कालिंदी के तट सारे संसार में प्रसिद्ध है। किन्तु यहां तो उसके दोनों तटों पर बैठने तक की कहीं जगह नहीं है। यहाँ से यह पाषण-समूहों को भेदती, मिट्टी के पहाड़ों को कुरेदती भयानक रूप में हिमालय से मैदानों की ओर जा रही है। कलिंदजा को देख मेरा मन एक अलौकिक उच्च भूमि की ओर उठा। मैंने श्रद्धा के आवेश में आकर इसका जल पेट भर पी लिया। इसके बाद एक वृक्ष की छाया में पत्थर पर जा बैठा। कुछ दूर पर गायें चराने वाले पहाड़ी लड़के यमुना के जल में विहार कर रहे थे। यमुना की सुन्दरता में प्रेम-निष्ठ होकर अन्य व्यापारों को भूल मैं देर तक वहाँ बैठा रहा। अहा! तपस्वी साधु भी सृष्टि-सुन्दरता में मोहित हो जाते हैं।

तीन बजे यमुना के किनारे से मैं फिर आगे चलने लगा। छः सात मील दूर 'बड़ु कोट्टा' नामक गाँव में जा पहुँचा। सरकारी अधिकारियों के एक निवास-स्थान में एक रात विश्राम करके अगले दिन तीन मील ऊपर यमुना के किनारे के 'गंगाड़ी' नामक स्थान पर पहुँच गया। यह तथा इसके आगे के

स्थान मेरे लिए परिचित हैं। जम्नोत्री की यात्रा करनेवाले को यहाँ आकर वहीं से ऊपर की ओर जाना पड़ता है। यमुना की जन्मभूमि जम्नोत्री यहाँ से तीस मील ऊपर की ओर है। जम्नोत्री के हिमपर्वतों के मनोहारी दर्शन बदु-कोट्टा से लेकर शुरू हो जाते हैं। गंगाड़ी जमदग्नि का आश्रम-स्थान है। यहाँ तीर्थजल में स्नान करके अपने परिचित ब्राह्मण का पकाया भोजन करके उस दिन मैं वहीं यमुना के किनारे रहा।

दूसरे दिन सुबह को स्नान के बाद वहाँ से केवल अटारह मील की दूरी पर स्थित उत्तर-काशी की ओर रवाना हो गया। मार्ग में भागीरथी-तट पर एक परिचित महात्मा की कुटिया में दो-एक दिन रहा। उसके बाद सौम्य-निधि के निवास-स्थान सौम्य काशी में, सौम्य-कलाधर श्री विश्वनाथ की सन्निधि में असीम आनंद के साथ पहुँच गया। चातुर्मास-व्रत के आरंभ के दिन पूर्णिमा, अर्थात् आषाढ़-पूर्णिमा से तीन-चार दिन पहले मैं उत्तर-काशी में प्रविष्ट हुआ था।

इस प्रकार कुल्लु से लगभग एक सौ पचानवे मील दूर उत्तरकाशी में पहुँचने में मुझे पच्चीस दिन लगे। पश्चिम हिमालय का पर्यटन इस प्रकार पूरा करके मैंने बड़ी कृतार्थता के साथ ऋषियों से सेवित उत्तरकाशी में विधिपूर्वक चातुर्मास्य शुरू किया। इतना भी यहाँ लिखे देता हूं कि प्रस्तुत चातुर्मास्य के समय ही मैंने वहाँ श्री सौम्य-काशीश-स्तोत्र की रचना की थी और उसे काशीश को समर्पित किया था—

गिरिराजसुतापुण्यपरिपाकोऽस्तु मे गतिः।
सुरवृन्दवृते यस्य मन्दिरे सुन्दरे स्थितिः॥

●●

१२. पशुपतिनाथ

: १ :

स्वामीजी और मेरे बीच जो चर्चा हुई उसे प्रस्तुत करने से पूर्व मैं पहले कुछ वेदान्त-विषयक चर्चा करना चाहता हूँ—

उत्तिष्ठ ! जाग्रत !
प्राप्य विरान्निबोधत !"

'अनादिकाल से अज्ञान-निद्रा मे डूबे हुए हे मानव ! उठो ! मायानिद्रा से जागो ! प्रकृष्ट गुरुओ को प्राप्त कर आत्म-तत्त्वों को अपरोक्ष रूप से जान लो !'

अज्ञान निद्रा सभी अनर्थों का बीज है, अति भयानक है, इससे जाग उठो ! श्रुति प्यारी जननी के समान अति सहानुभूति के साथ अज्ञान को बिलकुल दूर कर देने का उपदेश देती है। श्रुति यह भी उपदेश देती है कि अविद्या को दूर करने की एकमात्र वस्तु आत्मविद्या है। सासारिक अज्ञान को नष्टकर मुक्ति पद में प्रविष्ट होने के लिए वस्तुत: ज्ञान के सिवा और कोई उपाय नहीं है। मोक्ष के महल में घुसने के लिए ज्ञान-द्वार को छोड़कर और कोई द्वार नहीं होता। भक्ति, योग आदि आध्यात्मिक मार्ग एक मनुष्य को ज्ञान द्वार की ओर ले जाते हैं, न कि मोक्ष के महल में। ज्ञान-सूर्य के उदय से ही अज्ञान का अधकार हटता है, भक्ति आदि नक्षत्रों के उदय से नहीं।

•

श्वेताश्वतर श्रुति भी इस प्रकार उपदेश देती है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

यदि मनुष्य आसमान को चमड़े की तरह लपेट सकता है तो ईश्वर के जाने बिना, अर्थात् परमात्मज्ञान के बिना ससार-दुख को भी वह पार कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश को लपेट सकना असम्भव है उसी प्रकार ज्ञान-प्लव के बिना संसार-सागर को पार करना असम्भव है।

तब यह ज्ञान क्या है ? अपने रूप का दृढ निर्णय ही तो ज्ञान है। किञ्चित् शंका या विपर्यय से हीन निर्णय ही दृढ-निर्णय है। प्राणनिरोध, मनोनिरोध, निष्काम कर्मकुशलता, देवों में प्रेम-प्रवाह, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपश्चर्या, तीर्थाटन—ये सब ज्ञान नही हैं; वे सब अज्ञान है। अहं की भावना से युक्त सब अज्ञान है। जिस मे अहं की भावना अस्त होती है वह ज्ञान है।

पर ज्ञान कैसे पैदा होता है ? 'मैं धनी हूँ, मैं सुखी हूँ,' 'मैं गरीब हूँ, मैं दुःखी हूँ,' इस प्रकार की भावनाओं से भरे सासारिक जीवन के साथ भला हम किस प्रकार "मै ब्रह्म हूँ, 'मैं अशरीरी हूँ, मैं जरा-मरण से हीन आनन्द-स्वरूप हूँ,' इस दृढ-निष्ठा से भरे आत्मीय जीवन को बिता सकते हैं ? ब्रह्मनिष्ठ सज्जनों की सहायता से जो तत्त्व-विचार किये जाते हैं, वही ज्ञानोदय का मुख्य साधन हैं। सभी पूर्वाचार्यों का यही एक मत है कि सब कर्मों का त्यागरूप सन्याम ही तत्त्व-विचार का अंग है। फिर भी, इसमे पक्षान्तर नही है कि वैराग्य, शम, दम, मुमुक्षुत्व आदि गुण तथा निर्विक्षेप देश-काल—तत्त्व-विचार के अनिवार्य साधन हैं। इनके सिवा मन प्रसन्न एव एकाग्र होकर तत्त्व के अनुसधान के लिए समर्थ नही होता। इस प्रकार यदि साधन-सपत्तियों के साथ श्रद्धापूर्वक तत्त्व-विचार के लिए तैयार होकर काम करेंगे तो इसमें सदेह नही कि ज्ञाननिष्ठा प्राप्त हो जाएगी। जब तक विचार-जन्य एव अज्ञान-नाशक इस ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति नही होती, तब तक एक मनुष्य स्थितप्रज्ञ अथवा कृतकृत्य कहलाने लायक नही होता।

इस दुःखात्मक संसार की अर्थात् सासारिक आशाओं की निवृत्ति तथा उसके द्वारा प्राप्त नित्य निरतिशय ब्रह्मसुख अर्थात् आत्मशान्ति का अनुभव ज्ञाननिष्ठ का फल है। एक ज्ञानी मृत्यु के बाद नहीं, इसी शरीर में ही, ब्रह्म का अनवरत आस्वादन करके आमोदित होता है। यद्यपि ब्रह्मानन्द की कोई परिभाषा नही दी जा सकती, तथापि वह समाहित-चित्त ब्रह्मविदों के लिए स्वानुभवगम्य है। जैसे नमक के कणो के द्वारा एक बड़े नमकीले पहाड़ की रस-महिमा का अनुमान किया जा सकता है, वैसे ही विषयानन्द के द्वारा ब्रह्मानद की महिमा का साधारण लोग कुछ-कुछ अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि विषय-भोगों द्वारा प्राणियो से अनुभूत आनद ब्रह्मानद का अणिष्ठ अंशमात्र है। विषय की आशा से प्रक्षुब्ध अंतःकरण विषय के उपभोग से शान्त और सत्त्ववृत्ति

हो जाता है। तथा उस सात्त्विक मन में ब्रह्मानंद झलक उठता है। विषय-भोग के द्वारा विषयानंद कहलानेवाला भी ब्रह्मानंद ही है।

व्यास आदि का सिद्धांत है कि ब्रह्मानंद को छोड़कर और कोई आनंद किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। जैसे घट, मठ आदि उपाधियों के भेद से एक ही आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि भिन्न-भिन्न व्यवहार किये जाते हैं, वैसे ही शब्द, स्पर्श आदि विषयों के भेद के कारण एक ही आनन्द के भिन्न-भिन्न व्यवहार किये जाते है। परिणामतः अपरिच्छिन्न, अनतिशय एवं अविनाशी ब्रह्मानन्द को विषय—परिच्छिन्न, सातिशय और विनाशी—बना दिया जाता है। अखंड ब्रह्मानंद को निरातंक रूप से भोगकर नित्य तृप्त रहने वाले महात्मा जन क्षणिक विषय-सुखों की इच्छा कैसे करते हैं? ब्रह्मसुख विषय-संबंध से शून्य है। अतः स्वस्वरूप के अवस्थान को छोड़कर वह और किसी विषय की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए विषय-सुख के समान विषयार्जन आदि कष्टों से वह ज़रा भी कलुषित नहीं होता। यदि किसी का यह तर्क है कि विषयभोग के बिना सुख की उत्पत्ति नहीं होती तो हमें केवल इतना ही कहना है कि वे उन उलूकों के समान हैं जो रात के सिवा दिन में ज़रा भी प्रकाश के न होने का तर्क करते हैं।

ऐसी नित्य-शान्ति की साधक ज्ञान-निष्ठा तो वैराग्यपूर्ण ज्ञान-विचार से ही सिद्ध होती है, न कि केवल ध्यान-समाधियों से। कुछ लोगों की यह धारणा ग़लत है कि ध्यान-समाधियाँ ही ज्ञान-रूप हैं। इनका भ्रम है कि ध्यान ही परम-पुरुषार्थ है। जो लोग यह कहते हैं वे भूल करते हैं कि प्रति-दिन एक-आध घंटा ध्यान कर लेने मात्र से सभी आध्यात्मिक कर्मों के करने से छुट्टी मिल जाती है, या सभी आध्यात्मिक कर्मों की इति हो जाती है, और फिर सांसारिक कार्यों में कुछ भी किया जाए तो कोई हर्ज नहीं है। इन लोगों का यह विश्वास भी भ्रममूलक है कि 'बस दो-एक मिनट तक मौन स्थिति से निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जाती है, और फिर जन्म में और कुछ भी करने को और प्राप्त करने को शेष नहीं रहता। निर्विकल्प-समाधि करनेवाले की जीवन-मुक्ति की महिमा पर प्रकाश तो तभी पड़ता है जब यह जाँचा जाता है कि उसमें अचंचल आत्मनिष्ठा है या नहीं? यहाँ संक्षेप में इतना ही कह देता हूँ कि ऐसे अभागे लोग ज्ञान, ध्यान आदि के हेतु, स्वरूप एवं फलों को सत्समति के द्वारा समझने में नितान्त असमर्थ हैं।

ध्यान-समाधियाँ निस्सन्देह ज्ञान-परिपाक के लिए सहकारी कारण मानी जा सकती हैं, किन्तु ये ज्ञानरूप या साक्षात् ज्ञान का कारण नहीं हैं। वेदांत-प्रसिद्ध ब्रह्माभ्यास के बिना, केवल हठ समाधि अथवा जड़-समाधि के द्वारा आत्मदर्शन रूप ज्ञाननिष्ठा और उसके फलस्वरूप नित्य सन्तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

●

इस सम्पूर्ण शास्त्रचर्चा को विभिन्न तर्कों द्वारा सिद्ध न करके अब मैं उस संवाद को प्रस्तुत करता हूँ जो मेरे और स्वामीजी के बीच हुआ जो हिमालय के एक सुन्दर वनखण्ड में रहा करते थे। उनका जीवन क्रियात्मक था। अतः उनके वचन शास्त्रीय सिद्धान्तों को अधिक सम्पुष्ट करते हैं—

मैं—स्वामीजी ! आपने कभी दीर्घकाल तक समाधि करने में समर्थ किसी योगी को देखा है या ऐसा सुना है ?

स्वामीजी—आजकल हठयोगी और राजयोगी बहुत कम हैं। लेकिन कुछ समय पहले उत्तर देश में ऐसे कई थे। उनमें से एक को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वे एक साधु थे। प्राण-स्पंदन या मन-स्पंदन के बिना योगावस्था में वे आसानी से पाँच-छः घंटे एक साथ बैठे रह सकते थे।

मैं—अहो धन्य ! बेशक वे बड़े ही सुकृती हैं।

स्वामीजी—उनका पूरा चरित्र जान लेने से पहले प्रशंसा नहीं करनी चाहिए कि वे धन्य हैं। सचमुच वे बड़े अधन्य थे।

मैं—वह कैसे ?

स्वामीजी—दीर्घकाल के अभ्यास के द्वारा तात्कालिक रूप से प्राण-निरोध और चित्त-निरोध तो वे कर सकते थे, किंतु मानसिक शांति या सतृप्ति तथा उससे जन्य आत्मविचार या आत्मज्ञान उनमें नहीं था।

मैं—क्या इतने एक महान् योगी में आत्म-विचार की रुचि और योग्यता नहीं थी ?

स्वामीजी—उनमें आत्मविचार की रुचि कैसे हो सकती है ? उनमें ज़रा भी वैराग्य या मुमुक्षुत्व नहीं दिखायी देता था। धन आदि में उन्हें बड़ी आसक्ति थी। कभी-कभी अमीरों के पास जाकर वह पाषाण-मूर्ति के समान निश्चेष्ट बैठे रहने की अपनी विद्या दिखाते थे और उनसे प्रतिफल के रूप में पैसा तथा अपने सकुशल होने का प्रशंसा-पत्र लिया करते थे। उस समय के सभी विरक्त विद्वान उनकी चेष्टाएँ देखकर खेद प्रकट किया करते थे।

× × ×

सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि एक सन्यासी का प्रमुख धर्म है कि आध्यात्मिक निष्ठा का निरन्तर अभ्यास करे, इसी से मोक्ष-प्राप्ति होती है। महात्माओं तथा शास्त्रों से इस सत्यता को जानकार मैं हृषीकेश के जंगलों में रहा करता था। घर-बार छोड़कर सन्यासी बने अभी मुझे दो साल हुए थे। एक दिन हृषीकेश में अपने पूर्व-परिचित श्री स्वामी शान्त्यानन्द सरस्वती से मेरी अचानक भेंट हुई। वह द्वारका के शारदा-मठ के शंकराचार्य थे, और उन दिनों सन्यासियों के एक आश्रम के उत्सव में भाग लेने के लिये वहाँ पधारे हुए थे। दक्षिण भारतीय होने के कारण उनका मेरे प्रति स्नेह था। इसलिए जब उन्होंने मुझे गेरुआ कपड़ा पहने, भिक्षान्न-भक्षी रूप में निर्वाह करते तथा एकाकी एकान्तवासी तपस्वी के रूप में जीवन बिताते देखा तो वे बहुत दुखी हुए और उनकी आँखें डबडबा आयीं। लोक की दृष्टि में कठिन एवं दुखपूर्ण यति-जीवन में अपने एक प्यारे शरीर को तपते देखकर किस का मन धैर्य छोड़कर सहानुभूति किये बिना रह सकता है? प्रेम-भावना के अतिरेक के कारण अनजाने में ही उनका चित्त विषण्ण हो उठा।

किन्तु वे शीघ्र ही सम्भल गये और तुष्ट मन से मेरा कुशल-समाचार पूछने लगे। फिर उन्होंने सन्यास-ग्रहण के बारे में मुक्तकंठ से मेरी प्रशंसा की और मुझे बधाइयाँ दी। इस प्रकार दो-तीन दिन नित्य वार्तालाप एवं सत्संग होता रहा। एक दिन प्रसंगवश मैंने उन्हें बताया कि मैं शिवरात्रि-महोत्सव के दर्शन के लिए नेपाल की राजधानी काठमाडु में स्थित पशुपतिनाथ नामक पुण्यधाम की ओर यात्रा करना चाहता हूँ। तभी स्वामीजी ने मुझे बताया कि अब तक मैंने भी पशुपतिनाथ के दर्शन नहीं किये हैं। मैं भी सपरिवार पशुपतिनाथ की यात्रा करना चाहता हूँ और उसके लिए सभी प्रबंध कर साथ-साथ चलेंगे।

१९२५ के फरवरी महीने के आरम्भ में मित्रों और वृद्ध संन्यासियों की अनुज्ञा एवं आशीर्वाद लेकर पशुपतिनाथ नामक विख्यात देवस्थान के लक्ष्य में एक शुभ दिन हृषीकेश से उत्साहपूर्वक मैंने पैदल यात्रा आरम्भ की। हरिद्वार में आकर मैं उन शंकराचार्यजी से आ मिला और उनके साथ रेल की यात्रा शुरू की। किन्तु उस समय पुण्यसलिला गंगा को छोड़ते समय मेरा जी भर आया। कुछ लोग निराकार [भगवान्] की उपासना करते हैं और कुछ लोग साकार की, किन्तु हम संसारतप्त सन्यासी तो उस नीराकार—जलमयी [गंगानदी] की उपासना करते हैं—

निराकार मुपासन्ते साकारमपि चापरे।
वय संसारसंतप्ता नीराकारमुपास्महे ॥

हरिद्वार में शीतल जल-स्वरूप में विराजनेवाली साक्षात् परमेश्वरी गंगा महारानी का सेवन करते हुए वेदांत-विचार, भजन एवं ध्यान में रमते हुए मेरे दिन अति आनन्द में बीतते थे। इस पवित्र तीर्थ को, गंगा-तट को छोड़ने को मेरा जी नहीं मानता था। किन्तु अन्ततः जीत पर्वत-पर्यटन-लालसा की हुई, और मैं स्वामीजी के साथ चल दिया। किन्तु हमने अभी थोड़ी दूर ही यात्रा की थी कि मुझे उनसे विमुक्त होना पड़ा। यह ठीक है कि संयोग वियोगान्त ही होता है, किन्तु जो वियोग अचानक हो जाए वह बहुत निराशाजनक होता है।

बात यह है कि व्यवहार-बहुलता एक सन्यासी को भी गृहस्थी के समान परतंत्र बना देती है। व्यवहारमय जीवन में स्वातन्त्र्य की गंध भी कैसे मिल सकती है ? लोग यह सोचकर कि धन, स्थान मान, वैभव आदि में स्वातन्त्र्य एवं सुख है, वे इन्हीं की प्राप्ति में अपना बहुमूल्य जीवन बलिदान कर देते हैं। पुष्पमाला के भ्रम में विषधर महाफणी को भी अपने हाथों से उठाकर खुशी से गले में धारण कर लेते हैं। मैंने बहुत पहले स्वामी शान्त्यानंद सरस्वती को एक साधारण भिक्षुक के रूप में देखा था। फिर स्वेच्छा से या अनिच्छा से वे श्री शंकराचार्य पीठ की ओर उठाये गये। स्थान, मान, सम्पत्ति आदि ने स्वामीजी को अपना दास बना लिया। दास के लिए स्वतंत्रता कहाँ ? उन्हें किसी अन्य कार्यवश बीच में ही किसी अन्य स्थान पर आने का निमन्त्रण मिला और उन्हें नैपाल-यात्रा स्थगित करनी पड़ी। जिस रेलवे-स्टेशन से हम जुदा हुए वहीं उन्होंने मुझे प्रेमपूर्वक बताया था कि नैपाल की यात्रा केवल भिक्षावृत्ति से करना मुश्किल है। अतः मार्ग-व्यय के लिए मुझसे निस्संकोच कुछ पैसे लेकर अपने पास रख लें। किन्तु कुछ भी पैसे आदि ग्रहण किये बिना निश्चिन्त रूप से मैं रेलगाड़ी में यात्रा करता रहा।

रास्ते में मैंने लखनऊ और गोरखपुर इन दोनों नगरों में उतर कर दो-तीन दिन विश्राम किया। फिर यात्रा कर ब्रिटिश देश की उत्तरी सीमा में स्थित 'रक्सौल' नामक अन्तिम रेलवे-स्टेशन पर जा उतरा। वहाँ से दो मील दूरी पर नैपाल देश की दक्षिणी सीमा पर स्थित 'बीरगंज' नामक छोटे नगर पर पहुँच गया। काठमाडु की पहाड़ी यात्रा यहीं से शुरू होती है।

यद्यपि बीरगंज से काठमाँडु की ओर सिर्फ साठ मील की ही दूरी है, तथापि मार्ग की कठिनता से आवश्यक तैयारियाँ और प्रबंध करके ही लोग

यात्रा आरंभ करते हैं। ईश्वर से प्रेरित होकर एक भक्त ब्राह्मण ने रास्ते में खाने के लिए कुछ पकवान बनाकर मुझे प्रेम और श्रद्धा के साथ ला दिये, जिन्हें मैंने सहर्ष स्वीकार किया। केवल इसी प्रबंध के साथ मैं अकेले, किन्तु कई हज़ार लोगों के बीच, काठमांडु की ओर चल पड़ा। नेपाल देश में जानेवाले अन्य देशवासियों को बीरगंज के एक राज-कर्मचारी से सम्मति-पत्र लेना होता था। यह पत्र भी उस भक्त ने मुझे ला दिया था।

पशुपतिनाथ का शिवरात्रि-महोत्सव अति प्रसिद्ध है। उसमें भाग लेने के लिए अनगिनत साधु एवं गृहस्थ नर-नारी बड़ी कुतूहलता के साथ उस ओर पैदल यात्रा करते हैं। उनके साथ मैं भी विशाल और सुन्दर रास्ते पर उत्तर की ओर चल पड़ा। हमें पहले हाथी, भालू, गैंडा, बाघ आदि वन्य पशुओं से भरे भयानक वन को पार करना था। दक्षिणोत्तर में पन्द्रह मील से भी अधिक चौड़ाई में विशाल रूप में फैला हुआ यह 'तराई' वन हिमालय का पहला विभाग है। यह वन अपनी निविड़ता, रमणीयता एवं भयानकता की दृष्टि से सर्वत्र विख्यात है। मार्ग में, जहाँ हज़ारों लोग चल रहे हों वहाँ हिंस्र जंतुओं का क्या डर ? ज़रा भी डर के बिना उस अलौकिक वन-शोभा का अतृप्ति के साथ उपभोग करते हुए मैं धीरे-धीरे आगे की ओर चलता गया।

तराई वन को पार करने पर यह निविड़ वन समाप्त हो जाता है और छोटी-छोटी पहाड़ियाँ शुरू हो जाती हैं। रातभर विश्राम और दिनभर पैदल चल करके यात्री यह कठिन मार्ग पार करते जाते हैं। प्रमाणिपुर, भीम-भेदी नामक स्थानों को पार करने के बाद--बीरगंज से बयालीस मील की दूरी पर—ढाई हज़ार और दो हज़ार फुट ऊँचे 'सीसागढ़ी' तथा 'चन्द्रगिरि' नामक दो पहाड़ आ जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि बादलों से हीन निर्मल प्रभात-वेला में इन पहाड़ों की चोटियों से लगभग दो सौ मील की दूरी पर वर्तमान हिमालय का सर्वोच्च शिखर 'गौरीशंकर' तथा दूसरे कई ऊँचे शिखर दिखायी देते हैं। बड़ी कठिनाई से चन्द्रगिरि को पार कर फिर विशाल और मनोहारी मार्ग पर छः मील आगे बढ़ें तो वहाँ नेपाल की राजधानी काठमांडु आ जाती है।

कहा जाता है नेपाल 'नयपाल' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। नय महर्षि से पाले जाने के कारण पुरातनकाल में यह देश 'नयपाल' कहलाता था। नेपाल की यह पर्वतभूमि पूरब-पश्चिम में चार सौ पचास मील और दक्षिण-उत्तर में डेढ़ सौ मील तक फैली हुई है। इसके बीच बीस मील लंबी तथा पन्द्रह मील

चौड़ी एक विशाल समतल भूमि पर काठमाडु नामक राजधानी विराजमान है। कहा जाता है कि यह मैदान पुराने ज़माने में 'नागवास' नाम का एक विशाल तड़ाग था। काठमांडु को काष्ठमंडप का अपभ्रंश माना जाता है। यह नगर समुद्र की सतह से साढ़े चार हज़ार फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह दो मील लंबा और इतना ही चौड़ा है। यद्यपि यह नगर पहाड़ पर बसा हुआ है, किन्तु मैदानी नगरों के ही समान यह समस्त सभ्यता-विलासों के साथ शोभायमान और चमत्कारोत्पादक है।

फरवरी की २० तारीख को मैं सकुशल काठमाडु नगर में प्रविष्ट हुआ और नगर के एक ओर 'वाग्मती' नामक तीर्थनदी के किनारे 'ताप्पात्तली' नामक सुन्दर स्थान में स्थित एक सन्यासी-मठ में रहने लगा। दूसरे दिन शिवरात्रि का महोत्सव था। प्रभात के स्नानादि-कर्म करने के बाद, नगर से तीन मील पूरब की ओर उक्त पुण्य नदी के पवित्र तट पर विराजमान पशुपतिनाथ मंदिर की ओर मैं सामोद चल पड़ा।

अहा! अपूर्व एवं अद्भुत दर्शन है! हज़ारों नर-नारियों के, विभिन्न वेषधारी साधु-महात्माओं के, एकत्रित होने का पुनीत एवं रमणीय अवसर! श्रद्धा और भक्ति के साथ जयध्वनि करते हुए उल्लास के साथ नृत्य करने का दिव्य अवसर! धनी-निर्धन, पंडित-पामर, साधु-गृहस्थ, स्त्री-पुरुष आदि छोटे-बड़े भावों के मिट जाने पर, एकमात्र ईश्वरीय भाव के विलास का अलौकिक अवसर! अनेकानेक साधु-महात्माओं के दर्शन से मेरा मन आनन्द से प्रफुल्लित हो गया।

बौद्ध-धर्म का एक ग्रंथ कहता है कि जैसे एक मोर एक हंस की गति नहीं पा सकता, वैसे एक व्यवहारी गृहस्थ भी वनांतर में ध्यान-निष्ठा में विराजमान एक भिक्षु का महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता। हिन्दू-धर्म के ग्रंथों का कहना है कि एक द्वितीयाश्रमी, चाहे वह कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, एक साधारण भी चतुर्थाश्रमी की समानता नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि गृहस्थ-जीवन का मूलधन है—इहलोक की चिन्ता, धोखा एवं हिंसा। इसलिए वह अपवित्र है। किन्तु इसके विपरीत एक साधु परलोक की चिन्ता, एवं अहिंसा को ही मूलधन मानकर जीवन व्यतीत करता है। अतः उसका जीवन पवित्र है। साधुओं के बारे में आज के लोगों की राय कुछ भी हो, किन्तु पूर्वजों से वे इसी प्रकार प्रकीर्तित हैं।

इन साधुओं को इस तरह समूह बनाकर हिमगिरि के बीच देखकर मैं

अत्यत कृतार्थ हुआ। भीड़-भाड मे किसी प्रकार मैं भी मंदिर के अन्दर घुसा। वहा मैंने पचमुख होकर विराजमान पशुपतिनाथ के दर्शन किये। भक्ति से मन मदोन्मत्त हुआ, नेत्र अश्रुपूर्ण हुए और शरीर पुलकित हुआ। लोगो की उस भीड मे वहा अधिक देर तक दर्शन कर सकना सम्भव न था। अत मैं मन्दिर से बाहर आने लगा, किन्तु मेरे नेत्र बार-बार मुड मुड कर भगवान के दर्शन करते जाते थे। मैं बाहर आया और मन्दिर की परिक्रमा करने लगा।

यह मन्दिर नेपाल के राजाओ की धन-सपत्ति से बनाया गया है। पशुपतिनाथ उनका कुल-देवता है, इसके पादारविंदो मे उनकी भक्ति अटूट है। इस मन्दिर के निर्माण में मिट्टी और लकड़ी के साथ-साथ सोना और चाँदी का भी उन्मुक्त रूप से इस्तेमाल किया गया है। इस मन्दिर की तुलना चिदवर के नटराज-मन्दिर तथा अमृतसर के सुवर्ण-मन्दिर से की जा सकती है। मन्दिर की परिक्रमा से निवृत्त होकर मैं पास के कई देवो के दर्शन करता रहा। इस प्रकार मैंने देव-दर्शन, साधु-दर्शन तथा इधर-उधर होने वाले संकीर्तनो के श्रवण आदि पुण्य-क्रियाओ मे कई दिन बिता दिये, और इस प्रकार दिव्य-ईश्वरीय भावो के द्वारा भाव-समाधि में मग्न रहा। इसी प्रकार अन्य सभी लोगों में भी मुझे गहरा ईश्वरीय भाव स्पष्ट दिखायी पड़ा।

× × ×

अहह! हम अपने पूर्वजो को कितना धन्यवाद दें। इन देवमूर्तियों की स्थापना द्वारा उन्होने ससार का बड़ा उपकार किया है। यह अनुभव सिद्ध ही है कि साधारण जनता का मन भक्ति भाव की ओर खीच लेने मे ऐसी देव-मूर्तियाँ एव देवोत्सव सफल साधन हैं। वे बुद्धिहीन हैं जो मिट्टी-पत्थर मे ईश्वर की उपासना का निषेध करते हैं। जगत की सृष्टि, स्थिति तथा सहार करनेवाले अन्तर्यामी परमात्मा से लेकर एक पेड़, एक पौदा या एक पत्थर तक मे भगवान की उपासना की जा सकती है, और भक्त की भावना के अनुसार भगवान उसका फल देते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी एव सर्वसाक्षी है। ईश्वर-हीन कोई वस्तु इस ससार में नहीं है। तो फिर, सभी वस्तुओ में ईश्वर की उपासना करने में क्या आपत्ति हो सकती है। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, काली, लक्ष्मी—सब में एक ही ईश्वर-तत्त्व है। ससार के नाना प्रकार के पदार्थों में एक ही ईश्वर-तत्त्व है। बहुत ईश्वरो की कल्पना करना भूल है। विष्णु सहस्रनाम से प्रकीर्तित होते हैं, फिर भी विष्णु एक है, सहस्र नहीं है। नाम-रूप के भेद से ईश्वर का भेद नहीं हो सकता। भक्त लोग भजन की सुविधा के लिए शिवत्व,

विष्णुत्व आदि उपाधियाँ ग्रहण करके उनमें 'एकामेवाऽद्वितीयम्' रूपी उस परम-तत्व का भजन करते हैं। हिन्दू-धर्मियों के समान इतर धर्मी भी कुछ उपाधियों की कल्पना करके उनके द्वारा उसी परमात्मा की उपासना करते हैं। यदि हिन्दू लोग कैलाश एवं वैकुंठ तथा वहाँ चन्द्रशेखर एवं चतुर्भुज की कल्पना कर भजन करते हैं तो इतर धर्मी भी अपनी संस्कृति और विश्वास के अनुसार कई लोकों तथा रूपों की कल्पना करें, तो इसमें क्या एतराज हो सकता है किसी भी नाम-रूप में, पत्थर-मिट्टी या पेड़-पौधे में, इच्छानुसार उस परमात्मा की भक्तिपूर्वक उपासना की जा सकती है। यदि भगवान अंतर्यामी एवं सर्व-शक्तिमान है तो यह सिद्ध है कि भजन के अनुसार वह सब को फल भी प्रदान करेगा।

: २ :

तिब्बत के एक लामा ने आवेग तथा गर्व के साथ मुझसे एक बार कहा था, "हमारे आश्रम में कोई स्त्री आ जाए तो हम तलवार से उसका गला काट डालेंगे।" यद्यपि यह उनकी गर्वोक्ति अतिशयोक्ति ही थी, इसमें कोई सत्यता नहीं थी, तथापि इससे यह तो अनुमान होता है कि वह चित्त का मथन करने वाले विषयों से बिलकुल असंबद्ध रहने के अभिलाषी थे। आजकल के लोग प्रम-दाओं से कई प्रकार का संबंध बनाये रखने पर भी अपने-आप को अखंड ब्रह्म-चर्य का पालन करने वाले मानते हैं। किन्तु पुरातनकाल में इन दम्भी लोगों की तुलना में इतने सिद्ध और जितेन्द्रिय नहीं थे। पुराने ऋषि अहो! बेचारे! कायर! निर्बल मन के! इन्द्रियों के दास! अर्थ-विश्वासी! ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने के लिए विषयों से दूर एकांत स्थानों की शरण लेते थे। बौद्ध लामा आज भी वैसे ही एकांत स्थानों को पसन्द करते हैं। उनको यह विश्वास नहीं होता कि विषय-संबंध के साथ भी शुद्ध ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान हो सकता है। काठमांडु में ऐसे अनेक बौद्ध लामा रहते हैं।

काठमांडु नगर से बाहर पश्चिम की ओर 'स्वयंभूनाथ' है। एक दिन शाम को काठमांडु के कुछ भक्त जनों के साथ मैं दर्शनार्थ वहाँ गया था। एक छोटी पहाड़ी पर बने उस शांत एवं एकांत आश्रम ने मेरा मन बहुत ही आकृष्ट किया। वहाँ कई सुन्दर मन्दिर भी थे। इन मन्दिरों में पंच-पांडव आदि की

मनोहर मूर्तियों भी है, जिनकी पूजा की जाती है। मुख्य मंदिर मे अखंड दीप जलता रहता है। मंदिर के अध्यक्ष मुख्य लामा आदि से मिलकर हमने बातचीत की। यह मन्दिर आखिरी बुद्ध —गौतम बुद्ध— के पहले से ही बनाया गया बताया जाता है। तिब्बत आदि देशों से कई यात्री प्रतिवर्ष बड़ी श्रद्धा के साथ यहाँ की यात्रा करते हैं। वहाँ के कुछ लोगों ने मुझे बताया कि उसी साल जिस साल मैं वहाँ गया था चीन देश से एक महातपस्वी लामा ने इस पवित्र धाम की ओर कठिन 'प्रणतियात्रा' करके लोगों को चकित कर दिया था। साधारण लोग जिन ऊँचे हिमपर्वतों को पैरों चल कर भी पार करने मे असमर्थ हैं, ऐसे स्थानों दण्ड-प्रणाम करते-करते कई महीनों अथवा कई वर्षों मे पार करने की यह भयानक तपस्या किसके मन को आश्चर्य, भय और भक्ति मे चकित नहीं कर देगी ?

स्वयम्भूनाथ नामक उस उन्नत स्थान से राजनगरी उधर सामने दीखती है। इस स्थान के आसपास चावल के विशाल खेत हैं। दूर-दूर तक कुछ गाँव हैं। एक ओर उधर एक विशाल, निम्नोन्नत वृत्ताकार मैदान है, तथा उत्तर दिशा में दूर पर शोभित धवल हिमशिखर-मालाएं हैं। इन सबके दिव्य दर्शन ने मेरे मन को कितनी ही उच्च आनंदभूमि की ओर उठा दिया। मैं वहाँ देर तक बैठा-बैठा उस दिव्य सुषमा-सुधा का पान करता रहा। नगर के पास के विशाल खेतों के बीचों बीच चलते जाने पर हमें केरल-भूमि की याद आती रही।

ईस्वी पूर्व ४५० मे स्वयं बुद्ध भगवान ने यहाँ की यात्रा करके ब्राह्मण आदि वर्ण वालों को अपने धर्म मे मिलाकर बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार किया था। फिर ई० पू० २४६ मे बौद्ध-धर्म के प्रचारक सम्राट् अशोक ने भी यहाँ की यात्रा कर कई विहार आदि का निर्माण करके उस धर्म को अधिक पुष्ट किया। नेपाल में इन सबके कई खंडहर जहाँ-तहाँ स्पष्ट दिखायी देते है और इस प्रकार इतिहास को पुनरावृत्त कर देते है।

काठमाडु नगर के पास 'पत्तानम' और 'भातुगाम' नामक दो छोटे नगरों के देवालयों के दर्शन के लिए मैंने एक दिन वहाँ की यात्रा की। बौद्धों के ढंग पर बने कई देवमंदिर एवं बुद्ध-मूर्तियाँ वहा दीख पड़ी। बौद्ध प्रणाली मे उस समय की शिल्प-कला की कुशलता भी अजीब दिखायी देती है। आज भी इन नगरों मे हिन्दू बने बौद्ध एवं सच्चे बौद्ध धर्मी अधिक संख्या में रहते हैं।

कहा जाता है कि यहाँ कई सन्यासियों के मठ भी हैं। किन्तु इन मठों मे आजकल सच्ची सन्यास-वृत्ति के सन्यासी नही, 'गोसाई' कहलानेवाले एक प्रकार के गृहस्थाश्रमी साधु ही रहते है। सन्यासियो का वेष धारण कर संन्यासी धर्म का अचचलता के साथ पालन करना साधारण जनता के लिए आसान नही है। इसके लिए यह वर्ग स्पष्ट उदाहरण है। अहो ! महामाया का मोहन-सामर्थ्य प्रबल है। वह ऐसे लोगो को भी जो विवेक पर चलना चाहते हैं कुत्सित मोहमार्ग की ओर खीच कर पतित कर देता है। सचमुच महामाया की शक्ति दुर्दमनीय है।

काठमाडु नगर के बीच एक सरोवर है। वह सदा लाल कमलों से परि-पूर्ण रहता है। छोटा होने पर अति सुन्दर तथा मनोहारी है। इसीलिए मैं प्रायः शाम को उस ओर चला जाता था और उस सरोदेवी की उपासना कर आनद लिया करता था। सर के बीच एक छोटा देवालय भी है। इसी सरोवर के किनारे एक विशाल मैदान में सैकड़ों गुरखा सिपाही कधे पर बन्दूक रखे तथा कतार में खडे लडाई का अभ्यास करते रहते थे। वीर रस पैदा करने वाला वह दृश्य भी कभी-कभी मुझे अपनी ओर आकृष्ट करता था। सचमुच वह स्थान प्राकृतिक एव बनावटी दोनो प्रकार की सुन्दरताओं का सगम था।

शिवरात्रि-महोत्सव के बाद एक ही सप्ताह मे उस देश के नियमानु-सार सभी गृहस्थ एव साधुयात्री अपने-अपने स्थान को ओर लौट गये। किंतु मैं वहाँ के कई अमीरो तथा साधु-महात्माओं की प्रेरणा से उस स्थान को न छोडकर वहीं निर्विघ्न रूप से निवास करता रहा। सब प्रकार की सेवा-सुश्रूषा वहाँ के भक्त लोग बडी श्रद्धा से करते रहे। मानो राजाज्ञा से हो रही हो। दोपहर के पहले का समय स्नान भजन आदि दैनिक कार्यों में तथा बाद का समय सज्जनो के साथ ईश्वर-सबधी वार्तालाप मे बीत जाता था।

नेपाली लोग बडे आस्तिक और साधु-ब्राह्मणों के भक्त होते हैं। मेरे आगमन का वृत्तात कानो-कान नगर में फैल गया और कई साधु-प्रिय लोग दर्शन, सत्सगति तथा शास्त्रार्थ-विचार के लिए प्रतिदिन आ जमा होते थे। इन सज्जनो मे शास्त्रज्ञ ब्राह्मण और राणा कहलाने वाले ऊँचे कर्मचारी राजपरिवार के क्षत्रिय भी थे। इन सत्सगियो मे ज्यादातर लोग वैराग्य एव शुद्ध ब्रह्मविद्या मे रुचि रखनेवाले थे, और कुछ राजपूत वीर-सिद्धि और योग-विद्या में तत्पर थे। कितनी ही बड़ी सिद्धि हो, वह संसार के अन्तर्गत ही आती है। बडे-बड़े सिद्ध तथा ससारी व्यक्ति—ये दोनो तापत्रय से पीड़ित होते हैं। ऐसा कौन सिद्ध

इस संसार में है जिसने हिरण्यगर्भ से ज्यादा सिद्धियाँ प्राप्त की हो ? किन्तु सिद्धकुल के सम्राट् हिरण्यगर्भ भी ससार-ताप से तप्त हैं। सच तो यह है कि सासारिक विषयो मे दृढ़ विराग एव सूक्ष्म-विचार की सामर्थ्य रखनेवालो को छोडकर और कोई व्यक्ति निरपेक्ष ब्रह्म-विद्या को परोक्ष रूप मे तथा बौद्धिक रूप में नही समझ सकता।

× × ×

सत्सग में अद्भुत मोहक शक्ति है। इसलिए प्रतिदिन नियम-पूर्वक नियत समय पर कई ज्ञान-पिपासु लोग बड़ी श्रद्धा के साथ आया करते थे। वसिष्ठ आदि प्राचीन महर्षि तथा नानकदेव आदि अर्वाचीन मुनियों ने इसीलिए सत्सग की असीम प्रशसा की है कि वह अमृत के समान हितकारी एव सुखदायी है। सत्सग दुष्ट को शिष्ट बनाता है। सत्सग पापी को पुण्यवान बनाता है। सत्सग बद्ध को मुक्त करता है। सत्सग दुःखी को सुखी बनाता है। सत्सग परम फल है—इन्द्रिय और मन का चपलता-विकल समाहित भाव, अर्थात् सर्वात्मभाव। इसलिए सत्सग की महिमा अपार है। सत्सग के सम्बन्ध मे उपनिषद् मे कहा गया है —

वैदिक धर्म दो प्रकार का है—प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण अर्थात् कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग। इनमें से कर्ममार्ग के अधिकारी लौकिक विषयो मे आसक्त रागी होते है तथा ज्ञानमार्ग के अधिकारी विषयो मे आशा न रखने वाले और एषणा-त्रयो का सन्यास करनेवाले विरक्त लोग होते है। कर्ममार्ग को ग्रहण करने वालो को ऐहिक एव पारात्रिक उन्नति की प्राप्ति होती है तथा ज्ञानमार्ग को ग्रहण करने वालों को परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति होती है। ससार में प्राय सभी लोग मोहित होकर कर्ममार्ग की शरण मे आकर ससार-चक्र मे पुन.-पुनः भ्रमण करते रहते हैं। विवेक एव वैराग्य पाकर, प्रवृत्तिमार्ग को छोड़ शुद्ध श्रेयोमार्ग पर चलनेवाले ससार में बहुत ही कम है।

आत्मतत्त्व बडा ही गहरा है तथा समझने मे मुश्किल है। उसके सुनने एव उपदेश देने योग्य व्यक्ति विरले ही दिखायी देते हैं। योग्य आचार्यों के बिना इसे कोई सम्यक् रूप से समझ नही सकता। ऐसे कुत्सित पडितो से जिनका भेद भ्रम अस्त नही हुआ है, आत्मतत्त्व कोसुन लें तो वह ऐसे है जैसे अधे द्वारा अधे को रास्ता दिखाया जाना। इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत. आत्म-जिज्ञासुओ को चाहिए कि वे तत्त्वनिष्ठ महात्माओं से ही आत्म-तत्त्व को ग्रहण करें। किंतु ऐसा कोई न समझे कि 'आचार्य की क्या जरूरत

है ? मैं अपनी बुद्धि से अनुमान कर आत्मतत्त्व का निर्णय कर लूँगा ।' आत्म-तत्त्व का अवधारण आत्मनिष्ठ सद्गुरु एवं आत्मतत्त्व को बतानेवाले शास्त्रों की सहायता के बिना केवल अपनी ही बुद्धि के द्वारा किसी को नहीं हुआ है । बाज़ार से उपनिषद् आदि ग्रंथ खरीद कर पढ़ने से भी आत्मबोध नहीं हो सकता । भौतिक पदार्थों की तरह अध्यात्म-तत्त्व केवल बुद्धि या इन्द्रियों के लिए अनुभूत नहीं हो सकता । अतः महान उपदेशकों से आत्मवस्तु का श्रवण कर उसी का निरन्तरता के साथ ध्यान करनेवाले साधन-सपन्न शिष्य ही सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान पा सकते हैं ।

●

आत्मा पैदा नहीं होती; आत्मा मरती भी नहीं । वह नित्य एवं चिरतन है । शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होती । वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध आदि गुणों से हीन निर्गुण वस्तु है । वह स्वयं प्रकाशात्मक है । वह श्यामाक के दाने से भी छोटा और आकाश से भी विशाल है । वह ब्रह्मा से लेकर चींटी सभी प्राणियों की बुद्धि-गुहा में प्रकाशमान रहती है । जिसके द्वारा प्राणी रूप, रस, गंध आदि को जानते है, यह वही चैतन्य है । जागृति और स्वप्न के पदार्थों तथा नींद की दशा को वही आत्मा स्पष्ट करती है । प्राणी के शरीर में स्थित वही आत्मा प्राण, अपान आदि वायुओं को चलाती है । सारा ब्रह्मांड आत्मा में प्रतिष्ठित है । यही आत्मा माया-शक्ति से युक्त एक दशा में ईश्वर तथा इन्द्रिय आदि से युक्त होकर 'जीव' कहलाती है । जैसे एक ही अग्नि नाना प्रकार के ईंधनों से मिलकर उन-उन ईंधनों के आकार में भिन्न रूप में परिणाम पाती है, वैसे ही सर्वत्र व्याप्त अद्वितीय आत्मवस्तु नाना प्रकार के शरीरों में प्रविष्ट होकर उन-उन शरीरों से आच्छन्न हो कर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के रूप में विद्यमान है । सब चराचरों में व्याप्त होने पर भी, और सब धर्मों की प्रेरक होने पर भी, वह किसी कर्म से लिप्त नहीं होती ।

आत्मा आकाश के समान असग है । मन और बुद्धि द्वारा प्रकाशमान है । उसे आँख, कान या दूसरे इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते । पर वह शून्य नहीं है । वह त्रिकालों से भी अबाध्य सत्य वस्तु है । वह प्रकृष्ट रूप से प्रकाशमान है । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि भी जिसके प्रकाशपुंज से संसार में प्रकाशित हो रहे हैं यह वही अक्षय प्रकाश-पुंज है । सारा विषयानंद जिसका छोटा-सा कण-मात्र है यह वही आनंद-पारावार है ।

इतना ही नही, अनेक शाखाओ के साथ फैले हुए विशाल ससार-वृक्ष का बीजरूप भी यही आत्म-तत्त्व है। यही ससार की उत्पत्ति, स्थिति एव लय का हेतु है। अग्नि एव सूर्य का जलता रहना, वायु का सदा चलता रहना, इन्द्र का यथासमय बरसते रहना तथा मृत्यु का सबको ग्रस्त करना—यह सब इसी आत्मा के कारण होता है। यद्यपि इस प्रकार आत्मवस्तु सारे जग की अधिष्ठाता तथा नियामक है, तथापि वह शुद्ध, असग, अप्रमेय, निर्विकार, निष्क्रिय निर्गुण एव निराकार रूप मे ही अपनी महिमा मे स्वय प्रकाशमान है।

ऐसी आत्मा की सच्चाई का नि.शक अपरोक्ष रूप मे साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति ससार को पार कर मुक्ति पद को प्राप्त हो जाता है। जन्म, जरा एव मृत्यु तथा आधि-व्याधियो की सततियो से तप्त इस ससार मे वह फिर नही आता। लेकिन सब शरीरो मे 'मै, मैं' के शब्द से साधारणत: निर्दिष्ट आत्मवस्तु आबाल-गोपाल सबके लिए सदा सामान्य रूप मे अपरोक्ष है, तब भी विशेष रूप मे वह अपरोक्ष नही है। 'मै असग, अमृत एव आत्म-स्वरूप चैतन्य वस्तु हूँ'—यों विशेषरूप में आत्मवस्तु किसी म प्रकाशित नही होती। परमेश्वर ने प्राकृतिक रूप से ही प्राणियो की इन्द्रियाँ बहिर्मुखी अर्थात् विषयोन्मुख बनायी हैं। मन संकल्प-विकल्पात्मक बनाया है। इसलिए स्वाभाविक रूप से ही विषयो में प्रवर्तमान इन्द्रियो और मन को रोककर आत्मवस्तु को जान कर निजी रूप में उसका अनुभव कर लेना साधारण लोगो के लिए कठिन है।

आश्चर्य की बात है, हजारो लोगो मे कोई विरला ही तीव्र विराग एवं मोक्ष की इच्छा से इन्द्रियो को रोक और मन को अन्तर्मुखी बनाकर उस प्रत्य-गात्मा के साक्षात् दर्शन कर तृप्त होता है। इस प्रकार सच्चा मनुष्य वह है जो इन्द्रियो के प्रताप मे मोहित न होकर, दुर्गम होने पर भी उनका धीरता के साथ दमन कर, आत्मानुभूति करता है। जो मनुष्य शरीर प्राप्त कर सत्य वस्तु की खोज में अर्थात् सत्य वस्तु की ओर ले जानेवाले साधनों को पाने मे इस शरीर का उपयोग नही करता, वह ईश्वर की इस श्रेष्ठ देन शरीर का सदुपयोग नहीं करता। वह इसे विफल बना देता है। जानवरो के शरीर की भाँति यदि हमारा मानव शरीर भी आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि मे विनष्ट हो जाए तो उसके समान दु खमय बात भला और क्या हो सकती है। इन्द्रिया के वश में होकर एक-एक काम की इच्छा में समय बितानेवाले ऐसे आदमी कामासक्ति के कारण मृत्यु के शिकार बन जाते हैं, अर्थात् जन्म-मरणात्मक ससार-सागर मे डूबते-उठते रहते हैं। इन्द्रिय एव मन को वश मे करने वाले धीर सो विषयों

को नश्वर समझकर उनकी इच्छा किये बिना अनश्वर अमरत्व को ही कामना करते है और उसके लिए लगातार परिश्रम करते हुए उसी के लिए जीवन बिताते है।

मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र साधन अद्वैत एव अद्वितीय आत्मा का सम्यक् ज्ञान है। यद्यपि उपाधि-भेद के द्वारा जीव और ईश्वर के भिन्न-भिन्न व्यवहार होते है तथापि दोनो एक ही चैतन्य है। यह सच्चा ज्ञान उपनिषद् विचार से उत्पन्न होता है। वह ज्ञान भेद-ज्ञान है जो प्रति शरीर भिन्न-भिन्न जीवात्मा तथा उनसे भिन्न एक परमात्मतत्त्व का उपदेश देता है। चूंकि भेद-ज्ञान अयथार्थ है, इसलिए अमरत्व प्रदान करने में असमर्थ है। व्यवहार-दशा मे यद्यपि आत्मा में 'मैं, तू' की भेद-कल्पनाएँ होती हैं, तथापि परमार्थ-दशा मे आत्मा मे नानात्व नही होता।

जो लोग अद्वितीय एव सब चराचरो के लिए प्रकाशमान आत्मा को स्वस्वरूप मे अपरोक्षीभूत करने मे असमर्थ है, ऐसे मध्यम अधिकारियो को प्रणवोपासना का अनुष्ठान करना चाहिए। 'ॐ, ॐ, ॐ'—'ॐकार' का हमेशा उच्चारण करना चाहिए। जिनका चित्त अधिक चचल है, उन्हे घटा-निनाद के समान उच्च एव दीर्घ स्वर मे प्रणव का जप करना चाहिए, तथा जिनका मन स्थिर है उन्हे धीरे से प्रणव का जप करना चाहिए। प्रणव के जप के साथ प्रणवार्थ निर्विशेष ब्रह्म का भी अनुसधान करना चाहिए। पर जिनमे ब्रह्म के अनुसधान की सामर्थ्य नही है, उन्हे 'ॐकार' मे ब्रह्म-दृष्टि रखकर उपासना करनी चाहिए, अर्थात् ॐकार शब्द मे मन के निरोध का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार से अभ्यस्त प्रणवोपासना क्रमशः आत्मज्ञान को उत्पन्न कर देती है। इन्द्रियो एव मनोवृत्तियो का निरोध रूपी योग भी निदिध्यासन का अंग होकर आत्मज्ञान के उदय मे सहायक होता है। यह शका कितनी ही स्थूल है कि देह से अलग कोई आत्मा है या नही? देहेन्द्रियाँ और मनोबुद्धियाँ जिस चैतन्य वस्तु के सबध से अपने-अपने व्यापारो मे लगी रहती हैं, वही चैतन्य वस्तु आत्मा है। आत्मा ही हम हैं। वही आत्मा ब्रह्म है। वही आत्मा जगत् है। उस आत्म-चैतन्य को छोड़कर और कोई वस्तु है ही नही।

●

किंतु वेदात के कुछ आचार्यों का कहना है कि आत्मज्ञान तथा आत्म-ज्ञान का अभ्यास सबके अधिकारी केवल सन्यासी ही हैं। परतु इनके अतिरिक्त अन्य आश्रमियों को इसका अनधिकारी नहीं समझना चाहिए। श्रुति और स्मृति

इसके लिए प्रमाण है कि प्राचीनकाल मे यतिधर्मियों से ज्यादा गृहधर्मी ही तत्त्व-विचार मे लगे रहते थे। विषय का विचार ही आत्म-विचार मे मुख्य साधन है। विरागी घर मे रहे या वन मे, वह सन्यासी हो चुका है। जिसमे वैराग्य नही वह मत्रो का जप करे, गेरुआ कपडा धारण कर ले तो भी वह सन्यासी नही हो सकता। किन्तु इसके विपरीत सदाचरण, विवेक एव वैराग्य की सपत्ति के साथ कोई भी गृहस्थी, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अपने गृहस्थ-कार्यों मे सलग्न रहते हुए भी वैसे ही ब्रह्मविचार कर सकता है जैसे बडे-बडे यतीन्द्र एकात हिमाद्रि-शिखर पर बैठे ब्रह्मविचार करते हैं।

इसी सम्बन्ध में उदारण लीजिए—जब महर्षि याज्ञवलक्य ने विदेह-राजा जनक तथा अपनी पत्नी मैत्रेयी को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया था तब पहले उनसे सन्यास-धारण करने की आवश्यकता नही समझी थी। और तो और, ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा एव ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवलक्य भी स्वय गृहस्थी थे। *वैराग्य-मूर्ति मैत्रेयी का उदाहरण भी हमारे सम्मुख है, जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म-*विद्या को ग्रहण करने के लिए वैराग्य तो नितान्त अपेक्षित है, किन्तु सन्यास लेना आवश्यक नही है।

सन्यास-ग्रहण की इच्छा से प्रेरित होकर याज्ञवल्क्य ने एक बार मैत्रेयी और कात्यायनी नामक अपनी दोनो पत्नियो को बुलाया और कहा—"मैं सन्यास लेना चाहता हूँ, और इसी कारण अपने द्रव्य को तुम दोनों मे बाँट देना चाहता हूँ।" उनकी बडी पत्नी मैत्रेयी विवेकशीला तथा वैराग्य-सपन्ना थी। सुनकर उसने विनम्रता के साथ निवेदन किया—"धन से मेरा क्या प्रयोजन ? समुद्र से आवृत्त यह सारा भूमडल उसकी सारी सपत्ति के साथ भी यदि आप मुझे दान दें तो भी क्या मैं इस घोर ससार-बधन से मुक्त होकर उस नि.सीम आनन्द-पद को प्राप्त हो सकूँगी ? कभी नही। जैसे सुख-भोग के इच्छुक धनवान लोग विषय-भोग करते हैं मैं भी धन से वैसे ही विषय-भोग का आनद ले सकूँगी। धन द्वारा इससे बढ़कर भला और क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? इसलिए आप कृपया मुझे उस सत्य वस्तु को देखने और सुदृढ़ मायाजाल को तोड़ने का उपदेश दीजिए। इस ज्ञान-धन के सिवाय भौतिक धन की मैं आप से *प्रार्थना नहीं करती।"*

यद्यपि मैत्रेयी स्त्री जाति की थीं, तो भी उनके विवेक एवं वैराग्य को देखकर याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे आत्मविद्या का उपदेश देने का निश्चय किया, और तभी याज्ञवलक्य रूपी सूर्य से अज्ञान के निबिड़ान्धकार

को दूर करनेवाली ज्ञान की किरणें अविच्छिन्न गति से निकलने लगीं—

'हे मैत्रेयी ! पत्नी अपने पति के लाभ के लिए उससे प्रेम नहीं करती, बल्कि अपने लाभ के लिए करती है। इसी तरह पति भी पत्नी के लाभ के लिए उससे प्रेम नहीं करता, बल्कि अपने लाभ के लिए करता है। पुत्र के सुख के लिए पिता उसे प्यार नहीं करता, अपने सुख के लिए ही प्यार करता है। धन के प्रयोजन के लिए धनी धन को नहीं चाहता, अपने प्रयोजन के लिए धनी धन चाहता है।

उन्होंने आगे कहा—'हे प्रिय मैत्रेयी ! इस प्रकार संसार में कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अथवा दूसरे पदार्थों से प्रेम करता है तो वह अपने प्रयोजन के लिए है, न कि उनके प्रयोजन के लिए। अपने से संबद्ध अन्य पदार्थों का प्रेम संबंध के अनुसार सातिशय होता है तथा इसी के कारण गौण होता है। परंतु अपने से निजी प्रेम निरतिशय होता है और इसी कारण मुख्य है। सब पदार्थों—धन, पुत्र एवं पत्नी का त्याग करके भी मनुष्य अपनी रक्षा करना चाहते हैं। अतः सब के लिए अनुभूत विषय है कि सबसे बढ़ कर प्रेम अपने में होता है तथा अपने लिये लाभदायक पदार्थों का प्रेम क्षुद्र है। आर आत्मा ही है। सारांश यह है कि शेषी आत्मा, निरतिशय प्रेम तथा शेषभूत पत्नी-पुत्र आदि सातिशय प्रेम के आधार हैं। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा परम प्रेम का आधार है तो वह परमानंद का भी आधार है। क्योंकि यह दुनिया में प्रसिद्ध है कि आनंद की तुलना प्रेम की तुलना का कारण है।'

वे फिर बोले—'हे मैत्रेयी ! तू जान ले कि आत्मा आनंदपुंज है, आनंद का सागर है। यों निरतिशय आनंद की अनवरत वर्षा करनेवाली यह आत्मा जब अपने निकट अपने ही रूप में विद्यमान रहे तो हे मैत्रेयी ! अपने को बुद्धिमान समझ कर गर्व करनेवाले ये मनुष्य उस आत्मा को जानकर निरतिशय आनंद भोगने की इच्छा किये बिना क्षुद्र आनंद का लोभ कर उसके हेतु क्षुद्र विषयों के प्रेम में उनके पीछे दौड़ते रहें, इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और कौन हो सकती है ? आनंद की इच्छा करने वाले आत्मा की खोज किये बिना क्षुद्र बाह्य विषयों को क्यों ढूंढ़ते फिरते हैं।

और वह कहते चले गये, 'हे प्रिय ! बाहरी विषय दुःख के कारण हैं। इस प्रकार उनमें सुख की भ्रांति को बिलकुल छोड़कर दृढ़ वैराग्य को स्वीकार कर। यद्यपि तू अभी वैराग्य-सपन्ना है, तथापि उस वैराग्य को दृढ़ बनाने के लिए ही मैं तुझे यह परामर्श दे रहा हूँ। कभी विचलित न होने वाला

तीव्र वैराग्य धारण कर तथा मन को विनश्वर विषयों में फिराये बिना शान्त एवं समाहित बनाकर आत्मा को अपरोक्ष रूप में, अर्थात् जैसे तू मुझे प्रत्यक्ष देख रही है वैसे ही नि:शंक रूप से, देख ले। ऐसे आनंदस्वरूप एवं स्वस्वरूप आत्मवस्तु को हथेली पर रखे हुए आँवले के समान स्पष्ट देख कृतार्थ हो जाने का उपाय भी मैं तुझे बता देता हूँ—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

फिर बोले—'अरी मैत्रेयी ! श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा आत्मा के दर्शन करने चाहिए। सबसे पहले हमें आत्मा को देखनेवाले आत्मा-नुभवी चिन्तकों की तथा आत्मतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथों की सहायता से, आत्मस्वरूप को समझ लेना चाहिए।'

आत्मा है क्या ? इसी के सम्बन्ध में उन्होंने कहा—'आत्मवस्तु अद्वितीय है, सर्वव्यापक है, सब शरीर में ज्ञान के रूप में वर्तमान एक ही आत्मा है। यही इस जगत् का आधारभूत है। यही ब्रह्म कहलाती है। ज्ञान-निष्ठ चिन्तकों तथा ज्ञान-भाण्डार ग्रंथों से प्राप्त इसी तथ्य को हमें अपनी बुद्धि एवं अनुमान द्वारा दृढ़ कर लेना चाहिए। ऐसे निश्चित आत्मवस्तु की निरंतर भावना निदिध्यासन कहलाती है। चित्त को एकाग्र कर अनवरत एवं इच्छापूर्वक अभ्यस्त आत्मध्यान के द्वारा मन निर्विकल्प आत्मवस्तु में रमता हुआ उनसे संलग्न होकर समाहित हो जाता है तथा इस समाधि के द्वारा आत्मवस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन कर तृप्त हो जाता है।'

और तभी उन्होंने अनेक विकल्प प्रस्तुत किये और इसका निराकरण कर दिया—'देह से भिन्न कोई आत्मा है या नहीं ? है भी तो वह इच्छादि गुणों एवं कर्तृत्व आदि धर्मों से युक्त एक पदार्थ है अथवा निर्गुण एवं निर्विशेष वस्तु है ? यदि निर्विशेष है तो वह प्रतिशरीर भिन्न है या एक ही है, आदि अनेक शंकाएँ तथा अनादिकाल से अनेक जन्मों में अभ्यस्त 'देहोऽहम्' की विपर्यय चिंताएं इस आत्मदर्शन की प्रज्वलित अग्नि में रुई के समान भस्म हो जाती है।'

आगे बोले—'ज्ञानी व्यक्ति की यह भावना दृढ़ होती है कि अग्रजत्व-अल्पजत्व, धनिकता-दरिद्रता, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, इच्छा-द्वेष आदि सभी धर्म देह-निष्ठ है, न कि आत्म-निष्ठ। और इसी दृढ़ निष्ठा के साथ ज्ञानी व्यक्ति जीवन-मुक्ति-पद पर सदा यह कहते हुए विराजित रहता है कि 'मैं शुद्ध हूँ, अद्वितीय हूं और आनंद-स्वरूप आत्मवस्तु हूँ। हे मैत्रेयी ! तू यह, समझ ले कि अचंचल, आत्मज्ञान-निष्ठा की यही जीवन-मुक्ति एक मनुष्य के लिए

इच्छा एव प्राप्ति का चरम लक्ष्य है। मनुष्य-जन्म में अपनी आत्मा को जानने से बढकर और कोई लाभ नही है। इसके अतिरिक्त हमे और कोई भी सुख नही भोगना है और न ही कोई अन्य कर्तव्य हमे निभाना है। आत्मनिष्ठा ही परम कर्तव्य है। आत्मनिष्ठा ही परम सुख है। आत्मनिष्ठा ही परम लाभ है। आत्मनिष्ठा ही परम विद्या है। हे मैत्रेयी ! यही आत्मनिष्ठा अमरता का अनन्य साधन है। अतःयदि तुम में अमरता की अत्यंत अभिलाषा हो तो उसको अव्यभिचारी साधन इस आत्मनिष्ठा को सब प्रकार से पा ले।'

फिर बोले—'ब्रह्म अखड है, लवण-खड के समान एकरस, अर्थात् सच्चिदानंदघन है। त्रिविध भेद भी ब्रह्म मे नही है। सावयव वस्तु न होने से उसमे स्वगतभेद नही होता। समान जाति की और किसी सद्वस्तु के न होने के कारण उसमे सजातीय भेद नहीं होता। सद्वस्तु ब्रह्म के लिए विजातीय असद्-वस्तु होने तथा असद्वस्तु की किसी से प्रतिद्वन्द्विता न होने के कारण वास्तव में प्रतिद्वन्द्विता के कारण होने वाला विजातीय भेद भी इसमे नही होता। इस प्रकार ब्रह्म, ज़रा भी भिन्नता लिये बिना, एक होने पर भी व्यवहार-दशा मे अनेक होकर और देश, काल आदि से अच्छिन्न होने पर भी छिन्न होकर वह सदा अपनी महिमा मे स्वय प्रकाशमान रहता है।'

और अन्त मे उन्होने कहा—'प्रकृति से परे एक एव अद्वितीय ब्रह्म वस्तु मे प्रकृति के देश-काल-सबधी प्रश्न—ब्रह्म कहाँ से पैदा हुआ ? ब्रह्म कब पैदा हुआ ? आदि प्रश्न—बिल्कुल वैसे ही बुद्धि-शून्य है जैसे कि कोई यह प्रश्न करे—देखो क्या मेरे जीभ है ? क्या मेरी माता वन्ध्या है ? *आदि। भला बताओ तो अद्वितीय, एकवस्तु-निष्ठ ब्रह्म के लिए अपने से* पूर्ववर्ती कोई कारण कैसे हो सकता है ? 'कहाँ' और 'कब' के प्रश्न द्वैतरूप माया को छोडकर अद्वैतरूप ब्रह्म मे सभव नही हो सकते।

●●

१३. चन्दननाथ

चन्दननाथ हिमगिरि के तल से डेढ सौ मील की ऊँचाई पर एक मनोहरी मैदान है। यह समुद्र की सतह से लगभग दस हजार फुट से भी अधिक ऊँचाई पर स्थित है। यह चारो ओर से ऊँचे-ऊँचे हिम-पर्वतों की पंक्तियो से आच्छन्न है। इसके बीच चावल के छोटे-छोटे खेत है। जहाँ-तहाँ कुछ छोटे-छोटे गाव है। मध्य में 'तिला' नामक नदी द्रुतगति से बहती चली जा रही है। यह नदी छोटी होने पर भी सुन्दर है।

वृद्ध-परपरा से कहा जाता है कि पुरातन काल में 'चन्दननाथ' और 'भैरवनाथ' नाम के दो महासिद्ध थे। ये दोनो इस दुर्गम हिमालय प्रदेश पर सैकड़ों वर्ष तपस्या-वृत्ति मे लीन रहे। उनके कैवल्य के बाद उनकी स्मृति मे उनकी पादुकाओ एव मूर्तियो की पूजा होने लगी। इन दोनो मे से चन्दननाथ के पुण्यनाम से यह पुण्य धाम भी 'चन्दननाथ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। सचमुच यह हिमालय प्रदेश ऐश्वर्यनिधि सिद्धो एव सूक्ष्मदर्शी महर्षियों की आवासभूमि था। ऐतिहासिक लोग प्रमाणों द्वारा सिद्ध करते हैं कि वैदिक काल के कई मंत्र-द्रष्टाओं तथा सूत्र-काल के कई दर्शनकर्ता ऋषिपुंगवों ने इसी हिमालय प्रदेश को अपने सान्निध्य से अलकृत किया था। हिमगिरि की एकांत गुफाएँ, कन्दर एव नदी-तट आर्य-तपस्वियो और आर्य-चिंतकों के तपःस्थान तथा मनन-स्थान थे। निरुपद्रव, निर्विक्षेप एव नितांत सुन्दर इस दिव्य भूमि में ही बाहरी दुनिया से विमुख होकर केवल आन्तरिक लोक में विहार करनेवाले उन ऋषियो का निर्मल मन रमा करता था। अनेक लोग मानते हैं कि गौतम मुनि ने मदाकिनी के तट पर रहते हुए न्याय दर्शन, व्यास महर्षि ने सरस्वती किनारे विराजते हुए वेदात दर्शन तथा गर्गमुनि ने द्रोण गिरि पर निवास करते हुए ज्योतिःशास्त्र की रचना की थी।

हिमगिरि के ससार-प्रसिद्ध तीन शिखरो मे एक है—धवलगिरि। यहाँ से थोड़ी दूर नीचे की ओर नेपाल देश के अतर्गत यह पवित्र-धाम है ? यह स्थान अति दुर्गम है। इसी कारण यहाँ कुछ एक तितिक्षाशील साधुओं को छोड़

कर निम्न देश का कोई भी व्यक्ति यात्रा नहीं करता। नेपाल देश के लोग ही प्राय यहाँ का सफर किया करते है। 'चन्दननाथ' नामक स्थान और उसकी महिमा नेपाल की राजधानी मे पहले-पहल मेरे कानों में पड़ी तो बड़ी उत्सुकता से उसके दर्शन करने को मै लालायित हो उठा।

काठमाडु नगर मे मैने दो महीने आनंद से बिताये। दो महीने, दो दिन की तरह बीत गये। प्रतिदिन की आध्यात्मिक चर्चा से सतुष्ट कई सज्जनों ने आत्मशान्ति के बारे में अति कृतज्ञताभाव दिखाते हुए मुझसे बातें की। जो लोग सत्सग मे आते थे, यद्यपि उनकी सख्या इस नगर की जनसख्या को देखते हुए बहुत ही है कम थी, किन्तु ये लोग श्रद्धालु अवश्य थे। वैसे, यह भी ससार का नियम है कि विषय गोष्ठी की तुलना मे ब्रह्मगोष्ठी की इच्छा करनेवाले बहुत कम ही होते है।

× × ×

इस लोक मे विवेक-युक्त बहुत कम ही पुण्यात्मा होते है जो विषय-रस को दुःख का कारण मानते हैं और वैराग्यभाव से ईश्वरीय रस की खोज करते हैं। जो लोग विनश्वर विषयों मे आसक्त रहते है, वे जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि की अनर्थ-परम्परा के दु ख को भोगते चले जाते है। आश्चर्य की बात यह है कि इस बधन की दशा को वे सुख माने बैठे हैं। सत्य तो यह है कि हम अपने नित्यमुक्त, स्वतत्र पद से च्युत होकर बंधन मे जकड़े हुए हैं। किन्तु जिसे इस बधन का ज्ञान ही न हो वह भला किस प्रकार मोक्ष की इच्छा करेगा। मोक्षेच्छा हुए बिना मोक्ष के उपाय—तत्त्व-चर्चा मे प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तत्त्व-विचार से पैदा होने वाले तत्त्वज्ञान से, अर्थात् दृढ़ आत्मनिर्णय से आत्मबल मिलता है।

आत्मबल सदा एकरस, निरतिशय एव नित्य है। विषय-बल तो क्षणिक प्रभा के समान नश्वर है। आत्मशक्ति के सामने विषय-शक्ति उस प्रकार है जिस प्रकार सूर्यमण्डल के सामने जुगुनू। सभी भौतिक शक्तियाँ, सम्राट् की शक्ति तथा हिरण्यगर्भ की शक्ति भी जिस के सामने तृणप्राय हो जाती है, वह महा-शक्ति है—आत्मशक्ति। उस आत्मबल के सामने मानव सब बधनो से मुक्त होकर स्वतत्र तथा आनद-मधुर जीवन मे पहुँच कृतकृत्य एव नित्यतृप्त हो जाता है। जब तक देह मे आत्मबुद्धि तथा उसके कारण अहता एवं ममता है, तब तक कोई व्यक्ति आत्मशक्ति के द्वार तक नहीं पहुँच सकता। जो भी हो, महामाया के नाग-पाश में विमो हो अधिकतर मनुष्य आत्मबल और

आत्मबोध के बिना, और यहाँ तक कि उसके साधन बंधन-ज्ञान के बिना, जीवन व्यर्थ गँवा देते है। अहा ! यों सब को समान रूप से मोह के अपार पारावार में डुबोते हुए अतुलनीय प्रताप के साथ विजय-भेरी बजाते उन्मत्त नर्तन करनेवाली महामाया के अधिकार की विशाल सीमा को कौन लाँघ सकता है ? अथवा ऐसी इच्छा तक करने की शक्ति किस में है ?

× × ×

नेपाल नगर के परिचित लोग बड़ी श्रद्धा एवं आग्रह के साथ समय-असमय पर यही प्रार्थना करते रहे कि मैं कुछ काल और वहाँ रहूँ। किन्तु मैंने मन में निश्चय कर लिया था कि हिमालय के उस पार तिब्बत में स्थित कैलाश पर्वत की ओर चलना चाहिए, और इस निर्णय को मैंने वहाँ के कुछ अंतरंग प्रेमियों को बता भी दिया। वहाँ के प्रधान मंत्री के साले साधु-भक्त 'कर्ण विक्रमशाह' नामक माननीय व्यक्ति ने हमारी यात्रा के सब प्रबंध कर दिये, और एक शुभ दिन उनकी अनुमति के साथ पशुपतिनाथ को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर वह स्थान छोड़कर मैं कैलाश के लक्ष्य में रवाना हुआ। वस्तुतः मैं कैलाश तथा मानसरोवर की महिमा एवं सुन्दरता के बारे में काफी अरसे से सुनता चला आया था। अब उनके दर्शनार्थ जाने के लिए मैं उचित समय की प्रतीक्षा में बैठा था, और आज वह शुभ दिन आ गया था।

काठमाडु से पास के एक मार्ग से मैं नीचे की ओर उतरा। 'रक्सौल' रलवे-स्टेशन से गाड़ी पर चढ़ा और 'गोरखपुर' से होकर हिमालय की तराई के 'नेपालगंज' नामक छोटे शहर में जा पहुँचा। असम देश के 'आनन्दगिरि' नामक एक युवक साधु भी अनुचर रूप से मेरे साथ चल पड़े। हम दोनों नेपाल के एक नगर नेपालगंज में 'मुख्या' के अतिथि-गृह में आदर के पात्र बनकर दस-बारह दिन रहे। यह अतिथि-स्थान जाजर कोट राजपरिवार का एक अंग है। इसके बाद वहाँ से नेपाल राज्य के अंतर्गत 'जाजर कोट' देश की राजधानी के लक्ष्य से, ऊपर की ओर, अर्थात् हिमगिरि के अन्दर की ओर, हमने यात्रा शुरू की।

चलते-चलते कई छोटे-बड़े गाँवों की विशाल मैदान-भूमि समाप्त हुई, और जंगली जीवों से भरा घनघोर महावन शुरू हुआ। हिरणों तथा जंगली सुअरों को इधर-उधर चलते देखा। एक दिन बाघ का गर्जन भी अति निकट से सुनायी पड़ा। जाजर कोट राजवंश के एक राजकुमार और कुछ अन्य लोग भी हमारे साथ चल रहे थे। वे लोग मार्ग ठीक तरह जानते थे। इसलिए अधिक चिन्ता

किये बिना निबिड़ और अंधकारमय उस भयानक वन के बीच में से हम आगे बढ़ते चले गये। मार्ग में तीव्र वेग से बहनेवाली एक नदी आयी। इसे हमने कठिनाई से पार किया। इसी वन में कहीं-कहीं प्रचण्ड दावाग्नि भी थी। इसे भी हमने अति साहस के साथ लांघा। जहाँ रात पड़ती वहाँ हम रह लेते और खुले वनान्तर में आग जला लेते, जिससे बाघ आदि का डर कम हो जाता। हम रात भर चौकन्ने होकर प्रायः बैठे रहते। कभी-कभी लेटकर ज़रा विश्राम भी कर लेते। इस प्रकार हमने अपनी लंबी यात्रा जारी रखी।

इस यात्रा में हमने ईश्वर-महिमा का मानो साक्षात् दर्शन किया। पक्षियों का मधुर-मंजुल, गान, वराह का घुरघुर शब्द, शार्दूलों का भयानक गर्जन, सूखे पत्तों की मर्मर ध्वनि और अनेक प्रकार के पल्लवित-पुष्पित विटपों, लताओं तथा गुल्मों की आनंद-दायक सुन्दरता इन्द्रियों के इन सभी विषयीभूत दृश्यों में हम परमात्मा की महिमा के ही प्रत्यक्ष दर्शन करते चले गये। अचिंत्य ईश्वरीय शक्ति के निरंतर चिन्तन में कभी-कभी हम बाह्य ज्ञान से विरत होकर मन के समाहित भाव में पहुँच जाते थे। कहीं-कहीं इस सुन्दर दृश्य-विधान को देखते हुए हम थोड़ी देर तक स्तब्ध खड़े रहते या बैठ जाते, और धीरे-धीरे आगे बढ़ जाते। यों, छः सात दिन अनंत घनघोर महावनों से होकर यात्रा करने के बाद हम गाँवों की ओर आगये, जो विच्छिन्न विरल वनों से आवृत्त थे तथा जिनके आसपास कई प्रकार के अनाजों के सूखे खेत थे।

निर्मल जल की मनोहारी भैरवी गंगा के रमणीय तट से मार्ग ऊपर की ओर जा रहा है। भैरवी गंगा एक उपनदी है जो कि श्रीदाशरथी-प्रिया सरयू गंगा की पोषक नदी 'कर्णाली' में जाकर मिल जाती है। कई दिनों की कठिन वन-यात्रा से थके-मांदे हम भैरवी के पुण्यतट पर, एक खुले स्थान में एक गाँव के पास पहुँच गये। हमारे साथ खाने की चीजें बहुत कम थी, और रास्ते में भी हमें खाना बहुत कम मिला था। किन्तु जब हम इस गाँव में, पहुँचे तो साधु-महात्माओं के दर्शन के लिए, तथा हमारे साथ आये राजकुमार को भी देखने के लिए तुरन्त ही ग्रामीण लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी। उन्होंने हमसे भय-भक्ति-मिश्रित भावों के साथ कुशल-मंगल पूछा, और फौरन गाँव में खाने की कुछ चीजें लाकर हमारा सत्कार किया। हम सबने पेट भर कर खाया तथा निश्चित सुख-निद्रा ली। वह रात हमारे लिए कभी न भूलने-वाली त्रिदिव-रात्रि थी।

× × ×

ईश्वर सर्वद्रष्टा होकर यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है। ईश्वर सब की ज़रूरतों को जानता है, और उनको निभाता भी है। लेकिन मनुष्य इस तत्त्व को नहीं जानते। जानते हो, तो भी वैसा दृढ़ रूप से विश्वास नहीं करते। कोई एक दुष्ट संस्कार हमारे मन में रहकर आत्मसमर्पण को रोक लेता है। इसी समय मुझे ईसाई युवती की कन्या स्मरण हो आयी, जिसने अठारह वर्ष की उम्र में विरक्त होकर परमेश्वर के भजन के लिए घर-बार छोड़ दिया था। घर छोड़ते समय उसने अपने अगले दिन के खाने के लिए केवल एक 'पेनी' अपने पास रखी थी। उसे तुरन्त ही आकाश से परम पिता की वाणी सुनायी पड़ी—'क्या इसी एक पेनी पर भरोसा रखकर सब कुछ छोड़-छाड़ कर तुम बाहर निकली हो?' अगले ही क्षण उसने जवाब दिया, 'हे प्रभो! नहीं, मैं इस पेनी का भरोसा करके नहीं, केवल आप के भरोसे पर बाहर निकली हूं', और तभी उसने उस पेनी को भी फेंक दिया और केवल परमेश्वर-परायण होकर वह आगे बढ़ चली। *सत्य है जो द्रव्य की शरण में जाता है, उस के लिए भगवान की सहायता किस लिए? परमेश्वर के भक्त के लिए द्रव्य काहे को?*

यह ठीक है कि उन दिनों तो मैं धनवान एवं प्रभावशाली राजाओं का अतिथि रहते हुए उनके प्रबंध के द्वारा ही यह यात्रा कर रहा था, किन्तु वैराग्य, चिन्तन तथा ईश्वर पर श्रद्धा एवं विश्वास रखने के कारण मैं अधिक खाद्य वस्तुएँ आदि इकट्ठा करने के पक्ष में कभी नहीं रहा। इसी कारण मार्ग में कभी-कभी अन्न के अभाव से मुझे बड़ा कष्ट भोगना पड़ता था, तो भी विश्वंभर परमेश्वर सब कहीं योग-क्षेम का निर्वाह कर देते थे। कल के भोजन *की या कल के विश्राम-स्थान की चिंता किये बिना एकांत देश में एकाकी* होकर विहार करने चल देता। इस दशा में भी भगवान ही महात्माओं की रक्षा करते हैं। ईश्वर की महिमा तथा ईश्वर की दयालुता में श्रद्धालु भक्तों के लिए कौन-सा अभाव हो सकता है? बड़े ही निर्जन हिमालय के निगूढ़ प्रदेशों में भी जहाँ अन्न का नाम भी सुनना असंभव है, वे संपन्न ही रहते हैं, अपने भक्तों का योग-क्षेम वहां भी भगवान ही करते हैं। जैसे पक्षियों के लिए वैसे भक्तों के लिए भी, भक्तवत्सल परम पिता सब खाद्य सामग्री जुटा देते हैं। केवल अन्न के विषय में ही नहीं, अन्य विषयों में भी आवश्यक अवसरों पर अपना अवलंबन देकर भगवान विपत्तियों में हमारा उद्धार कर देते हैं।

× × ×

वहाँ से भैरवी के किनारे से हमने फिर यात्रा शुरू की। कई वनों, पर्वतों और छोटे गांवों को पार करते हुए दो-तीन दिन की यात्रा के बाद हम सकुशल जाजर कोट की राजधानी में प्रविष्ट हुए। वहाँ एक पहाडी के ऊपर एकात-स्थान में बने एक राजमहल के पास हमने एक निवास-स्थान मे कुछ दिनो तक विश्राम किया। यहाँ भी हम सबके स्वागत के पात्र थे। इसके बाद गर्मी मे राज-परिवार के सुखवास स्थान 'दहा' नामक एक ऊंचे शीतल पर्वत-प्रात की ओर हम रवाना हुए। एक राजकुमार, जो उन दिनो राजा की अनुपस्थिति मे राज-काज करते थे, हमें वहाँ ले गये थे। उन दिनो मेरा स्वास्थ्य ठीक नही था। अत इन्ही राजकुमार के कई बार अनुरोध करने पर मैंने कडी चढाई मे एक फर्लांग तक उनके घोडे पर बडी उदासीनता के साथ सफर भी किया। किन्तु यह अश्वारोहण मुझ जैसे साधु को एक पापाचरण के समान लगा था। ऐसी घटना न तो कभी घटी थी और न कभी इसके बाद। मै इस आचरण को कभी नही भूल सकता। उनके अनुरोध से घोड़े पर मैं सवार तो होगया था, किन्तु तुरन्त ही मुझे यह बोध हो आया कि घुडसवारी इस शरीर की प्रकृति एव धर्म के उचित नही है, और मैं शीघ्र ही घोड़े की पीठ से उतर पडा और पैदल ही पहाड पर चढ़ने लगा।

'दहा' नामक यह पर्वत-प्रात हरियाली के साथ फूलों, पल्लवों एव फलो से निबिड नाना प्रकार के वृक्ष, लता, तृण आदि की वासती शोभा से भरा विशाल तथा आनदकारी वन-प्रदेश था। राजभवन से कुछ दूर वनातर मे हमारे लिए एक सुन्दर पर्णशाला बनी थी। हम उस आश्रम मे सुखपूर्वक निवास करने लगे। राजमहल से हमारे योग-क्षेम की निरन्तर पूछताछ की जाती थी।

उस एकात एव प्रशात गभीर वनातर मे मैंने अपना अधिक समय ईश्वर-चिन्तन में ही बिताया था। जिस प्रकार हम आँखें मूँदकर ध्यान मे परमात्मा को अपरोक्ष रूप से देख आनदानुभूति कर लेते हैं, उसी प्रकार आँखें खोले चारों ओर नाना प्रकार की प्रकृति मे उसी परमात्मा के दर्शन कर आनद पा लेना भी निरन्तर सम्भव है। किन्तु इसके लिए अभ्यास की जरूरत है। प्राकृतिक दृश्यो को देखकर उनपर लौकिक रूप से मुग्ध हुए बिना निरतिशय शांति मे पहुँचकर विश्रांति पा सकने की क्षमता सरल नहीं है। इसके लिए समाहित भाव अपेक्षित है। केवल अध्यात्म-रसिक ही इस ओर प्रवृत्त रह सकते हैं। उनका मन लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद आदि विघ्नो को लाँघ

जाता है। जैसे आकाश मे पक्षी ऊपर ही ऊपर उड़कर सर्वोच्च स्थान पर पहुँच आनद प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार ये अध्यात्म-रसिक भी ऊपर ऊपर उठकर चरम सीमा मे, अर्थात् निर्विकल्प ब्रह्मपद में, पहुँचकर विश्रांति और आनद का अनुभव करते है। जैसे घट-वृत्ति मे घट का ज्ञान होता है, वैसे ब्रह्म-वृत्ति मे ब्रह्म-ज्ञान होता है। ऐसी समाधि सिद्धो के लिए आनदानुभव की, तथा साधकों के लिए ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक होती है। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि चित्त को निवात दीप की तरह निश्चल करके निर्विकल्प भाव में निमग्न कर दृश्य-सबध के बिना आनद भोगने मे देश-काल की अनुकूलता बड़ी सहायक होती है। हिमालय के इन भूभागो मे मन को आसानी से समाहित कर देने की अतुलनीय सामर्थ्य विद्यमान है।

पास के गाँव के बूढे लोग साधुओं के दर्शन के लिए पर्णशाला मे आया करते थे, और काफल (काले रग का एक जगली फल), शहद आदि उपहार भी साथ लाते थे। यद्यपि ये पहाड़ी लोग नागरिक दृष्टि मे सभ्य नही थे, तथापि ईश्वर एव ईश्वर-प्राण साधुओं मे दृढ श्रद्धा की दृष्टि से वे बड़े ही सभ्य थे। शिक्षा-दीक्षा से हीन होते हुए भी वे सत्सगति की बातो मे बिलकुल अज्ञ थे।

इस प्रकार उस सुन्दर ऊँचे शिखर पर अथक उन्मेष तथा आनद के साथ हमने कुछ दिन बिताये। कभी-कभी शाम को घने जगलो के अन्दर अकेले विहार करते रहना मेरे लिए बड़ा विनोद था। इन्हीं दिनो बीच-बीच मे बड़ी वर्षा होने लगी। इसलिए मुझे लगा कि ऊपर की ओर यात्रा करने के लिए अब जरा भी देर नही करनी चाहिए। फिर भी राज सबध होने के कारण मैंने स्वच्छद रूप से उठकर चल देना उचित नही समझा। इसलिए मैंने और कुछ दिन वहाँ बिता दिये। फिर दो तीन हफ्तो के अन्दर, वहाँ से आठ दस मील दूर, चन्दननाथ मार्ग पर स्थित दूसरी एक राजधानी की ओर हम राज-परिवार के साथ रवाना हुए। उन दिनों अजीर्ण रोग के कारण मैं अस्वस्थ था। इसलिए राज-प्रार्थना से वहाँ के एक तरह के वाहन में ही मैंने यात्रा शुरू की। किंतु ऊँचे पहाड़ो के उतार-चढ़ाव मे वाहन उठानेवालो केलिए यह यात्रा कष्टकारी थी। अत: कुछ दूर पर ही मैं यह वाहन छोड़कर पैदल ही धीरे-धीरे चलने लगा। इस प्रकार नेपालगज से दूसरो की इच्छा से प्रेरित होकर मुझे कुछ दूर तक वाहन-यात्रा करनी पड़ी। राज-सबध राजसवृत्ति का ही उद्बोधक होता है। इसी कारण कुछ स्मृतिकारो ने इसे सन्यासियों के लिए

अनुचित समझा होगा। इसी प्रकार कठिन मार्ग को धीरे-धीरे पार कर शाम तक हम सब गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये। यहाँ हम कुछ दिन रहे।

आनन्दगिरि तथा चन्दननाथ तक मेरी सेवा-शुश्रूषा के लिए राजा की ओर से एक नौजवान नियुक्त था। मैंने एक दिन सवेरे उसी के साथ प्रस्थान किया। हम दोनों कई गंभीर पर्वतों एवं वनों को साहस के साथ धीरे-धीरे लाँघने लगे। उस मार्ग में जोंकों के काटने से हमारे दोनों पैर रक्त से रँगते रहे। उन घने वनान्तरों में जहाँ तहाँ हमें भैंसों का दूध और दही मिलता रहा, जोकि गर्मी के दिनों में—जलती हुई उस कड़ी धूप में—बड़ा ही आश्वासन-दायक था। हम दिन भर मार्ग चलते और रात में गाँवों में विश्राम करते थे। तीसरे दिन शाम का हम 'चाकुरिया' नामक एक भयानक पहाड़ के नितंब पर पहुँच गये। घनघोर विपिनों से आच्छन्न तथा रीछों-बाघों से भरे इस पहाड़ की पीठ पर हमने यहाँ के निवासियों के बीच किसी प्रकार वह रात बितायी, जो भुलाये नहीं भूल सकती।

वहाँ से सुबह जल्दी उठकर उस कठिन घाट को लाँघने लगे। ग्यारह बजे के पहले ही हमें उस घाट को पार करना था। प्रचण्ड हवा के झोंकों के कारण घाट से चलना बड़ा मुश्किल हो गया था। हम धीरे-धीरे पहाड़ पर चढ़ने लगे। तीन-चार घंटों में हम विकट तथा विशाल शिखर के ऊपर पहुँच गये। लगभग चौदह हजार फुट की ऊँचाई पर वर्तमान उस घाट का शिखर बड़ा ही आकर्षक दीख पड़ा। हिम की चट्टानें अभी पिघली नहीं थीं, इधर-उधर पड़ी थीं। इसी कारण घास और पौधे अभी नहीं पनपे थे। इसलिए वहाँ हरियाली का नामोनिशान तक न था। वह गिरि-शिखर नग्न दशा में ही स्थित था। उस ऊँचे घाट से चारों ओर, बहुत दूर तक उस दिव्य दर्शन को चलते बैठते, भोगते-भोगते आनंद से उन्मत्त हो हम आगे चलते गये, किन्तु वायु के झोंके प्रचंड रूप से चल रहे थे। इसी कारण हम बहुत ही धीरे चढ़ाई में लगे। इतने में एक उतार आया। यह भी चढ़ाई के ही समान भयानक था। "शनैः पर्वतलंघनम्" के न्याय पर अति विकट पहाड़ को भी धीरे-धीरे चलते हुए पार किया जा सकता है। इसलिए जरा भी अधीर हुए बिना दूसरे दोनों साथियों के साथ पहाड़ की तराई की ओर हम उतरने लगे। दो-तीन घंटों में ही हम नीचे पहुँचकर, समभूमि से फिर कुछ दूर आगे-बढ़ने पर, हरी घासों से ढँके एक विशाल मनोहर मैदान में पहुँच गये।

वहाँ घोड़े को चरानेवाले कुछ युवकों ने दूर से हम साधुओं को देखा

न रहे, किन्तु हम उसी दिन गाँव वापस आ गये।

कुछ दिन विप्र गृह मे विश्राम करने के बाद महन्त जी (पूजक स्वामीजी) तथा अन्य लोगों की बार-बार की प्रार्थना से मैं मंदिर में भी जाकर तीन-चार दिन रहा। इस मंदिर का खाना लगभग केरल के खाने के ही समान था। इसलिए यह मुझे बडा स्वादिष्ट लगा। भात, दाल, तरकारियाँ एवं दही—ये खाने की चीजे थी। मै उत्तर देश एवं हिमालय प्रदेशों मे गेहूँ आदि अनाजो के पकवान ही अधिकतर खाया करता था, तो भी चावल पैदा होने-वाले कुछ प्रदेशों मे पेट भर दोनो वक्त भात भी खा लेता था। इस प्रकार के भोज्य-पदार्थ मुझे बहुत पसन्द थे, फिर भी शरीर के ज्वर-ग्रस्त हो जाने के कारण मैं उसका आस्वादन करने मे असमर्थ रहा।

ईश्वर-चर्चा के रसिक एवं साधु-भक्त 'डीठ' महोदय प्रतिदिन सत्संगति की इच्छा से मेरे पास आया करते थे। प्रसंगवश उन्होंने मुझसे कहा कि कनक-कामिनी के संबंध से मुक्त, विरक्त, ब्रह्म चिंतन में लीन तथा परमहंस-प्रवृत्ति के श्रेष्ठ साधु लोग उन प्रदेशों मे बहुत कम ही आते हैं। शुक दत्तात्रेय के समान परमहंस साधुओं को श्रद्धा के साथ दर्शन करने और भक्ति के साथ पूजा करने के लिए वे हमेशा लालायित रहा करते थे। चन्दननाथ नामक उस ऋषि-भूमि मे उस समय जो साधु और गृहस्थ दिखायी पड़े, उनमे थोड़ी-बहुत ज्ञान-संस्कृति से युक्त यही एक व्यक्ति वहाँ के न्यायाधीश ही थे। नेपाल की राजधानी मे रहते समय मुझे ज्ञात हो गया था कि भारतवर्ष की उत्तरी सीमा नेपाल देश मे भी, दूसरे देशों की तरह अध्यात्म-साधकों मे ज्यादातर लोग यही विश्वास करते है कि अद्वैत ज्ञान ही एक तथा अंतिम मोक्ष-साधन है।

× × ×

यह तो सर्वविदित है कि 'अयमात्मा ब्रह्म,' तथा 'स यो ह वै तत् परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ये सिद्धान्त शंकराचार्य के दिग्विजय के बाद हमारी भारत-भूमि में सर्वत्र प्रचलित होगये हैं। काल गति के तीव्र आघातों से मोहित एवं मृतप्राय हो जानेवाले सनातन सिद्धांत अर्थात् सनातन धर्म को आचार्य लोग फिर से जीवित किया करते है। यदि घट की तरह कोई नया धर्म बनाया जाता है तो वह सनातन नहीं रहता। सनातन-दर्शन का सूर्य-मंडल कभी-कभी क्षणिक सिद्धान्तों के मेघ-जालों से आवृत्त होकर अप्रकाशित एवं प्रभावहीन हो जाता है, किन्तु तत्त्वदर्शी महात्माओं के प्रयत्न तथा प्रभाव से फिर पुनः प्रकाशमान हो जाता है।

सत्यों में भी परम सत्य अद्वैत धर्म जब प्रतिपक्षी धर्मों के पराक्रम से पीड़ित एवं दुर्बल होकर विषम दशा को प्राप्त हो गया था, तब श्री बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के द्वारा उसे विपत्ति से बचा लिया। द्वैतवाद को उन्होंने प्रबल रूप से कुण्ठित किया। श्री गौतम आदि शास्त्र-कर्त्ता आत्मज्ञान के सिवा अद्वैत-ज्ञान को नहीं मानते। गौतम की आत्मा निर्गुण शुद्ध चैतन्य नहीं है, इच्छा द्वेष, प्रयत्न आदि से युक्त एक जड़ वस्तु है। उनका तर्क है कि गुणों के द्वारा गुणी आत्मा अनुमान से सिद्ध है। मिथ्याज्ञान से पैदा होनेवाले दुःख का नाश ही मोक्ष है, किन्तु प्रमाण के साथ वेदव्यास का यह सिद्धान्त है कि आत्मा निर्विशेष एक एवं अद्वितीय चैतन्य वस्तु है, अद्वैत एवं ब्रह्मस्वरूप उस प्रत्यक् वस्तु का अपरोक्ष अनुभव ही कैवल्य का साधन है, तथा कैवल्य दुःख का ध्वंस नहीं, आनन्दघन स्वस्वरूप की प्राप्ति है।

यद्यपि व्यास के द्वारा प्रकाशित उक्त वेदान्त मत सनातन सत्य तथा आत्यंतिक श्रेय का स्वरूप है, तथापि गौतम आदि का मत भी बिल्कुल असत्य या व्यर्थ नहीं है। यह आपेक्षिक सत्य एवं आपेक्षिक श्रेयोरूप बन कर इस सम्पूर्ण जगत् में विराजमान है। आत्मसत्ता और ईश्वर-सत्ता को अनुमान के द्वारा अनुभव कराने में गौतम का कहा न्यायशास्त्र बड़ा ही उपयोगी होता है। श्रुति की महत्ता को न माननेवाले देहात्मवाद एवं शून्यवाद का श्रुति की सहायता के बिना केवल प्रबल युक्तियों से निःशेषतः खण्डन कर उन्होंने आत्मसत्ता तथा ईश्वर-सत्ता का समर्थन किया है। गौतम मुनि शरीर से अलग एक जीवात्मा तथा सब जीवात्माओं का आधार एक परमात्मा को मानते हैं। इसलिए देहात्मवाद और शून्यात्मवाद की अपेक्षा गौतम का जड़ात्मवाद अधिक सत्य एवं प्रशस्त है। गौतम के जड़ात्मवाद की अपेक्षा कपिल का चेतनात्मवाद सत्यतर तथा प्रशस्ततर है। कपिल तथा जैमिनी के निरीश्वरवाद से बढ़कर गौतम और पतंजलि का सेश्वरवाद सत्य एवं प्रशस्त है। जब यों विवेचन किया जाता है तब संसार के सभी दर्शन और धर्म परस्पर-समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार संसार के अनेकानेक दर्शन और धर्म-निरपेक्ष सत्य ब्रह्मदर्शन में—अर्थात् परम सत्य एवं सर्व-चराचर में पूर्ण परमात्मवस्तु का अपने हृदय में अपने ही रूप में साक्षात्कार करके मानव-जीवन को कृतार्थ बनाने में—एक मुमुक्षु की सहायता करते हैं। इसलिए ये सभी दर्शन त्याज्य नहीं हैं।

परन्तु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सभी द्वैत दर्शनों की समाप्ति अद्वैत दर्शन में होती है, अर्थात् ये उसमें समा जाते हैं। जीव, ईश्वर

तथा जगत् के रूप सभी द्वैत अद्वैत ही हैं । जब निरतिशय सत्य एवं सब के आधार अद्वैत की प्राप्ति होती है तो सभी द्वैत प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए इसमें सदेह नही कि द्वैत मे पड़े हुए भी घबराये बिना, अद्वैत में पहुँच क्रीड़ा करना ही परम पुरुषार्थ है। एक कहानी के द्वारा यहाँ निर्दिष्ट करना चाहता हूँ कि अद्वैत-प्राप्ति केसिवा द्वैत-प्राप्ति में सब की प्राप्ति स्वप्न में भी संभव नही है—

एक बार कुबेर के समान एक बड़े अमीर अपनी सारी सपत्ति वसीयत-नामे के द्वारा अपने सबसे प्यारे एक गुलाम के लिए दान करके ससार से कूच कर गये। पर वसीयतनामे मे उन्होंने यह भी लिख दिया था कि मेरी विपुल सपत्ति मे से मेरे पुत्र अपने लिए सबमे प्यारी और कीमती कोई एक-एक वस्तु ले सकते हैं। इस निर्देश के अनुसार हरएक पुत्र ने अपने लिए एक प्यारी कीमती वस्तु चुन ली । बड़े पुत्र ने राजमहल लिया। दूसरे पुत्र ने सुन्दर बगीचा चुन लिया। तीसरे ने रत्नो के जड़े मयूर सिंहासन को ले लिया। इस प्रकार हर एक ने एक-एक वस्तु चुन ली और तृप्त हो गया। इस प्रकार जब सब का चुनाव पूरा हुआ तो युवक और कृशगात्र उनके छोटे पुत्र ने उठकर कहा—"मैंने अपने पिता के इसी गुलाम को अपना धन स्वीकार किया है।" अन्तिम पुत्र की यह बात सुनकर वहाँ आये हुए न्यायाधीश और कर्मचारी दंग रह गये। उस लड़के की बुद्धि-कौशल की उन्होंने भूरि-भूरि सराहना की। दूसरे पुत्रों ने पिता की सपत्ति मे एक-एक कीमती वस्तु चुन ली थी, फिर भी गुलाम के पास कितनी ही बड़ी सपत्ति बाकी थी। कानून के अनुसार मालिक गुलाम की सपत्ति का भी मालिक होता है। इसलिए जब वह लड़का गुलाम का मालिक बना तो गुलाम की विशाल सपत्ति का भी अधिपति बन बैठा। जिसको पाने से सब प्राप्त होते हैं, उस मूल वस्तु को उस लड़के ने वर लिया और सब कुछ पा लिया।

●●

१४. खोचरनाथ

खोचरनाथ का वर्णन करने से पूर्व आज मेरी इच्छा है कि मैं उपनिषद् के एक प्रसग की चर्चा करू।

छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक मे जो आख्यायिका प्रस्तुत की गयी है उसे सब उपनिषदो का सार माना जा सकता है। सक्षेप मे वह आख्यायिका इस प्रकार है—

उद्दालक नामक एक महर्षि ने बारह वर्ष के श्वेतकेतु नामक अपने प्यारे पुत्र को यो आज्ञा दी, "रे श्वेतकेतु! तू जाकर गुरुकुल मे निवास कर। वेदाध्ययन पूरा करके ही यहाँ लौट आ। हमारे कुल का कोई भी व्यक्ति वेदाध्ययन किये बिना केवल नाम-मात्र के लिए ब्राह्मण नही रहा है।" पिता की आज्ञा पाकर श्वेतकेतु गुरुकुल मे जाकर रहा और वहा उसने बारह साल बिताकर सब वेदो का अर्थ-सहित अध्ययन कर लिया। जब वह घर लौटा तो उसे अपने अध्ययन पर बड़ा गर्व था। उसमे लेशमात्र भी नम्रता नही थी।

अभिमानी एवं स्तब्ध प्रकृति श्वेतकेतु को देखकर उसे उचित ज्ञान देने के उद्देश्य से उपोद्घात रूप मे उद्दालक ने यो प्रश्न आरभ किया—"हे श्वेतकेतु! इतने अभिमानी बनने के लिए कौन-सी श्रेष्ठ विद्या तूने अपने उपाध्याय से सीख ली है? एक मृत्-पिड को आँखो से देख लेने पर उसके विकार घट आदि भी देखे हुए से हो जाते हैं। क्योकि कारण से कार्य भिन्न नही होता। घट आदि मिट्टी के नाम-मात्र विकार है। अतः कारण रूपी मिट्टी ही सत्य है। वैसे ही जिस उपदेश (ब्रह्म) को पाने से यह सारा जग समझ में आ जाता है, क्या उस महान उपदेश को तूने अपने आचार्य से प्राप्त कर लिया?"

पिता का यह प्रश्न सुनकर श्वेतकेतु ने विनीत हो कर कहा, "पिताजी, जिस वस्तु के बारे मे आपने कहा, उसे मेरे उपाध्याय नहीं जानते। अगर जानते तो मुझ गुणवान् पर दया कर वे जरूर मुझे उसका उपदेश देते। इसलिए पिताजी! आप ही मुझे उसका उपदेश देने की कृपा करें।"

पिता बोले —'ऐसा ही हो ! तुझे उस वस्तु का उपदेश दूंगा। सावधानी के साथ सुनो।" इस प्रकार कहते हुए उद्दालक ने अपने पुत्र के लिए उस गहन और निगूढ आश्चर्य वस्तु को यों स्पष्ट किया—

—"प्रिय पुत्र श्वेतकेतु ! यह नामरूपात्मक जगत अपनी सृष्टि के पहले ब्रह्म-(परमात्म-) स्वरूप था। ब्रह्म सजातीय आदि भेदों से हीन अखंड सद्वस्तु है। कुछ लोगों का यह मत है कि यह जगत अपनी उत्पत्ति के पहले शून्य स्वरूप था और शून्य से इस जगत की उत्पत्ति हुई है, किन्तु यह मत ठीक नहीं है। असत् में सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? असत् से सत् पैदा होगा तो वन्ध्या स्त्री का पुत्र कई बच्चों का पिता बनेगा और मधुप आकाश-कुसुमों का मधु पीकर मदोन्मत्त हो जाएंगे। अतः शून्यवाद बिलकुल अप्रामाणिक है।"

—"माया शक्ति से युक्त उस परमात्मा ने जगत की सृष्टि करनी चाही और धीरे-धीरे आकाश, वायु तथा उसके बाद अग्नि, जल एवं पृथ्वी की सृष्टि की। इन पंचभूतों से रचनात्मक स्थूल जगत् की रचना भी की। परमात्मा ही जीव के रूप में सब शरीरों में प्रविष्ट हुए। वे आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक सब पदार्थों के कार्यभूत हैं। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता, इसलिए उनमें भूतों से भिन्न कोई वस्तु भाव में स्थित नहीं है। वस्तुतः ये सब नाम मात्र के लिए हैं, और इसलिए असत्य हैं, भूत ही सत्य है। किन्तु भूत केवल विकार-मात्र हैं। इसलिए उनके कारण से अभिन्न है और इसी हेतु कारण की अपेक्षा असत्य है। तू समझ ले कि यों इस भौतिकात्मक सारे जगत का मूल कारण, अर्थात् उपादान कारण एवं निमित्त कारण, सिर्फ परमात्मा है, और इसलिए केवल वही परमात्मा सत्य है तथा यह सारा जगत् नाम-मात्र के लिए वर्तमान विकार-मात्र है और इसलिए असत्य है।"

—"जैसे धागे से बद्ध पक्षी इधर-उधर उड़कर कहीं आश्रय पाये बिना अपने बंधन-स्थान की ही शरण लेता है, वैसे ही जीव भी जागृति एवं स्वप्नों में अपने कर्म के अनुसार नाना प्रकार के सुख, दुख आदि भोगकर कहीं विश्राम पाये बिना सद्वस्तु ब्रह्म की ही शरण में आता है। ऐसी सत्-संपत्ति ही जीव की निद्रा की दशा है। अभिप्राय है कि सुषुप्ति दशा में जीव जिस में एकता को प्राप्त होता है, वही जगत का उपादान सद्वस्तु प्रस्तुत ब्रह्म है।"

—"स्थावर और जंगम सभी पदार्थ इस ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं। स्थिति की दशा में ब्रह्म के आश्रय में जीते हैं। प्रलयकाल में इसी परमात्मा

में लीन हो जाते हैं। ऐसा ब्रह्म कितना सूक्ष्म है। वही तीनों कालों में भी एक-मात्र अमर सत्य वस्तु है। जैसे कल्पित घट के लिए मिट्टी स्वरूप है वैसे ही कल्पित जगत के लिए ब्रह्म स्वरूप है—तत्त्वमसि श्वेतकेतो! हे श्वेतकेतु वह तू है, अर्थात् तू वही है ब्रह्म है। वह ब्रह्म तुझे छोड और कोई नहीं है।"

—"भिन्न भिन्न स्थानों में स्थित भिन्न-भिन्न वृक्षों से रस-सचय करके मधु-मक्खियाँ मधु पी लेती हैं। जब वे रस मधु के रूप में एक भाव को प्राप्त हो जाते है तो फिर केले का रस आम का रस आदि का भेदभाव नहीं हो सकता। वैसे ही निद्रा, मृत्यु एवं प्रलय में प्राणी उस सत्स्वरूप ब्रह्म में प्रवेश करते हैं तो भी एकीभूत हो जाने के कारण वे नहीं जानते कि "मैं अब ब्रह्म में स्थित हूँ। सभी जीव प्रतिदिन सुषुप्ति में ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, फिर भी यह न जानने के कारण कि वह सुषुप्ति-स्थान ब्रह्म है और स्वय वही ब्रह्म है। मनुष्य, बाघ, सिंह, वराह, कीडा या मशक—ये जिस रूप में सोये, अर्थात् सत् को प्राप्त किया, उसी रूप में उसी वासना से भरकर, वे उससे जाग भी उठते है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! हे श्वेतकेतु! इस प्रकार निद्रा में अज्ञात रूप से प्रतिदिन प्राणी जिसको प्राप्त करते हैं वह ब्रह्म तू ही है। तुझे छोड वह ब्रह्म अलग नहीं हैं।"

—"गगा, गोदावरी, सिन्धु आदि भिन्न-भिन्न नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं और उससे एकता प्राप्त कर समुद्र रूप में हो जाती हैं। फिर उस एकभाव के कारण गगा, गोदावरी, और सिन्धु के नाम से वे नदियाँ अलग-अलग नहीं जानी जातीं। वैसे ही सभी जीव-जतु अखंड सत् को प्राप्त कर फिर उससे व्यवहार-भूमि में आ जाते है, फिर भी वे नहीं जानते कि हम सत् से ही आते हैं। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! हे श्वेतकेतु! वह सत् स्वरूप ब्रह्म तू ही है। तू वही ब्रह्म है।"

●

—"हे प्रिय पुत्र! इस मानव वृक्ष के मूल पर यदि कुल्हाड़ी चलाएं तो, यदि जीव हो तो, वहाँ से रस निकले बिना न रहेगा। बीच में कुल्हाड़ी चलाएं तो जीव के रहने पर वहाँ से भी रस निकलेगा। चोटी पर मारें तो भी सजीव होने पर, वहाँ से भी रस-प्रवाह होगा ही। यह बड़ा-सा पेड़ अब सर्वत्र जीव-चैतन्य से व्याप्त होकर मूल से जल आदि प्राप्त कर सानन्द वर्तमान हैं। लेकिन इस महान वृक्ष की किसी शाखा को जीव त्याग दे तो वह बिल्कुल

नीरस एवं शुष्क हो जाएगा। जो जो शाखाएं निर्जीव हो जाती हैं, वे सब सूख कर गिर जाती हैं। अतः सिद्ध होता है कि जीव-चैतन्य के अलग हो जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है। किन्तु शरीर के सिवा जीव-चैतन्य कभी नष्ट नहीं होता। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! हे श्वेतकेतु! वही जीव ब्रह्म है। वही ब्रह्म तू है। तू ही वह ब्रह्म है।"

—"श्वेतकेतु! वट वृक्ष का एक फल ले आ।

भगवन्! लीजिए, लाया हूँ।

उसे काट दे।

लीजिए काटा है।

उसके अन्दर तू क्या देखता है?

भगवन्! छोटे अणुरूप बीज।

एक बीज लेकर काट दे।

भगवन् काटा है।

उसके अन्दर तू क्या देखता है?

भगवन्! उसके अन्दर मैं कुछ नहीं देखता।

प्रिय पुत्र! तू जिसे प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, उतने ही अणुरूप इस बीज के अन्दर से उत्पन्न है महान, स्थूल और अनेक शाखाओं से सदा यह वृक्ष। वैसे ही अणुतर इन्द्रियों के लिए अगोचर सद्वस्तु से बड़ा ही महान् एवं सभी इन्द्रियों के लिए गोचर यह स्थूल प्रपंच उत्पन्न होता है। तू इस पर ध्यान दे। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! हे श्वेतकेतु, वही सद्वस्तु (ब्रह्म) तू है। तू वह सद्वस्तु है।"

●

—"श्वेतकेतु! इस लवण को एक घड़े के पानी में डाल रखो। रात बीतने पर, सुबह मेरे पास आना।" श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञा के अनुसार ही यह कार्य किया और अगले दिन सवेरे पिता के सामने पहुँच गया।

प्यारे श्वेतकेतु! तूने जो लवण जल में डाल रखा हैं उसे यहाँ लाओ।

पिता का आदेश पाकर श्वेतकेतु ने घड़े के जल में जाकर देखा, पर अब नमक को पृथक् देखा या ग्रहण नहीं किया जा सकता था।

वत्स! नमक उस जल में पिघल गया है। उस जल के ऊपर से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो।

पिता जी, जीभ पर रखी।

कैसा लगता है?

नमकीन लगता है।

बीच से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो।

जीभ पर रखी।

कौन-सा रस है?

नमक का रस है।

नीचे से एक बूंद लेकर जीभ पर रखो।

जीभ पर रखी हैं।

कौन-सा रस लगता है?

नमकीन लगता है।

हे प्रिय पुत्र! उस जल में लवण व्यापक रूप से स्थित है। किंतु उसे दर्शन या स्पर्श से नहीं समझ सकते। जीभ से ही वह ग्रहण किया जा सकता है। यद्यपि वह दर्शन एवं स्पर्श से नहीं समझा जा सकता है, तथापि दूसरे उपायों से स्पष्ट समझा जा सकता है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! सद्वस्तु एवं सर्वव्यापी वही ब्रह्म है तू। तू ही है वह ब्रह्म।"

●

गांधार देश के एक पुरुष को डाकुओं ने पकड़ लिया और आँखें बांधकर बहुत दूर एक विजन एवं विशाल वन में ले जाकर छोड़ दिया। वन के अन्दर पड़ा वह पूरब-दक्षिण को पहचाने बिना भयभीत हो गया और व्याकुल होकर ऊँची आवाज में दीनता के साथ विलाप करने लगा कि मुझे डाकुओं ने आँख बांध कर जंगल में लाकर छोड़ दिया है।

एक दयालु पथिक उसकी आर्तनाद सुनकर उस बन्दी के पास गया और उसकी आंखों का बंधन खोलकर उसे ठीक मार्ग पर लगा दिया और बताया कि गांधार देश कितनी दूर है और वहाँ पहुँचने का मार्ग कौन-सा है। उसके निर्देश को समझकर अनुमान-कुशल वह व्यक्ति दूर एक गांव में जाकर आगे का मार्ग पूछ कर जान लेता है और धीरे-धीरे गांधार देश में अपने घर पहुँच जाता है।

"यों, मोहरूपी पट से आवृत्त आँखों के साथ धर्माधर्म के डाकुओं के अनेक अनर्थों से भरे इस देह-रूपी वन में प्रविष्ट दुःखी पुरुष को देखकर कृपालु आचार्य उसकी आँखें खोलकर सच्चे मार्ग का उपदेश देते हैं। उपदेश-ग्रहण में पटु एवं विचार-निपुण वह पुरुष देह-रूपी वन से निकलकर धीरे-धीरे अपने घर उस सद्वस्तु में पहुँच जाता है। इसलिए समझ ले कि आचार्य का उपदेश सद्वस्तु को प्राप्त करने का मुख्य उपाय है। तत्त्वमसि श्वेत-केतो! वह सद्वस्तु तू ही है। तू ही वह सद्वस्तु है।"

•

"मुमूर्षु पुरुष के पास बंधु-बांधव जाकर बैठ गये और उससे पूछा कि क्या तू मुझे जानता है? कह दे कि मैं कौन हूँ? किन्तु जब तक शब्द मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परदेवता (सद्वस्तु) में लीन नहीं होते तब तक वह पास बैठे बंधुओं को जानता है। जब शब्द, मन आदि क्रमशः सद्वस्तु में विलीन हो चुके तब फिर वह किसी को नहीं जानता। यों, अविद्वान जिस क्रम से अपनी मृत्यु के समय सद्वस्तु को प्राप्त हो जाता है वैसे ही विद्वान भी इस शरीर में रहते हुए प्रारब्ध को भोगकर अन्ततः सद्वस्तु से एकत्व पा जाता है, अर्थात् विदेह, कैवल्य प्राप्त करता है। यद्यपि अविद्वान और विद्वान् दोनों के लिए सत्सपत्ति में कोई भेद नहीं होता, तथापि अविद्वान अविद्या, काम एवं कर्मों के कारण फिर से जन्म ग्रहण करता है और विद्वान पुनरावृत्ति से हीन होकर उसी सद्धाम में विराजता है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! हे श्वेतकेतो! वही सद्वस्तु तू है। तू ही वह सद्वस्तु है।"

"इसने चोरी की; इसने धन चुरा लिया—ऐसा कहते हुए राज-कर्मचारी एक के हाथ बाँध लेते हैं। वह अपराध स्वीकार नहीं करता, इसलिए यह परीक्षा करने के लिए कि वह चोर है या नहीं, प्रज्वलित परशु को उस के हाथों में देकर उससे पकड़वाते हैं। वह झूठ बोलता है तो उसका हाथ जल जाता है; यदि वह सत्यवादी हो तो उसका हाथ दग्ध नहीं होता। जलते हुए परशु तथा हथेली का संयोग यद्यपि सत्यवादी और असत्यवादी के लिए समान ही है, तथापि सत्यवादी की सत्य रक्षा करता है और असत्य असत्यवादी का भक्षण करता है। इस तरह शरीर के नष्ट होते समय विद्वान और अविद्वान दोनों के लिए सत्सपत्ति समान है, फिर भी सद्वस्तु ब्रह्म को अपने रूप में समझ लेने से विद्वान फिर शरीर को धारण नहीं करता।

अविद्वान् तो सत्यवस्तु को जाने बिना असत्य देह आदि में अभिमान करता है, जिसके फल-स्वरूप वह फिर भी शरीर धारण करता है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो! *वही सत् ब्रह्म तू है। तू ही वह ब्रह्म है।"*

"इस तरह नौ बार 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' का कई दृष्टांतों एवं उपपत्तियों के साथ उद्दालक का उद्दाम उपदेश सुनकर विचारवान होकर श्रेष्ठ अधिकारी श्वेतकेतु ने करतल-गत बिल्व के समान यह धारण कर लिया कि मैं देह आदि से भिन्न आत्मतत्त्व हूँ, यह आत्मतत्त्व ही सारे जगत का आधार ब्रह्म है, और इसके बाद उसने जीवन-मुक्त, कृतकृत्य एवं सुख-स्वरूप बन कर संसार में विहार किया।

●

प्राचीन महर्षियों की विचार-धारा ऐसी थी। इस प्रकार बड़े ही सूक्ष्म विचार से वस्तु का निर्णय कर वे सदा उसमें रमकर आनंदित होते थे। ऐसी *चिंता के बिना, केवल तपस्या, उपासना अथवा एकाग्र-स्थिति से वस्तु का* निर्णय या उससे होनेवाली निरतिशय शांति जरा भी नहीं हो सकती। कितनी ही तपस्या करो तो भी अहंकार नष्ट नहीं होता। विचार-जनित वस्तु-*निष्ठा में ही अहंकार समूल नष्ट हो जाता है। जब तक अहंकार नष्ट नहीं* होता तब तक अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति या शांति नहीं हो सकती। सभी अनर्थों का एक मात्र कारण अहंकार ही है। कीड़े-मकोड़ों से लेकर हिरण्यगर्भ *तक के सभी प्राणी इस अहंकार रूपी धागे से बंधे हुए हैं। प्रमातृ-प्रमाण-*प्रमेय रूपी इस जगत् का संचालन ही इस अहंकार के द्वारा होता है। इसी अहंकार को वेदांती अध्यास कहते हैं। 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः,' *इस का तात्पर्य यह है कि जो नहीं है, इसके होने की बुद्धि, अर्थात् जो आत्मा* नहीं हैं, उन देह आदि में आत्मा की बुद्धि अध्यास कहलाता है। वही अहंकार है। अहंकार ही संसार है। अहंकार की निवृत्ति ही मोक्ष है। अहंकार को *नष्ट कर आत्मनिष्ठ होकर सब चराचरों में आत्मा के, अर्थात् ईश्वर के,* दर्शन कर लेना ही मुक्ति का पद है। वैसा दर्शन करना ही धन्य एवं सर्वोत्तम जीवन है। यह केरलीय प्रसिद्ध गीत इसी ईश्वरीय जीवन की ओर संकेत करता है—

आनंद चिन्मय हरे! गोपिका-रमण!
ध्यानेन भावमिह तोन्नायुक वेणमिह

तोन्नुन्नताय्क्रिलखिलम् आनितेन्न वषि
तोन्नेणमे वरद ! नारायणाय नमः ।[1]

'अहं'-बुद्धि के अनंत सागर को पार करनेवाला किसी भी नाम-रूपात्मक वस्तु में सदा स्वात्मभूत परमात्मा को ही आँख भर देख कर आनंदित होता है। भक्तों में परम श्रेष्ठ कबीरदास जब एक दिन खाना खाने बैठे तो उनकी रोटी एक कुत्ता ले उधर जा खाने लगा। उन्होंने कहा कि "हे प्रभो ! यह सूखी रोटी तू कैसे खाएगा, ले, उस में यह घी भी लगाकर खा ले," और प्रेमपूर्वक रोटी में घी लगा दिया। कुत्ते के प्रति "हे प्रभो" के संबोधन की महिमा एवं मधुरिमा देख लीजिए।

इस प्रकार विचार के द्वारा वस्तु-निर्णय कर वस्तु-निष्ठा में अहंकार आदि अनर्थों को बिलकुल दूर कर मानव-जीवन को सफल बनाने के अनन्य साधन के रूप में ही वैदिक धर्म तथा बौद्ध धर्म ने चतुर्थाश्रम का विधान किया गया है। लेकिन काल-परिवर्तन के कारण ऐसा देखा जाता है कि आज के हिन्दू साधुओं के समान बौद्ध साधु लामा भी इस विचार-सरणी के पास पहुँचे बिना दूसरी विप्रकृष्ट एवं कुटिल सरणियों में भ्रमण करते फिरते हैं, और किसी भी सरणी में चले बिना वृक्ष का-सा जीवन व्यतीत करते हैं।

यों खोचरनाथ के लामा भी केवल तपस्या की निष्ठा में लगे थे, किंतु विचार-संबंधी श्रेष्ठ जीवन में अभ्यस्त नहीं दिखायी देते थे। फिर भी मुझे ऐसा लगा कि वृक्ष के समान आलसी जीव न बनकर निरंतर तपस्या में लगे हुए वे पूजनीय ही हैं।

× × ×

खोचरनाथ तिब्बत के मठों का एक ऐसा मुख्य स्थान है, जहाँ लगभग दो सौ लामा प्रायः सदा रहा करते हैं। खोचरनाथ कर्णाली नदी के बाएं किनारे पर स्थित है। यह नदी मानसरोवर के पश्चिम प्रान्त से निकल कर बहती हुई एक सुन्दर बालिका के समान दिखायी देती है। खोचरनाथ हिम से आच्छन्न धवल पर्वतमालाओं से आवृत्त है और दर्शकों के हृदय को अति आनंद

---

१ हे भगवान् ! मुझ में अहं की बुद्धि कभी न आए। यदि ऐसी बुद्धि आए तो उस अहं में सारा ब्रह्मांड ही समा जाए। अहंकार को बिलकुल नष्ट कर सर्वत्र समदर्शी रहने वाले, साक्षात् ईश्वरीय मूर्ति, मुक्त पुरुषों के पाद-पांसुओं ने प्रति शतशः' सहस्रशः नमस्कार।

प्रदान करता है। मठ से थोड़ी ही दूर एक सुन्दर गाँव है, जिसके आस-पास एक तरह की मूंग तथा कुछ अन्य अनाज की खेती होती है।

चन्दननाथ मे मैं ज्वर-पीडित रहा था। मुझे वहाँ विश्राम भी नही मिला था, बल्कि मुझे पर्याप्त श्रम करना पड़ा, किन्तु फिर भी मेरे मन मे कैलास-यात्रा का दृढ़ संकल्प तथा अदम्य उत्साह था। 'डीठा' आदि वहाँ के भक्तों ने मेरे शारीरिक स्वास्थ्य को देखते हुए और अधिक सत्संग की इच्छा से मुझसे कई बार प्रार्थना की थी कि ऊपर की ओर की यात्रा उस साल के लिए स्थगित कर दूं, किन्तु कैलास-दर्शन को मेरी इच्छा अति प्रबल थी, और मैने एक-दो सप्ताह मे ही चन्दननाथ से ऊपर की यात्रा आरम्भ कर दी।

आनन्दगिरि और दूसरा एक ब्राह्मण सेवक मेरे साथ थे। मधु और घी मिलाकर बनाया सत्तू वहाँ के लोगो के प्रेम की यादगार मे हमने पाथेय के रूप मे ले लिया था। एक भक्तप्रमुख 'डीठा' ने कुछ दूर तक भक्ति के साथ हमारी अनुयात्रा की; कुछ धन, अर्थात् नेपाल देश में प्रचलित कुछ मोहरें, राह-खर्च के लिये हमें दीं। धन के लोभ से नही, उनके प्रेम एवं उदार-बुद्धि के वशीभूत होकर मैंने उसे स्वीकार कर लिया और उसे धन्यवाद दिया। उनसे नियुक्त एक युवक कर्मचारी भी अगले गाँव तक एक दिन हमारी परिचर्या के लिए श्रद्धापूर्वक हमारे साथ चला।

इस मार्ग मे हिम-पूर्ण शिलाएँ मुझ अस्वस्थ के लिए अनेक बार बाधक बनीं। किन्तु ईश्वर की शरण मे, ईश्वर की ही सहायता मे, तनिक भी अधीर हुए बिना मैं धीरे-धीरे पहाड़ पर चढ़ने लगा। एक बड़े-से पहाड़ के चढ़ाव-उतार के बाद शाम के पहले हम एक गाँव मे जा पहुँचे। ग्रामीण लोगो ने हमारा स्वागत किया, हमे एक देवमंदिर मे ले जा कर हमारा आदर सत्कार किया तथा रात के भोजन के लिए वहाँ से प्राप्य अच्छे-अच्छे पदार्थ गाँव मे इकट्ठे करके हमारे सामने रख दिये। काठमाडु से यहाँ तक हम राज-सम्मानित रहे। इसी कारण एक राजपुरुष हमारे साथ रहा था। यहाँ से आगे यद्यपि ऐसा कोई व्यक्ति हमारे साथ नही था, फिर भी साधुओ मे अति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले नेपाल के ग्रामीण लोगों ने जरा भी उपेक्षा दिखाये बिना, आदर के साथ सर्वत्र हमारी सेवा की। हमने अधिकतर रातें मार्ग के पास के गावों मे बिना विशेष कष्टों के बितायी थी। किन्तु कभी-कभी कुछ गाँवो मे अप्रत्याशित रूप से कुछ कष्ट भी हुआ। हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण इस महा वन में हमे एक रात बितानी पड़ी थी। इस वन में रात्रि के समान घोर अन्धकार था। झिल्ली के झंकार से

मुसलमान था। हमने वहाँ भी लकड़ी इकट्ठी की और प्रचण्ड अग्नि जलाकर बड़े सावधानी के साथ जागते हुए वह रात बिता दी थी। वह रात भुलाये भी नहीं भूलती।

इस प्रकार देवप्रयाग आदि अनेक परिचित एवं अन्य अपरिचित दिव्य स्थानों, कई प्रकार की नदियों तथा कई हिम-गुफाओं से भरे घने वनान्तरों और बीच-बीच में कई पवित्र गाँवों के दर्शन करते हुए प्रतिदिन यात्रा करते रहे। पवित्र एवं अनन्त महिमामय होने तथा पवित्रात्मा पर्वतीय लोगों से आबाद होने के कारण ही मैंने इन गाँवों के लिए 'पवित्र' विशेषण का प्रयोग किया है। किन्तु स्वच्छता के दृष्टि से तो ये गाँव 'बिल्कुल गन्दे' कहने योग्य हैं। हिमालय के ग्रामीण यद्यपि बाहरी रूप से अस्वच्छ दिखायी देते हैं, तथापि आन्तरिक रूप से वे शुद्धात्मा हैं। वहाँ के पर्वतीय लोग बिल्कुल अशिक्षित एवं दरिद्र-नारायण हैं और उनमें शारीरिक शुद्धि, वस्त्र-शुद्धि, गृह-शुद्धि आदि बाहरी शुद्धि बिल्कुल नहीं होती। उनके तन मिट्टी एवं स्याही से भी अधिक मलिन थे, वे कई दिनों तक नहाते नहीं थे। उनके कपड़े और घर देखनेवालों के मन में घृणा उत्पन्न करते थे। फिर भी छल, कपट, असत्य, अधर्म, अश्रद्धा, असन्तोष, भोगलालसा, असमता आदि अवगुण उनके पास तक फटकने भी नहीं पाये हैं। वे सत्संग से शून्य थे, फिर भी न जाने ऐसे उदात्त गुण उनमें कहाँ से आ गये थे। वस्तुतः वे प्राकृतिक रूप से ही शुद्ध थे। उनका सम्पर्क नागरिकों से हुआ ही नहीं था—तभी वे निश्छल थे। उनके जीवन का यह पक्ष निःसंदेह अनुकरणीय है। उन्हें रास्ते में यदि कहीं कोई बर्तन या कपड़ा पड़ा दीखता है तो, चाहे वे कितने ही दरिद्र क्यों न हों, कई दिनों के बीत जाने पर भी वे उसे हाथ से छूते तक नहीं। किन्तु उनकी यह विलक्षण शुद्ध-प्रकृति कभी-कभी सीमा को इतनी लाँघ जाती है कि उन्हें मूर्ख या कायर कहना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त इनकी अपने देवता में अनन्य भक्ति है। इसी कारण भी इन्हें शुद्धात्मा कहना गलत न होगा। देव-पूजा के विषय में इनकी तुलना तमिल देश में कण्णप्प भक्त के नाम से प्रसिद्ध तिण्ण से की जा सकती है जो गण्डूष जल तथा पत्ते से ढँककर आग में डाल कर बीच-बीच में रुचिपूर्वक चाट-चाट कर चखते हुए—पकाये मृग-माँस से महादेव की पूजा किया करता था। ये लोग मलिन शरीर और मलिन वस्त्रों के साथ बकरों को काट कर मन्दिर

को रक्तमय बनाकर अपने जूठे खाने को निवेद्य के रूप में देवता के सामने रख जो पूजा करते हैं वह मलिन ही कही जा सकती है।

हिमालय के ये लोग क्षुद्र देवताओं की ही नहीं, साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान की भी मांस के निवेद्य से पूजा करते हैं। कैलास-दर्शन के बाद लौटते समय मैं भाद्रपद की श्रीकृष्णाष्टमी के दिन तिब्बत के नीचे 'गरब्याग' नामक एक गाँव में आ गया था। ऐसा शायद ही कोई हिन्दू हो जो श्रीकृष्ण भगवान के इस पवित्र जन्मदिन का स्मरण और आदर न करता हो। वहाँ की पाठशाला के अध्यापक एक बूढ़े कुलीन ब्राह्मण ने रात को एक बजे मेरे शयन-स्थल पर आकर मुझे निमन्त्रण दिया कि मैं थोड़ा सा श्रीकृष्ण-प्रसाद लेने के लिए पूजा-स्थान की ओर आ जाऊँ। मैं वहाँ गया तो उन्होंने मुझे एक ओर बिठा दिया और भगवान के सामने निवेदित कई चीजें परोसने लगे। यह कहते हुए कि "क्या स्वामीजी मांस खाएंगे? मांस भी भगवान के लिए निवेदित है," एक बर्तन में मांस लेकर वे मेरे पास आये। मैंने मुस्कराते हुए उसे लेने से इन्कार कर दिया। शिव! शिव! कितने ही अन्ध विश्वासों ने इस आर्य-भूमि में जड़ पकड़ रखी है। दिन भर गायें चराते हुए केवल दूध-मक्खन पर शरीर पालनेवाले प्रेमनिधि जगत्पिता श्रीकृष्णचन्द्र ने क्या किसी से यह कहा था कि बकरे का मांस खाने पर ही पेट भरेगा? क्या देवी-देवताओं ने किसी को यह आज्ञा दी कि बकरे-भैंस का रक्त पीने पर ही अन्दर की प्यास बुझेगी? अहो कितने विचित्र अन्ध-विश्वास हैं ये!

यद्यपि पहाड़ी लोगों की यह देव-पूजा यों बाहरी दृष्टि में बड़ी ही मलिन है, तथापि शुद्ध मानसिक भाव से करने के कारण इसे आन्तरिक दृष्टि से से निर्मल कहना अनुचित नहीं है। उनका दृढ़ विश्वास है कि प्राणी हिंसा एवं रक्त-धारा के बिना देवता का प्रसाद नहीं मिलेगा, और यही विश्वास ही उन्हें ऐसे तामस-पूजा-कर्म के लिए प्रेरणा देता है। ईश्वर के पास पहुँचने के न जाने कितने शुद्ध एवं सरल सुमार्ग हैं उन्हें जाने बिना कुत्सित तथा कुटिल कुमार्गों पर चलनेवाले इन मनुष्यों पर समझदार लोगों को फिर भी क्रोध नहीं आता।

निरंतर होनेवाली वर्षा से कई कठिनाइयों को झेलते तथा महान् पहाड़ों के दिव्य दर्शन से आनंद उठाते पाँच-छः दिन के प्रयाण के बाद मैं 'धीमकोट' नामक एक मुख्य स्थान पर पहुँच गया। चन्दननाथ के 'ठोठा' से हमारे आने की सूचना पाकर वहाँ के 'ठोठा' ने भी हमारा सत्कार किया, इसलिए वहाँ का निवास हमारे लिए अत्यन्त विश्रामजनक रहा। न्यायाधीश

ब्राह्मण युवक थे और बड़े धार्मिक एवं शास्त्रज्ञ थे। एक ब्राह्मण के ही समान वे बड़े तेजस्वी पुरुष भी थे। वहाँ के निवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय और अति शूद्र कहलानेवाली नीच जाति के लोग थे। इन सब लोगों के वेश अति मलिन थे। इसी कारण किसी की जाति पहचानना कठिन था। यहाँ तक कि विशेष रूप से समझाये बिना साधारणतया किसी ब्राह्मण को भी पहचानना सरल नहीं था। फिर भी कभी-कभी जब ब्रह्मतेज से युक्त कोई व्यक्ति मिल जाता था तो मेरा मन बहुत खुश होता था।

•

इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण-गुण ही ब्राह्मभाव के लिए आवश्यक है। इस के बिना किसी को ब्राह्मण कहना निरर्थक है। अन्दर और बाहर की कालिमावाला कोई शरीर ब्राह्मणत्व के लिए कैसे अधिकारी हो सकता है? 'शमो दमस्तपः शौच:' आदि कर्म किये बिना जन्म सिद्ध धर्मविभाग भला कैसे सनातन, सर्व-सम्मत तथा सभी के लिए आदर का पात्र बन सकता है? यह ठीक है कि पितृ पितामहों की परम्परा से एक पुत्र को कई शुभाशुभ संस्कार मिल जाते हैं, इसलिए जाति-महिमा को बिल्कुल त्याज्य नहीं समझना चाहिए। फिर भी इस मूल तत्त्व को कोई न भूले कि गुणों के द्वारा ही जाति को यह महिमा प्राप्त हुई है। यदि ब्राह्मण-कुल में जन्मा कोई श्रेष्ठ व्यक्ति हो तो यह एक तथ्य है कि इस कुल में जन्म लेने का फल ब्राह्मण-गुणों की सम्पत्ति है तथा यही सम्पत्ति ही उसकी श्रेष्ठता का मुख्य कारण है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचार करना चाहिए कि जन्म लेनेवाले को जन्म का फल मिला है या नहीं। अपने-अपने कुलों के गुणों के सम्पत्ति-फल के बिना सिर्फ जन्म से ही कोई ब्राह्मण या चंडाल कहलाता है तो ब्राह्मण शब्द और चंडाल शब्द ऐसे रूढ़ि-शब्द बन जाएंगे जैसे किसी काली-कलूटी कन्या को गौरी या किसी विरूपता की मूर्ति बालिका को सुन्दरी का नाम देकर पुकारते हों तथा उनके अर्थ जाननेवाले विद्वान के लिए ऐसा प्रयोग परिहास का विषय बन जाएगा। यदि किसी ब्राह्मण में गुण दिखायी पड़ते हैं तो वह श्रेष्ठ है; वैसे ही किसी चंडाल में चंडाल-गुण दीखते हैं तो वह नीच है। इसके विपरीत एक ब्राह्मण में चंडाल-गुण और एक चंडाल में ब्राह्मण-गुण दीखते हैं तो फिर जाति को मुख्यता देकर उसके अनुसार उनकी उच्चता नीचता का निर्णय करने के लिए विचारशीलों का मन तैयार नहीं होगा।

●

इस प्रकार एक उत्तम संस्कृति के सच्चे ब्राह्मण 'दीठा' की देखरेख एवं सत्कार में वहाँ सीमकोट गाँव के एक खाली घर में दो-एक दिन विश्राम करने के बाद वहाँ से ऊपर की ओर मैंने यात्रा शुरू की। चन्दननाथ से खोचरनाथ लगभग सौ डेढ सौ मील के अन्तर पर स्थित है। हमें आधा रास्ता अभी और गंभीर शिलोच्चयों को पार करते हुए जाना था, जिसमें पाँच-छः दिन लगने थे। घनघोर घटाएँ उमड-घुमड कर लगातार पानी बरसाने लगीं, मानो आकाश अतर्कित महिमा के साथ श्रावण महीने का स्वागत कर रहा हो। जो भी हो, वर्षा और गर्मी में समान रूप से कष्टों की परवाह किये बिना हम चलते चले गये। रास्ते में नदियों पर बने लकडी और रस्सी के पुल भी आये जो शिथिल थे, तथा पैर रखने पर हिल-डुलकर विपत्ति की उद्घोषणा कर देते थे। इन्हें भी पार करते गये। जहाँ नहीं बिना पुलों की नदियों में उतर कर उन्हें लाँघते गये। मार्ग में आये गाँवों में जाकर हम अन्न इकट्ठा करके पकाकर खाते और विश्राम करते, और फिर अपनी यात्रा रूपी महा तपस्या को बेरोक आगे चलाते रहे। प्रकृति के द्वारा सर्वत्र शोभित परमात्मा की महिमा एवं सुन्दरता को देख-देख मेरा मन एक विलक्षण और दिव्य आनंद-पद पर सदा विहार करता रहता था। इसलिए मदिरा से उन्मत्त मनुष्य के समान मुझे यात्रा-संबंधी कष्ट अधिक नहीं सताते थे।

ऊपर की ओर जाते हुए पहाड़ की उन्नति के साथ-साथ शीत की असहनीयता भी बढ़ती गयी। 'शिला-नदियाँ' भी रास्ते में आयीं, जिन का जल इतना शीतल था कि क्षण भर में शरीर के अवयवों को पत्थर के समान स्तब्ध बना देता था। हमारे देश केरल में बूढ़े लोग ऐसी नदियों का ही 'पाषाणी नदियों' के रूप में अतिशयोक्ति के साथ वर्णन करते हैं। काशी आदि उत्तर प्रदेश के पुण्य क्षेत्रों की यात्रा करके लौटनेवाले बूढ़ों के द्वारा प्रचलित इन पाषाणी नदियों की अत्युक्ति-भरी अद्भुत कहानियाँ अपने देश में अपने बाल्यकाल में सुनने का सौभाग्य मुझे कभी-कभी मिला था। मैं मनोराज्य में जिन अद्भुत नदियों को स्वप्न की तरह देखता था उन्हें आज ईश्वर-रचित बाहरी राज्य में प्रत्यक्ष देख रहा था। तिब्बत देश में एक कहावत है कि "अंगारे हाथ से तथा पानी दस्त-पनाह से लेना चाहिए।" मालूम होता है कि वहाँ अग्नि के स्पर्श से जल का स्पर्श पीड़ा-जनक हो जाने

नामक गो-विशेष अधिक संख्या में विचरते एवं घास चरते दिखायी पड़े।

तीन बजे से पहले हम घाट की उच्च सीमा पर पहुँच गये। अहा! कितना मनोहारी दर्शन है। ऐसे दिव्य दर्शनों का कैसे वर्णन करूं? सारा घाट की उस उच्च सीमा से पश्चिम दिशा की ओर देखें तो वहाँ का दृश्य इतना आकर्षक है कि हम मनुष्य-लोक से दूसरे एक दिव्य लोक में पहुँच जाते हैं। रजत-शैलों के समान धवल, दीप्यमान कई हिम शिखरों की पंक्तियों तथा उसकी असीम कान्ति को वाणी का विषय बनाना असम्भव ही है। निस्सन्देह मधु की मधुरिमा के समान कई विशेष वस्तुएँ इस संसार में हैं जो वाणी का *विषय न बनकर केवल अनुभूति का विषय बनती है। ऐसे अवर्णनीय पदार्थों* में इस प्रकार की धवल, प्रौढ़ एवं उन्नत गिरि-मालाओं की सुषमा भी गणनीय है। ये हेमकूट सूर्य की किरणों के पड़ने पर दस गुने प्रकाशमान हो गये थे। इनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य ने मुझे उस घाट पर ही रोक लिया। ऐसा अनु*मान है कि बदरीनाथ के निकट का चौखंबा शिखर और उसके पश्चिम में* स्थित सुमेरु, केदारनाथ आदि ऊँचे शिखर यहाँ दीखनेवाली हिमकूट-परंपरा के अन्तर्गत होंगे।

यारीघाट एक मैदानी भूमि थी, जो वृक्ष, लता-गुल्मों से ढकी हुई नहीं थी। इसी कारण इस पर सदा सूर्य-किरणें पड़ती रहती थीं। उन दिनों सारा हिम पिघल चुका था और हमें घाट को पार करने में हिम की बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। घाट की सीमा पर कठिन उतार शुरू हुआ। पहाड़ों *पर यात्रा करने वालों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि चढ़ाई की अपेक्षा उतार ज्यादा खतरनाक होता है। उस विकट अवरोहण-मार्ग को धीरे-*धीरे कई घण्टों में पार करके हम नीचे मनोहारी रूप में बहनेवाली 'कर्णाली' नामक छोटी सरिता के किनारे पहुँच गये। फिर पहाड़ के नीचे के भयानक एवं तंग मार्ग से कर्णाली के किनारे-किनारे हम आगे चलने लगे।

अब हम तिब्बत भूमि में ही चल रहे थे। घाट की उच्च सीमा पर उस पार तिब्बत और इस पार नेपाल के रूप में विभाजन किया गया है। तिब्बत भूमि में इस मार्ग पर हमें जो स्थान पहले मिल जाता है, वह खोचरनाथ है। शाम हो गयी है। दिन-भर आवश्यक अन्न-पान आदि के बिना कठिन पहाड़ के चढ़ाव-उतार के कारण थके-मांदे हम फिर आगे कदम रखने में असमर्थ हो चुके हैं। इतना ही नहीं; हमारे परिचारक ब्राह्मण जो हमारे साथ असमर्थ होकर दूसरे कुछ साधुओं के साथ पीछे रह गये थे।

कपड़े, सत्त् आदि आवश्यक चीजें उनके पास थी, इसलिए उन्हे छोड़कर केवल हमारा—मेरा और आनन्दगिरि का—आगे बढ़ना अनुचित भी लगता था। इसी कारण आगे बढ़ना यद्यपि बिल्कुल ठीक नहीं था, तथापि रात बिताने योग्य कोई स्थान मार्ग में नहीं दिखायी पड़ा, इसलिए फिर भी आगे बढ़ने के लिए हम मजबूर हो गये। सध्या बीत गयी और रात शुरू हुई। अतः प्राण-रक्षा के लिए हम दौड़ते हुए चले और थोड़ी ही देर में कर्णाली नदी का लकड़ी का पुल पार करके हम उस पार, विपत्ति के सहायक उस कैलासपति की कृपा से खोचरनाथ मठ मे किसी प्रकार पहुँच गये।

खोचरनाथ नामक लामाओं का यह मठ बहुत विशाल एवं सुन्दर दीख पड़ा। हम शीघ्र ही सीधे अन्दर प्रविष्ट हुए। मोटे ऊनी कपड़ों के बने विभिन्न रंगों मे रंगे विशेष आसनो पर दो पक्तियो मे आमने-सामने बैठकर पाठ करने वाले लामाओं के पास हम पहुँच गये। रमणीय रूप से अलंकृत विशाल मदिर मे भगवान बुद्ध की एक बड़ी-सी मूर्ति के सामने वे भजन कर रहे थे। बुद्ध-मूर्ति के भक्तिपूर्वक दर्शन कर लामाओं के आदेश के अनुसार उनकी पक्ति में ही एक आसन पर मैं भी बैठ गया। बुद्ध की मूर्ति जैसी कई मूर्तियो के दर्शन एव लामाओं के कुतूहल-दायक पाठ मे मन सलग्न हो गया, और भूख-प्यास से पीडित थका-मादा मैं सब दु खों को भूलकर समाहित भाव में देर तक वहाँ बैठा रहा। इसी बीच लामा लोगों ने कुशल-प्रश्न किया तथा चाय आदि देकर हमे आश्वासन दिया। मठ के बाहर एक खाली घर मे कपड़े आदि के अभाव से बड़े कष्ट के साथ उस ठण्डी रात को बिताना पड़ा।

रात में तथा अगले दिन लामाओ की सहायता से मठ के अन्दर कई स्थानो और देवमूर्तियो के हमने दर्शन किये। कुछ लामाओं से, जिन्हे हिन्दी भाषा का थोड़ा-सा ज्ञान था, वहाँ प्रतिष्ठित कई देवताओं की ऐतिहासिक बातों को भी मैंने जान लिया। उन तपोनिधि लामाओ के उपरत, शांत एवं त्यागमय जीवन के बारे मे मेरे मन मे बड़ा आदर हुआ। यों विषय से विरक्त होकर, लोक-व्यापारो से बिल्कुल अनभिज्ञ होकर तथा एकात-वासी होकर तपस्या या तत्त्वचिंतन मे एकनिष्ठ रहनेवाले महात्मा लोग यद्यपि सामान्य जनो की दृष्टि में मूर्ख होते है तथापि विवेकी लोगो की दृष्टि मे वे परम विवेकी, सफल-जीवन-सम्पन्न और बड़े भाग्यवान होते है।

●

एक बार उत्तरकाशी मे अध्यात्म-जीवन में अनन्य श्रद्धा रखने वाले एक पाश्चात्य पडित अपनी पत्नी के साथ मेरे पास विनयपूर्वक आकर बैठ गये थे। और धार्मिक, आध्यात्मिक आदि अनेक विषयोपर उन्होने चर्चा की थी। उनकी कही बातो का साराश इस प्रकार है —

"भारत की ओर मेरे रवाना होने के उद्दश्यो मे मुख्य उद्देश्य था ससार मे प्रसिद्ध हिमालय का भ्रमण तथा वहाँ के महात्माओ के दर्शन। आध्यात्मिक जीवन मे पूर्वी देशो के लोगों का स्थान कितना ही ऊँचा है। उनकी आध्यात्मिक सपत्ति के सामने हम बहुत ही तुच्छ हैं। हमारे देश मे शकर आदि दार्शनिको के दर्शन मे बडी श्रद्धा है। हमारे देश के विवेकशील पडित एकमत मे कहा करते हैं कि पूर्वी देश के लोग गहराई मे पडे आध्यात्म-रत्नो को ढूँढ निकालने वाले सच्चे तपस्वी हैं। *इसके विपरीत पश्चिमी देश के लोग तो आज भी गहराई* में जाने का उत्साह किये बिना केवल समुद्र के ऊपर ही तैरते हुए स्थूल-बुद्धि हैं। फिर भी यदि कुछ लोग आध्यात्मिक जीवन की महिमा या पूर्वी लोगो की प्राचीन आध्यात्मिक सपत्ति को जाने बिना यह कहते फिरें कि पूर्वी *लोग व्यर्थ जीवन बितानेवाले असभ्य लोग हैं तो इन बातो मे रखा ही क्या है?*

अस्तु! निस्सन्देह सासारिक से विषयो मे विरक्त ये लामा लोग अति धन्य हैं। इनकी महिमा धन्य है।

●●

१४. मानस और कैलास

चेतनवादी प्राचीन ऋषि मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानकर, अर्थात् परम पुरुषार्थ समझकर, सभी शास्त्र तथा शास्त्र-ज्ञान को उससे जोड़ देते थे, अर्थात् उसकी परम्परा मे विश्वास रखते थे। अनात्म-पदार्थों की खोज तथा उसके फल-स्वरूप धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, वैद्यशास्त्र, शब्दशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि शास्त्रीय पद्धतियो को सत्य वस्तु की प्राप्ति रूप मोक्ष के सहायक ही वे मानते थे, न कि स्वतन्त्र-फल-दायक। आज के जड़वादी तो सभी विद्याओं और आविष्कारो को केवल विषय-भोग रूप पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए काम मे लाते है, पर वे तो 'भोग' शब्द से भी घृणा करते थे। उनका प्रबल सिद्धात था कि स्वच्छन्द विषय-भोग सिर्फ पशुओ के लायक हैं, न कि मनुष्यों के लिए। आनन्द-स्वरूप ईश्वर को छोड़ दु:खपूर्ण तथा दृष्ट-नष्ट स्वभाव की अनात्म वस्तुओं मे उन्हे प्रेम या रति नही होती थी।

किंतु भारत माता के दुर्भाग्य की यह घटना भी यहाँ नही भुलायी जा सकती कि पश्चिमी देशो के आज के भौतिकवादियों के समान ही प्राचीन काल मे भी, बृहस्पति आदि देहात्मवादियो को देह मे भिन्न कोई आत्मा कितनी ही खोज करने पर भी नही मिली और कितना ही विचार करने पर भी प्राप्त नही हुई, और वे अनात्मविषयो मे रमकर आनद करने लगे और दूसरो को उपदेश देने लगे कि भोग ही परम पुरुषार्थ है। जैसे पान, सुपारी, चूना आदि वस्तुओं के सयोग से नशा पैदा होता है, वैसे ही सासारिक जड़ वस्तुओं के संयोग मे जन्म लेनेवाली है—चेतना-शक्ति—ऐसा विवाद करने वाले देहात्मवादियो की बुद्धि को दूर से नमस्कार करने के साथ-साथ यह भी कह देता हूँ कि उनका यह वाद ससार के लिए बड़ा ही अनर्थकारी है और वे ससार के परम शत्रु हैं।

•

जब यह सुना जाता है कि जड से चैतन्य पैदा होता है तो प्रौढ-बुद्धि विद्वानो के चेहरो पर पहले एक मुस्कान फैल जाती है। उस जड़वादी

को, जो यह कहता है कि शरीर के आकार में परिणाम पाये, अर्थात् संयुक्त, जड़-पदार्थों से ही चैतन्य शक्ति पैदा होती है, तथा यों द्रव्य-संयोग से उत्पन्न शक्ति ही देह, इन्द्रिय आदि को चलाती है, उलटे, द्रव्य से भिन्न किसी नित्य चैतन्य को मानने की जरूरत ही नहीं है तो इस प्रश्न का उत्तर यह देना पड़ता है कि पहले शरीर के रूप में जड द्रव्यों का संकलन करनेवाली शक्ति कौन-सी है ? मतलब यह है कि संकलन के बाद ही चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति होती है तो संकलन के लिए हेतुभूत शक्ति कौन है ? जड़ पदार्थ अपने से भिन्न किसी चेतन वस्तु के सम्बन्ध के बिना कार्य रूप में परिणत होगा तो इसमें कोई तर्क नहीं हो सकता कि जड़ मिट्टी कुम्हार के व्यापार के बिना स्वयं पिंडाकार होकर फिर कपाल एवं घट के रूप में परिणत होगी। ऐसा संसार में नहीं दिखायी देता। इतना ही नहीं, यह तर्क करना कि जड़ वस्तु पृथ्वी आदि के संयोग से उसमें से चेतन वस्तु का जन्म होता है, यह सभी प्रमाणों के विरुद्ध है—जैसे कोई तर्क करता हो कि घने अंधकार से प्रकाश पैदा होता है।

पुराने शास्त्र-ग्रंथों से समझा जा सकता है कि इस प्रकार शरीर को आत्मा समझने की भ्रांति हमारे देश में भी प्राचीन काल में प्रचलित थी। लेकिन अधिकतर लोग इस आत्मवाद के पक्ष में नहीं थे, और देह से भिन्न एक नित्य आत्मा को नहीं मानते थे, फिर भी कुछ लोगों ने आत्मा को जड़ वस्तु एवं दूसरे लोगों ने इसे जड़-चेतन-स्वरूप माना था। कणाद, गौतम, प्रभाकर और उनके अनुयायियों का तर्क था कि आत्मा आकाश के समान जड़ वस्तु है तथा जैसे शब्द आकाश का गुण है, वैसे ही ज्ञान आत्मा का गुण है। मीमांसकों में भट्ट आदि ने श्रुति के प्रमाणों से यह सिद्ध किया था कि आत्मा को घट के समान जड़-वस्तु समझने की कल्पना अप्रामाणिक है और आत्मा जुगनू के समान जड़ाजड़ स्वरूप है। कपिल प्रभृति का यह कहना था कि निरंश आत्मवस्तु में जड़ता एवं चैतन्य दो वस्तुओं की कल्पना करना उचित नहीं है और इस-लिए आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। बंध और मोक्ष की व्यवस्था के लिए वे हर शरीर में भिन्न-भिन्न दो आत्माओं को मान लेते थे। किंतु द्वैपायन, शंकर आदि वेदांतियों का सिद्धांत था कि आत्मचिद्रूप ही नहीं होता, चिदानंद-स्वरूप भी है, तथा सब शरीरों में भिन्न-भिन्न लगनेवाली आत्म-वस्तु सचमुच दो नहीं एक है।

इस प्रकार आत्म-सत्ता का प्रबल प्रतिपादन करने वाले अनेक दर्शनों के विकास से यद्यपि भारतवर्ष में पुरातन काल में भौतिकवाद नष्टप्राय हो गया

था, तो भी समाज का भला चाहनेवाले विचारवान लोगों के लिए यह अत्यधिक खेद का विषय है कि अब पाश्चात्य देशों में तथा उसके संपर्क में फिर से भारतवर्ष में भौतिकवाद सिर उठाने लगा है। जन्म, स्थिति, नाश आदि संसार के सब व्यवहार, ईश्वर के बिना प्राकृतिक नियम के अनुसार चलते रहते हैं। काल की लंबी गति में प्रकृति के परिणाम के द्वारा ही चराचर भूतवर्गों का भिन्न-भिन्न आकृति में संसार में आविर्भाव होता है। इसके सिवा जगत के आरंभ में कोई ईश्वर भिन्न-भिन्न जाति में चराचर भूतों की सृष्टि नहीं करता। चित्त के विकारों एवं प्रकृति की प्रेरणाओं का दमन करके आत्म-संयम के साथ धार्मिक जीवन बिताने का उपदेश देनेवाले धर्म-संचालकों की अभिलाषा असंगत है और पशुओं के समान मनुष्य के लिए भी प्रकृति पर विजय असंभव है। यदि यह सिद्ध भी हो जाए कि जगत् का स्रष्टा कोई ईश्वर है तो भी इस अनुमान के लिए कोई न्याय नहीं है कि असंख्य सूर्य आदि ग्रहों के अति विशाल एवं अनंत ब्रह्माण्ड अणुप्राय तुच्छ रूप से विद्यमान एक मनुष्य का उस ईश्वर से कोई संबंध है—यों प्रकृति तत्त्व के निरूपकों तथा वैज्ञानिक शास्त्र विशारदों ने पाश्चात्य देशों में जिन विभिन्न मतों का प्रचार किया है, उन सबकी प्रतिध्वनि हमारे देश में भी आये बिना नहीं रहती। लेकिन यदि सत्य हमेशा सत्य है और असत्य सदा असत्य है तो ऐसे असत्य एवं मधुरतर नास्तिकवादों से किसी को डरने की कोई जरूरत नहीं है। आने जाने वाली असत्य की लहरें सत्य की चट्टान को चकनाचूर करने में भला कैसे समर्थ हो सकती हैं?

●

सत्य होकर, शरीर की इन्द्रियों एवं मन को चैतन्य देते हुए, आकाश के समान सब शरीरों में व्यापक होकर, देश, काल एवं वस्तुओं से अविच्छिन्न, सदा प्रकाशमान, चिदानंदघन तथा अद्वितीय होकर विराजमान आत्म-वस्तु से, अथवा ईश्वर-वस्तु से प्रकृति-तत्त्वों की कितनी ही सूक्ष्म खोजों से, वैज्ञानिक शास्त्र की कितनी ही बड़ी उन्नति से अथवा बड़े-बड़े नये अविष्कारों से भी कोई इन्कार नहीं कर सकता। सूक्ष्म एवं निगूढ़ विचार करें तो प्रकृति-शास्त्र आदि की आज की उन्नति आत्म-सत्ता की साधक ही होती है, बाधक नहीं होती। यदि कोई सोचे कि वह बाधक होती है या बाधक होगी तो वह अविवेक का महान् विलास होगा, यथार्थ नहीं हो सकता। इस सच्चाई के लिए

तीनो कालो मे कोई बाधा नही हो सकती है कि पाँच-छः फुट लम्बा मिट्टी के *समान जड़ यह मांस-पिंड नही, चैतन्य घन आत्मवस्तु ही हम हैं।*

'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' आदि रूप से ऋषियो ने अपने अनुभवो के द्वारा जिस आत्मवस्तु का गान किया है तथा आज भी जो *आत्मदर्शी लोगों के लिए अनुभव-सिद्ध है, यदि कोई व्यक्ति* प्रबल पाप-शक्ति के कारण उस पर विश्वास न करे, उसे जान न सके, अथवा इसके कारण उसके बारे में शशविषाण के समान शून्य होने का प्रलाप करे, तो यह असत् नही हो सकता। यदि कूप-मडूक यह दर्शाता रहे कि सागर नही होता तो अनंत-विशाल, गहन-गभीर एव उल्लोल-कल्लोला से उद्वेलित उदधि जल-शून्य नही हो जाएगा। आत्मसत्ता तथा ईश्वरसत्ता की अवहेलना करनेवाले प्रलापो की आवाज पाश्चात्य नभोमडल मे उठे तो उठती रहे, इससे कुछ अन्तर नही पडता। किंतु जिस भारत-भूमि मे अध्यात्म-केसरी ऋषि पुगवो ने आत्मगीतो का गायन करते हुए अध्यात्म-जीवन व्यतीत किया उसके पवित्र नभोमडल के लिए ऐसे दूषित शब्द शोभा नही देते। अत ऐसे नास्तिक जल्पनो का भारतीय जन न तो आदर करें, न इन्हे अपनाए, और जहाँ तक हो सके इन्हे अपने देश से निकालने का प्रयास करें।

हम यदि अध्यात्म-रति-सम्पन्न एवं अध्यात्म-जीवी ऋषीश्वरो की सतान है तो आत्मविश्वास, आत्मबोध तथा आत्मशक्ति हमारी पैतृक-सपत्ति है। *हमारा मुख्य कर्तव्य है कि अपनी इस परपरागत अध्यात्म-सपत्ति को नष्ट* होने से बचाए। यदि नष्ट होने लगी है तो पूर्णरूप से नष्ट होने से पहले उसकी रक्षा और उन्नति करें। आर्यरक्त एव आर्य सस्कृति से युक्त हे भारतीय भाइयो ! तुम दृढ़ रूप से यह समझ लो कि मिट्टी, पानी, आग आदि पचभूतों का बना यह शरीर मिट्टी मे मिल जाए तो भी उसको प्रकाशमान करनेवाली तथा उसे व्यापार-शक्ति देनेवाली उसके अन्दर वर्तमान उस चैतन्य वस्तु का नाश नही होता। वही चैतन्य वस्तु आत्मा है और वही आत्मा हम है। पाखड मतों के आक्रमण से तुम उसको बचाओ। तुम ऋषि-सतानो के अन्तःकरण में जो सूक्ष्म तत्त्व मे विद्यमान है, उसका तुम उत्साह के साथ उद्बोधन करो। आत्मज्ञान में लगे हुए और आनदमय जीवन बितानेवाले उन पूर्वज मुनि-पुंगवों को तुम हमेशा याद करो। उनके प्रिय *निवास स्थान हिमगिरि आदि स्थानो के आगे तुम सिर भुकाकर प्रेमपूर्वक प्रणाम* करो। जिस शरीर के बारे में सदा आशका बनी रहती है कि यह आज नष्ट

होगा या कल, उस मिट्टी के शरीर की आसक्ति छोड़कर दृढ़ आत्मबोध एवं आत्मबल प्राप्त कर अपने को, दूसरों को तथा सारे संसार को अनुग्रह देकर और नाश से उद्धार करके कभी न बुझनेवाले अध्यात्म-रत्न-दीप बनकर संसार में प्रकाशमान रहो। देवात्मा हिमगिरि तुम पर अपार अनुग्रह करेंगे।

× × ×

जड़वादी लोग जिन हिमकूटों को भौतिक समझते हैं, जिनकी तुषार-महिमा की सुन्दरता को भौतिक सुन्दरता समझते हैं, तथा उनसे पैदा होनेवाले आनंद को भौतिक आनंद समझते हैं, उन्हीं हिमकूटों में मैंने ईश्वरीय रूप पा, उसी दिव्य सौंदर्य में मैंने ईश्वरीय सौंदर्य का, तथा उसी अलौकिक आनंद में मैंने ईश्वरीय आनंद का अनुभव किया और हिमकूट की दिव्य तराइयों से गुजरता हुआ मैं सोनरनाथ से फिर आगे बढ़ने लगा।

मानस और कैलास वहाँ से अधिक दूर नहीं था, इसलिए मैं एक बालक के समान उत्कंठा-भरे मन के साथ बड़े उत्साह से चलता चला गया। मार्ग में सुन्दर गाँवों को पार करते हुए सात-आठ मील दूर चलने पर 'तकलाकोट' नामक पश्चिमी तिब्बत की प्रसिद्ध मंडी के पास पहुँच गया। कर्णाली नदी के उस पार तकलाकोट मंडी तथा इस पार 'पूरणमंडी' स्थित है। हमने पूरणमंडी में एक नेपाली कर्मचारी के पड़ाव में दो-तीन दिन रहकर विश्राम किया। यद्यपि चावल, आटा आदि खाद्य पदार्थ वहाँ दाम पर और मुफ्त में भी आसानी से मिल जाते थे, किन्तु ज्वर हो जाने के कारण मैं ठीक तरह से खाना खाकर शरीर को स्वस्थ बनाने में असमर्थ रहा।

वहाँ से हम केवल पच्चीस मील की दूरी पर स्थित मानसरोवर के लक्ष्य में एक दिन सवेरे फिर आगे यात्रा करने लगे। तकलाकोट के पास मार्ग में दो तीन गाँव और कुछ खेत मिले। तिब्बत तथा नीचे के हिमालय-प्रदेशों में स्त्रियाँ ही पुरुषों से बढ़कर अथक कर्मशील होती हैं। इन प्रदेशों में धन-संपत्ति बहुत कम है। इसलिए हाथ-पाँव चलाये बिना सिर्फ खाने-पीने के काम में लगे रहनेवाले सुखजीवी लोग यहाँ नहीं के बराबर हैं। निष्क्रिय आलसी प्रकृति मानवों के लिए तथा सम्पूर्ण जगत् के लिए विनाशकारी है। कर्मपथ में चले बिना आलसी जीव ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं।

दिनभर मनोहारी हिम-पर्वतों की दिव्य छवि देखते हुए और उनकी तराई के रमणीय मैदानों से चलते हुए तकलाकोट और मानसरोवर के बीच में स्थित 'गौरी गुहा' अथवा 'गौरी ओड़ार' के नामक विशाल मैदान में शाम

होते-होते पहुँच गये। यह स्थान डाकुओं के उपद्रव के लिए कुप्रसिद्ध है। डाकू हमारा क्या बिगाड़ सकते है? हमारे पास न धन है न अच्छे कपड़े। केवल भिक्षा-वृत्ति में चलनेवाले हम भला डाकुओं की लूट का शिकार कैसे बन सकते हैं? रास्ते में एक-दो बार डाकुओं ने हमारे पास आकर हमारे कपड़ो और दूसरी चीजो की जाँच भी की, किन्तु उन्हे क्या मिलता? इस पर उन्होंने हमें सताने के बदले सत्तू आदि देकर हमारी सेवा की। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के सीधे और सरल मार्ग उन्होंने हमे बताये, तथा मार्ग मे रहने के स्थान आदि भी उन्होंने मुझे दिखा दिये। इस प्रकार कैलासपति की करुणा से डाकू अपकारी होकर नही, उपकारी होकर ही हमारे सामने आये।

अब हम सोलह हजार फुट ऊँचे तिब्बत के मशहूर मैदान मे थे। हवा प्रचण्ड रूप से चल रही थी। श्रावण महीने की बार-बार होनेवाली वर्षा एवं हिमपात का साहस के साथ हमें सामना करना था। मैं और आनदगिरि वहाँ अपने आसन बिछाकर बैठ गये तथा हिम-खण्ड के समान ठडी रात को किसी प्रकार काटने लगे। उस रास्ते पर हमारा मुख्य आहार सत्तू ही था। बैठते-लेटते और कडी सरदी झेलते रात बितायी तथा सुबह उठकर असहनीय जाड़े की परवाह किये बिना हिमशिखरो की तराई से धीरे-धीरे आगे चलने लगे।

यद्यपि तिब्बत प्रदेश कष्टो की खान है तो भी वह उन कष्टों को तुरन्त भुला देनेवाले आनदकारी दिव्य दर्शनो का भडार भी है। तिब्बत का यह भाग जहाँ हम थे बिल्कुल नगा मैदान था। यहाँ पेड़-पौधों का दूर-दूर तक नामोनिशान तक न था। दूर-दूर के स्थानो से लाकर इकट्ठे किये गये पौधे ही यहाँ के गावों मे ईंधन के काम मे आते है। यों, कई मीलो की दूरी पर लबा-चौडा, निरावरण, अति शीतल, अत्यत विजन, प्रशांत एवं एकात देश—जहाँ स्वच्छद प्रवाहमान छोटी-बडी पथरीली नदियाँ तथा चाँदी और सोने के समान चमकनेवाली हिमावृत्त शैल-मालाएँ हैं—एक यात्री के मन को कितने ही विलक्षण दिव्य भाव की ओर उठा देता है। यहाँ सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य है। शायद इसीलिए इस भूमि को विद्वानो ने त्रिविष्टप भूमि, अर्थात् देवभूमि, कहा है। कुछ लोग प्रमाणपूर्वक कहते हैं कि त्रिविष्टप शब्द अपभ्रष्ट मे तिब्बत बन गया है। जो भी हो, मैं तो अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि हम जब इस स्थान पर पहुँच जाते हैं तो व्याकुलताओं से मुक्त होकर इसी मर्त्यलोक मे ही मानो निरातक एव निराकुल रूप से विचरण करने लगते हैं।

'गुरलामान्धाता' नामक एक कम ऊँचे पहाडी घाट को पार करने पर प्रसिद्ध मानसरोवर प्राप्त होता है। घाट के ऊपर पहुँचते ही दूर से मनोहारी मानसरोवर के देवताओं के लिए भी दुर्लभ पुण्य दर्शन हमे प्राप्त हुए। घाट के ऊपर एक पत्थर पर बैठकर मैं सरोवर का दिव्य सौंदर्य अतृप्त आँखों से निहारता रह गया। वहाँ से हम सरोवर के किनारे की ओर उतरने लगे। फिर शीघ्र ही हम सरोवर के किनारे पहुँच गये। फिर जल के साथ-साथ कुछ मील पूरब की ओर चलने पर सरोवर के दक्षिण पूरब की दिशा मे लामाओं के एक सुन्दर आश्रम मे शाम होने से पहले सकुशल पहुच गये।

यह स्वर्गीय सरोवर लगभग पैंतालीस मील से भी ज्यादा घेरे मे है। यह इतना वर्तुल है कि मानो माप कर बनाया गया है। हिम-धवल शैल-मालाओं से आवृत है, स्फटिक-से भी अति निर्मल जल से भरा हुआ है। इसमें कीचड का नामोनिशान नही। जल के अन्दर रत्नो के समान स्पष्ट चमकनेवाले छोटे पाषाण समूहों से अलकृत है। इसकी आठ दिशाओं मे तपोनिष्ठ लामाओं के एकात-सुन्दर मठ बने हुए है। इन्ही गुणों के कारण यह सारे ससार मे प्रसिद्ध है। यद्यपि इसकी दिव्य सुन्दरता एव महिमा का पौराणिक और आधुनिक लोगो ने यथाशक्ति वर्णन किया है, तो भी इसकी सुषमा वर्णनातीत है। यह सरोवर सफेद कमलों एव मोती चुनते-खाते विहार करनेवाले राजहसो से सुशोभित है। इसमे हमेशा अप्सराएँ जल-क्रीड़ा करती रहती हैं। इसके किनारे पक्तिबद्ध कल्पवृक्ष पुष्पित-पल्लवित होकर उन्मत्त होकर झूमते रहते हैं, और कामधेनु ही नहीं ऐरावत व उच्चैःश्रवा भी स्वच्छद विचरते आनंद करते है। इसके तट पर यक्षों, किन्नर-गधर्वों, सिद्धों और देवों के प्रिय स्थान हैं तथा इसके पास साक्षात् महादेव का प्रिय निवास कैलास का शिखर विराज रहा है, उस अलौकिक मानसरोवर का—

कैलासपर्वते राम ! मनसा निर्मितं परम्।
ब्रह्मणा नरशार्दूल ! तेनेदं मानसं सरः ॥

—इसी प्रकार ब्रह्मा के मानसिक सकल्प से विरचित होने के कारण इस सरोवर का नाम 'मानस' कहा जाता है। इस ससार-प्रसिद्ध सरोवर का— अतुलनीय सुन्दरता से युक्त उस त्रिविष्टप सर का—भला कौन कैसे वर्णन कर सकता है?

सरोवर मे उतरकर मैने बड़ी श्रद्धा एव कौतूहल से स्नान किया। इस मे बड़ी-बड़ी मछलियो के सिवा कमल, शैवाल आदि कोई भी जल-पदार्थ

दिखायी नहीं दिया था। सफेद और काले शरीर के हंस के समान कुछ सुन्दर छोटे-छोटे पक्षी चालीस-पचास के झुण्डों में इधर-उधर विचरते दिखायी पड़े।

स्नान के बाद मैंने एक मठ में श्रद्धा के योग्य बुद्धमूर्ति के तथा वहाँ भजन में लगे हुए एक बौद्ध यति के दर्शन किये। फिर लामाओं से बड़ी देर तक बातें करता रहा। इस प्रकार पवित्र मानस-जल में स्नान तथा मानस-जल एवं मानस-सुन्दरता का पान करते हुए वहाँ दो दिन तक विश्राम किया, और फिर वहाँ से कैलासपर्वत के लक्ष्य में आगे यात्रा करने लगा। सो, वह शिखर, यह निकट ही तो सरोवर की पश्चिमोत्तरी दिशा में, स्पष्ट दिखायी दे रहा है। सर के किनारे से दिनभर यात्रा करके हम शाम को सर के पश्चिमी तट के एक मठ में पहुँच गये और रात में लामाओं के साथ वहाँ रहे।

अगले दिन सवेरे फिर उसी तट के मार्ग से आगे बढ़ने पर मानस के राक्षसताल नामक सर में गिरनेवाली शतद्रु (सतलज) की पवित्र मूल धारा तक पहुँच गये। उस सुन्दर जलधारा को जिसमें कमर तक जल था हमने कठिनाई से पार किया। वहाँ थोड़ी दूर पर यद्यपि लामाओं का और एक मठ दीख पड़ा, तथापि थके-माँदे हम उस ऊँचे स्थान पर चढ़ जाने को तैयार नहीं हुए। विशाल समभूमि से मानस का तट छोड़कर थोड़ी दूर पश्चिम की ओर जाने पर बायीं ओर नील-निर्मल रूप में प्रकाशमान महान् राक्षसताल तड़ाग का तथा दायीं ओर पास ही धवल एवं उन्नत कैलास-शिखर का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

इसके बाद कैलास-शिखर के लक्ष्य में सीधे उसकी तराई की ओर शंकाहीन होकर हम चलने लगे। कैलास पर्वत की तराई का वह कई मीलों का लंबा-चौड़ा विशाल मैदान, जो सामने दिखायी दे रहा है। राक्षसताल तथा कैलास पर्वत के बीच विराजमान इस दिव्यभूमि का दर्शन बड़ा ही आकर्षक है। वह भूमि हरी घास से आच्छादित तथा कई सुन्दर छोटी सरिताओं से सिंची हुई है। इसी मैदान में शीत अधिक था। हमने यह रात बड़ी कठिनाई से बितायी।

पौ फटी। पास की जल-धारा में स्नान आदि नित्य कर्मों से निवृत्त होने के बाद धीरे-धीरे हम फिर आगे बढ़ने लगे। जिस पर्वत पर राजकुमारी के साथ साक्षात परम शिव सदा विराजमान हैं, जो इन्द्र आदि देवताओं तथा कपिल आदि सिद्धों के लिए भी अगम्य है और जिस की अधिरोहणी पर शेष-शय्या पर योग-निद्रा में लीन भगवान विष्णु ने भी कितनी ही बार अधि-

रोहण किया है, वही रजतगिरि, लो, गौरवान्वित होकर खड़ा निकट से स्पष्ट एवं प्रसन्न दर्शन देकर हमें अनुग्रहीत कर रहा है, तथा स्वागत करते हुए हमें अपने पास बुला रहा है।

यह कृष्ण पर्वत लगभग तीस मील के वृत्ताकार में मीनार के समान ऊपर की ओर आकार में छोटा होकर दीखता है। इसका शिखर हिमालकृत है, और ऐसा मालूम होता है मानो एक लंबी पर्वतमाला का सरदार हो। इसकी शोभा अनुपम है। मैं ज्यों-ज्यों कैलास की तराई के पास पहुँचता गया, मेरा मन भक्ति, आनंद एवं कृतार्थता से उत्फुल्ल होता गया। पास की छोटी छोटी शिला-नदियों को कष्ट के साथ पार करते हुए किसी प्रकार दोपहर के बाद हम कैलासपति के चरणकमलों में, अर्थात् सफेद शिखर के नीचे 'दरचन' नामक छोटे गाँव में पहुँच गये।

कैलास के पास बितायी वह रात मुझे सदा स्मरण रहेगी। कठिन तपस्यामय उस रात के समान और कोई रात शायद ही मेरे जीवन में आयी हो। हमें विश्राम करने के लिए कोई भी सुरक्षित स्थान दिखायी नहीं दिया था, इसलिए खुले मैदान में ही कपड़े बिछाकर हम उस पर बैठ गये थे। अठारह हजार से भी ऊँची कैलास की तराई के जाड़े की भीषणता का क्या कहना ? रात को श्रावण महीने की अनवरत वर्षा भी शुरू हो गयी थी। धीरे-धीरे हिमवर्षा भी होने लगी थी। किंतु हिमवृष्टि करनेवाला मेघ-देवता उससे बढ़कर हम पर दयादृष्टि ही करता था। साहित्यिक भाषा को छोड़ सामान्य भाषा में कहूँ तो हुआ यह था कि हिमवर्षा हमारे बहुत ही निकट हो रही थी और हम तक पहुँचने से पहले ही, ईश्वर की कृपा से, वह समाप्त हो गयी थी।

यद्यपि मैं जानता था कि कैलास-यात्रा का मुख्य अंग कैलास की परिक्रमा करना है, तथापि ज्वर आदि की पीड़ा से शिथिल-शरीर मैं उस का साहस न करके कैलास-पति को प्रणाम कर वहाँ से लौटकर चलने लगा। मार्ग में तिब्बत की एक महिला ने हमें तथा हमारे साथ चलनेवाले दूसरे कुछ साधुओं को आग्रह-पूर्वक अपने पड़ाव के पास बिठाकर बड़े उल्लास के साथ कई खाने-पीने की चीजें देकर हमारा आदर-सत्कार किया था। उस युवती महिला की असाधारण साधु-भक्ति एवं उदारता को मैं नहीं भूल सकूँगा।

शाम होने से पहले हम कुछ दूरी पर स्थित 'वर्क' नामक छोटे गाँव में पहुँच गये। वहाँ के लोगों से आदर के साथ 'राजा' कहलानेवाले उस गाँव

के एक अमीर तथा उनकी पत्नी ने हम 'काशी के लामाजी' का चाय आदि द्वारा आदर-सत्कार किया और रात के निवास के लिए उचित स्थान आदि देकर हमें अति अनुग्रहीत किया।

अगले दिन वहाँ से प्रस्थान कर हम राक्षसताल पहुँच गये। कहते हैं इसके किनारे पर कैलास को उठाकर उछालनेवाले राक्षस रावण ने दीर्घकाल तक कठोर तपस्या की थी। इस का पूर्वी किनारा विशाल एवं सुन्दर था। इसके बाद पूर्वोक्त 'गौरी ओडार' नामक विशाल मैदान तथा कुछ गाँवों एवं खेतों में से होते हुए चार-पाँच दिनों में हम फिर तकलाकोट पहुँच गये। वहाँ पहुँचा तो मन कुछ शान्त हुआ और अनुकूल वातावरण में दो दिन तक विश्राम किया।

फिर अपने साथ चलते हुए और कुछ साधुओं को वहाँ छोड़कर सिर्फ हम दोनों 'लिपु घाट' (लिपु पास) को पार करके हिन्दुस्तान वापस जाने की इच्छा से वहाँ से रवाना हो पड़े। उस दिन मार्ग में विश्राम करके अगले दिन घाट पर चढ़ने लगे तो अचानक वर्षा होने लगी। घाट के ऊपर फैली हुई हिमराशि की वर्षा में नगे पैरों पार करने में हमें जो कठिनाई हुई हम उसे कभी नहीं भूल सकते। बड़ी कठिनाई के साथ सध्या के बाद हम घाट के उस पार पहुँच गये। वहाँ की एक जीर्ण गुफा में हमने किसी प्रकार रात बितायी। चूंकि वर्षा हो रही थी, इसलिए रात के हिमपात से दिशाएं उज्ज्वल होकर चमक रही थीं। जब सूर्योदय में हिम पिघलने लगा तो वहाँ से कुछ आगे जाकर हम हिम से होकर कठिनाई से नीचे उतर आये और एक व्यापारी के साथ रात बितायी।

लौटते समय भी मैं ज्वर से पीड़ित था। इसलिए अधिक कष्ट और विलंब हुआ था। तकलाकोट से एक सौ नब्बे मील दूर अलमोड़ा तक हमें जिस नदी के किनारे से होकर नीचे की ओर यात्रा करनी थी, लीजिए वह रही वह पुण्य 'काली नदी' जो कि यहाँ पास ही पहाड़ की ढाल से झरती आ रही है। दो-तीन दिनों में हम उग्र तराई से 'गरब्याग' नामक एक बड़े-से गाँव में पहुँच गये। दुर्बलता के कारण मैं एक दिन का रास्ता दो-तीन दिनों में ही तय कर पाता था। भगवान श्रीकृष्ण का जन्म दिन—भाद्रपद महीने की अष्टमी रोहिणी—यहाँ सपन्न हुई।

इसके बाद कई बड़े पहाड़ों तथा बीच बीच में कई सुन्दर गाँवों को लाँघते हुए तथा शरीर एवं मार्ग की प्रतिकूलता के कारण नाना प्रकार के

कष्टों को साहस के साथ झेलते हुए हम कुछ दिनों में धारचूला नामक एक मुख्य स्थान पर पहुँच गये। वहाँ मार्ग के एक रामकृष्ण-मठ में ही खाना पकाकर खाया। भाद्रपद-आश्विन के महीने में पके हुए नाना प्रकार के अनाजों के खेत तथा हरे-भरे विशाल विपिन हमारे मन को अत्यधिक उन्मेष प्रदान करते थे। इसके अतिरिक्त कद्दू, ककड़ी, भिंडी, पपीता, ज्वार आदि शाक-फलों का, जिनका हिमगिरि के ऊपर दर्शन तक मुश्किल है, प्रचुर मात्रा में दर्शन तथा भ्रमण द्वारा हमने अत्यधिक प्रसन्नता एवं तृप्ति प्राप्त की। धारचूला से आसुकोट और वेणीनाग होते हुए हम कई छोटे-बड़े पहाड़ों को धीरे-धीरे पार करते हुए पर्याप्त समय के बाद अलमोड़ा पहुँच गये। यहाँ पहुँचने पर मार्ग की कठिनाई बिल्कुल दूर हो गयी।

अलमोड़ा में नगर से कुछ दूर एक एकान्त मंदिर में एक वैरागी सुशिक्षित साधु के आतिथ्य में जो सुखमय दिन मैंने आनंदपूर्वक बिताये उन्हें भी मैं नहीं भूल सकता। यह नग्न शरीर साधु यद्यपि आयु में अभी युवा थे, परन्तु तितिक्षा एवं उदारता आदि गुणों में वह वृद्ध थे। कपड़े को वह कभी छूते न थे। उनमें शीत आदि सहने की शक्ति विलक्षण थी। ऐसा कोई भी आत्मिक या अनात्मिक महान् कार्य इस संसार में नहीं है जो श्रद्धा न कर सकती हो। लौकिक दृष्टि से चाहे कितना ही कोई भयानक तथा कठोर अनुष्ठान क्यों न हो एक श्रद्धालु के लिए वह आसान हो जाता है।

अलमोड़ा से नीचे की ओर यद्यपि मोटर गाड़ी में भी यात्रा की जा सकती थी, तो भी हमने वहाँ से पैदल ही प्रस्थान किया। कई छोटे पहाड़ों, सुन्दर गाँवों और रमणीय सरोवरों को पार करते हुए तथा उनकी सुन्दरता का आनंद भोगते हुए हम कुछ ही दिनों में 'हल्द्वानी' नामक हिमगिरि की तराई के एक छोटे मनोहर नगर में पहुँच गये। यह भी विशेषकर लिखने योग्य है कि रास्ते में आर्यसमाज के नेता श्रीनारायण स्वामी आदि कई श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा पवित्र आश्रम-स्थानों के दर्शन का भी हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हल्द्वानी के एक देव-मन्दिर में कुछ दिन सुखपूर्वक विश्राम करने के बाद वहाँ से रेलगाड़ी के द्वारा 'बरेली' नामक बड़े नगर में पहुँच गये और दो-एक दिन मधुकर-वृत्ति में रहने पर वहाँ भी सौभाग्य से कुछ प्रमुख व्यक्तियों का परिचय हमें मिल गया। इसलिए उनकी प्रेरणा से बड़े अनुकूल वातावरण में कई दिनों तक वहाँ रहे। इसके बाद रेलगाड़ी के द्वारा चिरकाल से वियुक्त हृषीकेश धाम में श्री भागीरथी माता के रमणीय तट पर साधु-महात्माओं के पवित्र वातावरण में सकुशल प्रविष्ट हो गये।

●●

तीसरा भाग

१५. थोलिंग मठ

थोलिंग मठ पश्चिमी तिब्बत में स्थित लामाओं का एक महान आश्रम स्थान है। जहाँ यह आश्रम स्थित है, वह प्रदेश भी थोलिंग कहलाता है। सतलज नदी के किनारे एक विशाल मैदान मे बने इस मठ की महिमा एवं मनोहारिता असाधारण है। यह मठ चारो ओर से दूर-दूर तक वृक्ष आदि से हीन बिलकुल हिम से नग्न गभीर पर्वतमालाओ से घिरा हुआ है, जिनकी चोटियाँ बर्फ से ढकी रहती है। इस विशाल मठ के चारों ओर मिट्टी की चार-दीवारी है। इसकी दीवारें भी मिट्टी की बनी हैं। यह मठ राजोचित आडबर एवं गौरव से युक्त है। मठ के मकानो पर जहाँ तहाँ नाना वर्ण की ध्वजाएँ उड रही थी। कहा जाता है कि सौ डेढ़ सौ लामा लोग साधारणतया इस मठ मे रहते आ रहे है।

सन् १९३० मे बदरिकाश्रम मे चातुर्मास्य करने के उद्देश्य से मैं जून महीने के आरभ में हृषीकेश से वहाँ पहुँच गया। वहाँ अलकनदा के पूर्वी किनारे की एक एकात झोपड़ी मे मैं अकेले रहने लगा। कुछ दिन बीत जाने पर निम्न देशो से कैलास-यात्रा की तैयारी में आये हुए कुछ साधु लोग मुझे भी उसकी प्रेरणा देने लगे। उनमे कुछ तो मेरे लिए परिचित ही नहीं, बल्कि मुझ से बड़ा प्रेम तथा आदर करनेवाले भी थे। कैलास-दर्शन तो मेरे लिए अत्यत प्रियकर है ही। ऐसा विश्वास करनेवालो में मैं भी एक हूँ ही कि अमित सुकृत-परिपाक से ही कैलास के दर्शन प्राप्त होते हैं। फिर भी कपड़े आदि की कमी तथा अधिक शारीरिक कष्ट के कारण मैं उनके साथ जाने को उद्यत न हुआ।

किंतु किसी बात पर मनुष्य के विधि-निषेधो पर अतिम निर्णय करने का अधिकार भगवान को ही है। ईश्वर ने मेरे निषेध को न माना। मेरे निषेध का निषेध करते हुए ईश्वर ने मुझे आज्ञा दी कि 'चलो, फिर एक बार कैलास चलो! दूसरी बार चलकर कैलास के दर्शन करो!!' ईश्वर की आज्ञा का उल्लघन भला कौन कर सकता है? मैं ईश्वर के आदेश के आगे झुक गया। सभी आस्तिक इस पर सहमत है कि मनुष्य के लिए जो असभव

है, वह भगवान के लिए तो आसान बात है। यों, असपन्न को सुसपन्न बनाने मे पटु भगवान की इच्छा से यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री अर्थात् कबल, रुपये एव कुछ खाद्य पदार्थ आदि सब सरलतापूर्वक वहाँ सपन्न हो गये।

बदरीनाथ के अध्यक्ष एव बड़े धनवान हमारे नपूतिरी जी भी मेरी यात्रा का समाचार पाकर मेरी इच्छा के अनुसार धन आदि की मदद करने को तैयार हो गये थे। हृषीकेश से अविचारित रूप से वहाँ आये मेरे एक अनुचर साधु भी कैलाश यात्रा में मेरी सेवा के लिए आने को तैयार हो गये। इसलिए हम दोनो के राह खर्च के लिए उनसे मैंने कुछ रुपये लिये। मार्ग में रहने के लिए तम्बू आदि एक दूसरे साधु तैयार करते थे। इसलिए मुझे उस विषय मे भी कोई मेहनत नही करनी पडी थी।

इस प्रकार कैलाश-यात्रा के लिए मैंने दूसरी बार तैयार होकर १२ जुलाई को प्रभात वेला में तप्तकुड मे स्नान करके बदरीपति को प्रणाम कर प्रस्थान किया। बदरीनाथ से कुल सत्रह-अठारह साधु एक दल बनाकर निकले थे। बदरीनाथ से कैलास चलनेवालो के लिए पहला मुख्य स्थान है—थोलिंग। इसलिए उस स्थान के लक्ष्य मे हम धीरे-धीरे चलने लगे। बदरीनाथ से तीन-चार मील ऊपर व्यास-गुहा के पास जहाँ सरस्वती नदी अलकनदा मे आकर मिलती है, उस 'केशवप्रयाग' के नाम से प्रसिद्ध सगमस्थान से हमें अलकनदा को छोड सरस्वती के किनारे से होकर सीधे उत्तर की ओर जाना था। मार्ग की कठिनाई तथा शीत की अधिकता से प्रतिदिन केवल चार-पाँच मील चलते हुए हम सरस्वती के किनारे पहाडों को पार करने लगे।

सन् १९२५ मे मैंने नेपाल से पहली बार कैलास की जो यात्रा की थी, प्रस्तुत यात्रा उससे बडी ही विलक्षण थी। राह-खर्च के लिए विशेषकर पैसे या दूसरी सामग्री लिये बिना ज्यादातर भिक्षा वृत्ति में ही जीवन बिताते तथा वर्षा-सरदी की चिन्ता किये बिना गिरि-गुहाओं, वनातरों अथवा खुले मैदानो में रात बिताते हुए कठिन तपस्या के रूप मे ही मैंने वह यात्रा की थी।

परन्तु यह यात्रा तो कठिन-तपस्या के रूप मे बहुत छोटी थी। उतना शारीरिक कष्ट इस यात्रा मे नहीं हुआ। इस बार चमरी गायों आदि की पीठ पर खाद्य पदार्थ आदि ले गये थे। इससे हमे बोझ नही उठाना पड़ा। कई उत्साही साधुओं के साथ होने से हमें भोजन भी समय पर मिलता रहा। रात मे खुले मैदान में न लेटकर पड़ाव मे ही विश्राम भी करते थे। अतः कुल मिलाकर यह यात्रा कष्टदायक नही थी।

फिर भी बदरीनाथ से ऊपर तिब्बत की ओर जानेवाला मार्ग बड़ा ही कठिन है। किन्तु हमें तो सरस्वती के आश्रय में विकट पाषाण-समूहों एवं विशाल हिमसहतियों को साहस के साथ पार करते हुए आगे जाना ही है। बदरीनाथ तक तो मार्ग ठीक जाता है, किन्तु वहाँ से ऊपर मार्ग दुर्गम होता जाता है। समुद्र की सतह से ग्यारह हजार फुट ऊँचे बदरीनाथ से ऊपर चढ़ते जाने पर वहाँ का शीत असहनीय होता गया। मार्ग की कठिनाई से डरकर हमारे दल के दो-एक साधुओं ने लौट जाना चाहा, किन्तु जब मैंने इस प्रकार उत्साह बढ़ाया कि यदि हिम में गिरकर, शरीर नष्ट हो जाए तो वह भी कल्याणकारी ही है, डरने की कौन-सी बात है" तो वे भी आगे ही बढ़ने लगे।

इस प्रकार हिमावृत्त पहाड़ों के मार्ग को, जिस पर घंटे में एक मील भी चलना कठिन है, हम धीरे-धीरे नांघने लगे। यद्यपि मार्ग में हम कई जलधाराओं को आसानी से पार करते गये, तो भी सरस्वती की एक उपनदी को पार करने में हमें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वे तेजी से प्रवाहमान थी तथा इसका शीतल जल दो ही मिनटों में शरीर को पाषाण बना देता था—ऐसी उस पाषाणी नदी को हमने एक दूसरे के हाथ पकड़ कर बड़े साहस से किसी प्रकार पार किया।

यों बड़ी कठिनाईयाँ झेलते हुए बदरीनाथ से लगभग बीस-पच्चीस मील ऊपर जाने पर हमें वहाँ प्रकृति बड़ी ही विलक्षण दिखायी पड़ी। यहाँ हिम भी अधिक था। हिम से पूर्ण धवल पर्वत-मालाएँ अति मनमोहक लगती थी। हिम की बहुलता के कारण गिर जाने के भय से मार्ग को पार करना भी मुश्किल हो गया था। बदरीनाथ से कुछ व्यापारी तिब्बत की ओर जा रहे थे, हम सब उनके पीछे चल रहे थे। रास्ते की कड़ी ढाल की हिम-राशि को खनित्र आदि से खोदकर सम बना कर अपने घोड़ों के चलने के लायक बना देते थे, इसलिए उन व्यापारियों के आगे चलने से जहाँ तहाँ हिम को पार करने में हमें कुछ सुविधा हो गयी थी। फिर भी मार्ग धीरे-धीरे हिम की अधिकता, अतिशीतल धाराओं एवं कठिन पाषाण-समूहों के कारण अधिक कष्टदायक था।

बदरीनाथ से तिब्बत जानेवालों को हिमालय का जो घाट पार जाना है, उसका नाम है 'माना पास'। लगभग अठारह हजार फुट ऊँचे इस गंभीर घाट की महिमा एवं कठिनाई हिमालय का इतिहास जाननेवालों के बीच प्रसिद्ध है। हिमालय के कई दूसरे घाटों की अपेक्षा यह घाट काफी ऊँचा है, कभी

न पिघलने वाली हिम की अधिकता के कारण कहीं अधिक सुन्दर है तथा इसी कारण दुर्गम भी है।

इतना ही नहीं, कैलास जाने का यह पुराना मार्ग माना जाता है, और इसलिए अपेक्षाकृत यह पवित्र तथा श्रेष्ठ भी समझा जाता है। पुराणों में इसका स्पष्ट विवरण है कि पांडव, कृष्ण भगवान तथा अनेक ऋषियों की कैलास-यात्रा बदरीनाथ के द्वारा इसी मार्ग से हुई थी। कुछ पंडितों का यह भी कहना है कि मानसरोवर में रहने वाले राजहंसों के आने जाने के जिस मार्ग का वर्णन संस्कृत-काव्यों में मिलता है, वह क्रौंच रंध्र भी यही घाट है। इस प्रकार पुराण-प्रसिद्ध 'माना घाट' अपने बहुत ऊँचे धवलशृंगों के साथ, लीजिए, हमारे सामने सुशोभित है। पुराणों में वर्णन है कि बदरिकाश्रम गंधमादन के पास है। इसलिए यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि हम अब तक जिसको लाँघ रहे थे, वह गंधमादन की पर्वतमाला है। अब यहाँ से नील पर्वत दिखायी देता है। यह पर्वत नीलिमा लिए हुए है। यह नील पर्वत पुराण-प्रसिद्ध चिरंजीवी काकभुशुण्ड का निवास-स्थान था, अथवा है। अहो! ऋषियों की महिमा की कोई सीमा नहीं है। साधारण लोगों के लिए जहाँ जाना या एक दिन रहना असम्भव है, उन्हीं गूढ़ एवं कठिन शैल-शिखरों पर उनके प्रसिद्ध आश्रम-स्थान थे।

बदरीनाथ से निकलकर छठे दिन रात को मानापास से पाँच-छः मील नीचे हिम के बीच—हिम से रहित जो थोड़ी-सी भूमि मिल गयी, वहाँ—पड़ाव डालकर विश्राम करने के बाद अगले दिन सबेरे घाट को पार करने के उद्देश्य से हम सब व्यापारियों के साथ चलने को उद्यत हो गये। हिम-जल-धाराओं और पाषाण-समूहों को छोड़ मार्ग में मिट्टी का दर्शन भी मुश्किल हो गया। बड़े साहस तथा कठिनाई के साथ हम उस घाट की तराई से उच्च सीमा की ओर धीरे धीरे चढ़ते रहे। साँस लेने की वायु की कमी से या विष-वायु के फैलने से अथवा दूसरे किसी कारण से, सिर में भयंकर दर्द होने लगा। तीन-चार फर्लांग चलने पर फिर बैठ कर थोड़ा विश्राम किये बिना आगे बढ़ना मुश्किल हो गया था। केवल हमारी ही नहीं, हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले तथा ऐसे स्थानों पर चलने का अधिक अनुभव रखनेवाले इन व्यापारियों की भी यही दशा थी। उनके तीन-चार घोड़े जलधारा में पड़कर मर गये और एक दुर्बल मनुष्य शीत-बाधा से तथा किसी सहायता के अभाव के कारण मार्ग में चल बसा। मरनेवाला पड़े-पड़े मरेगा ही, इस विचार के करने के सिवा, उस ऊँचे स्थान पर किससे क्या मदद की जा सकती थी।

एक संहारकर्त्ता होने के नाते मे ईश्वर को एक बड़े कसाई की उपमा दी जा सकती है। कसाई अपनी इच्छा के अनुसार एक-एक बकरे को चुनकर काट डालता है। बकरे की आयु अथवा किसी इच्छा अथवा सम्मति की कसाई जरा भी परवाह नही करता। इसी तरह ईश्वर भी प्राणियों को एक-एक करके या समूहो को चुनकर निर्दयता से मार डालते है। प्राणियों की आयु, इच्छा या सम्मति की वे दयानिधि होने पर भी जरा परवाह नहीं करते। पडित-दार्शनिक, पुरोहित-पुजारी, राजा-मत्री, व्यापारी-किसान, धनी दरिद्र, मनुष्य-तिर्यक्, कृमि-कीट आदि का कोई भी भेद-भाव इस विषय मे ईश्वर नहीं मानते।

जैसे जीव कर्मवश मनुष्य-शरीर एव तिर्यक् शरीर प्राप्त करते हैं, वैसे मनुष्य कर्मवश ही भोग के लिए अथवा मोक्ष के लिए पडित-वेश, भक्त-वेश आदि नाना वेशो को धारण करते है। इसके सिवाय स्वेच्छा पर हम मे से किसी का आधिपत्य नही होता। हम सभी नाना प्रकार के दु खो के दास बन कर जीवन बिताते है। सभी मरनेवाले ही है। मृत्यु के मुह में सब समान हैं। भेड़ो के समान सब परवश है। इतनी परवशता तथा लज्जास्पद दशा मे भी *सर्वेश्वर भगवान के सामने अहं का गर्व करनेवाले मनुष्य की मूर्खता के समान* और कोई मूर्खता मुझे ससार मे नही दिखायी देती।

•

इस प्रकार हिम आदि की कठिनाई का सामना करते हुए हम धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर नील पर्वत पर एक छोटे सर के पास एक विशाल गण्डशैल पर बैठ मैं बड़ी देर तक दूसरे साधुओ की प्रतीक्षा मे विश्राम करता रहा। हिम से भरे उस सर का सौन्दर्य सिरदर्द और शारीरिक कष्ट को भुलवाकर मेरे मन को आनन्द देता रहा। घाट की उच्च सीमा पर पहुँचने के लिए हमे अभी यहाँ से एक मील और ऊपर चढ़ जाना था।

तीन बजे के पहले हम सब व्यापारियो के साथ धीरे-धीरे घाट के ऊपर पहुँच गये। अहा! समुद्र के समान फैली हुई वहाँ की हिम-राशि की मनोहारिता एवं महिमा का मै कैसे वर्णन करूँ? 'देव सरोवर' के नाम से दस-बारह फर्लांग के घेरे में एक हिमपूरित विस्तृत सरोवर भी वहाँ उच्च सीमा पर विराजमान है। *ऐसे हिमालय के घाट बहुत कम है जहाँ हिम-महिमा का* एक साथ इतना उपभोग कर सकें। अठारह हजार फुट की ऊँचाई पर देव-

सरोवर के किनारे कभी न पिघलने वाले धवल-श्यामल हिम-सरितयों के बीच जगत्, शरीर, कैलास, कैलासयात्रा — सभी कुछ भूलकर मैं प्राकृतिक सुषमा की समाधि में निमग्न हो गया।

●

अहो ! ईश्वर की महिमा के बारे में यद्यपि श्रुतियों, वेदव्यास आदि पौराणिकों तथा कालिदास आदि कवियों ने विस्तृत वर्णन किया है, तथापि वे सब वर्णन शुष्क हैं। वे शुष्क क्यों हैं ? वाणी-विलास का विषय न बनने वाले ईश्वर की सृष्टि के ऐसे सौंदर्य का वर्णन करने का यदि हम प्रयत्न करें, अर्थात् उसे वाणी के अन्तर्गत लाना चाहें, तो वह शुष्क हुए बिना भला पूर्ण कैसे बन सकता है ? मनुष्य-बुद्धि द्वारा रचित कृत्रिम सुन्दरता की निरतिशय सीमा भी ईश्वर द्वारा विरचित ऐसी प्राकृतिक सुषमा के एक कण की भी समानता करने में समर्थ नहीं होती। अहा ! ऐसे अलौकिक असंख्य दृश्यों की सृष्टि निमिष मात्र में कर देनेवाले परमात्मा के ऐश्वर्य एवं महिमा का क्या कहना है ? हे परमात्मा आप हमें बुद्धि प्रदान करें कि हम आप की महिमा को सम्यक् रूप से से जान सकें, और उसी में हमेशा आनंदित होकर उसी में रमकर मनुष्य-शरीर को कृतार्थ बनाएं।

●

हमारी चीजें लेकर पीछे आने वाले भी अधिक विलंब किये बिना सरोवर के किनारे पहुंच गये। आते ही उन दोनों ने हमें बताया कि चीजें ढोने वाले जानवर बहुत थक गये हैं, इसलिए उस दिन वहीं रहे बिना और कोई चारा नहीं है। इतना कहते ही उन्होंने सरोवर के किनारे जहां हिम-हीन थोड़ी जगह मिली, वहां जाकर पड़ाव भी जमा लिया। अहो ! विचित्र ! घाट के उस उच्चतम स्थान पर यात्रियों का रहना विरला ही होता है। शीत की अधिकता के कारण उस प्रदेश की कठोरता का सामना कर सकना अति दुष्कर है। आवश्यक वस्तुओं के अभाव तथा हिमपात के भय के कारण यात्री इस पार से घाट को लांघकर उस पार ही जाकर रहा करते हैं।

किन्तु हमारे लिए और कोई चारा नहीं था। इसलिए ईश्वर के चरणों की शरण में हमने वहीं रात बिताने का निश्चय कर लिया। ईश्वर पर विश्वास कठिनाई के समय मनुष्य को वीर और साहसी बना देता है। व्यापा-

रियों में कुछ तो आगे चले गये थे। दूसरे कुछ लोगों ने हमारी ही तरह लाचार होकर वहीं आसन जमा लिया। वहाँ रात बिताने की कठिनाई के बारे में जब उनसे चर्चा हुई तो उन्होंने आखिर यही कहा था कि "घाट के देवता का ध्यान करो। ऐसे अवसरों पर दयानिधि देवता ही हमारी रक्षा करता आया है।" ज्यादातर साधु संयोगवश पीछे रह गये थे। इसलिए वहाँ रात बिताने वाले हम सिर्फ चार-पांच ही थे। अब सदा याद रहनेवाली वह रात शुरू हुई। रजतमय उस दिव्य देश में रजत-रचित दिव्य प्रासाद में दिव्य-भावना के साथ वहाँ रात बिताने का साहस वस्तुतः ईश्वरीय अनुग्रह का ही सुफल था।

अहह ! यह देवसर चारों ओर से हिम-पर्वत मालाओं से घिरा हुआ था। हिम-संघात एवं बीच-बीच में नीले रंग के जल से परिपूर्ण उस देवसरोवर की, तथा उस दिव्य रात की अवर्णनीय तथा अलौकिक सुषमा की महिमा का मैं बड़ी देर तक मन ही मन गान करता रहा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उस देवसर के किनारे निद्रा-सुख से भी बढ़कर एक अन्य सुख-विशेष का मैं अनुभव कर रहा हूं। ऐसा सुख तो केवल योगियों को ही समाधि-अवस्था में प्राप्त हो सकता है।

अहो ! उस भगवान की मुझपर कितनी अनुग्रह है कि जिसने मुझे अपनी महिमाशालिनी विभूति को देखने का अवसर प्रदान किया है। उस परम करुणेश को मुझे कभी नहीं भूलना है। ईश्वर की कृपा से ही किसीको विपत्ति का सामना करने का साहस होता है। जो लोग भगवान पर विश्वास न रख सिर पर आयी हुई विपत्तियों से डरते रहते हैं, वे सदा दुःखी और परेशान रहते हैं।

दिन भर यद्यपि आसमान मेघहीन तथा निर्मल रहा था, तथापि रात होते ही इधर-उधर बादलों की टुकड़ियां उठने लगीं और धीरे-धीरे वह उच्च भूमि मेघमालाओं से भर गयी। इतना ही नहीं, थोड़ी-थोड़ी हिम-बिन्दुएं गिरने लगीं। ईश्वर की कृपा से अधिक जल-वृष्टि या हिम-वृष्टि किये बिना मेघ-मालाएं जल्दी ही शिथिल होकर इधर-उधर विलीन हो गयीं और हम मौत के मुँह से बच गये थे। पौ फटी। रात में किसी विपत्ति के बिना हमारी रक्षा करनेवाले घाट-देवता के रूप में स्थित ईश्वर को मैंने बार बार प्रणाम किया और वहाँ से यात्रा शुरू की।

अब हमें करीब छः मील और हिम-प्रदेश को पार करना था। महान् घनीभूत हिम-नदियों के बीच में हिम एवं मिट्टी के रास्ते दो मील चलने पर वहाँ घाट देवता का स्थान प्राप्त हुआ। छोटे पत्थरों के एक ढेर में ही देवता की कल्पना की गयी है। हमने हिम के बीच स्थित उस देवता के सामने बैठकर कुछ मधुर पदार्थों का निवेद्य चढ़ा दिया। उन्हें प्रसाद के रूप में खाकर देर तक वहाँ विश्राम किया। बदरीनाथ से अब तक लगभग पैंतीस मील दूर जो मार्ग धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता आ रहा था, अब वह इस उच्च सीमा से आगे उतरना शुरू हो गया। यहाँ आज का भारत समाप्त होता है और तिब्बत देश शुरू होता है।

फिर हम उठकर चलने लगे। उगते हुए प्रभाकर की भासुर किरणें जब हिम-मंडल में फैल गयी तो वह इतना चमकने लगा कि उसकी ओर देखना सूर्य मंडल की ओर देखने के ही समान मुश्किल हो गया। आँखें चौंधियाने लगी, आँखों तथा नाक से पानी बहने लगा और हिम-प्रदेश को पार करना बड़ा ही कठिन हो गया। मेरा सिर-दर्द अब और बढ़ने लगा। हमने उस कठोर हिम प्रदेश को, अति कठिन माना दर्रे को, धीरे-धीरे पार किया और दो बजे के पहले उस पार एक मनोहर मैदान में पहुँच गये।

दर्रे को किसी दुर्घटना के बिना पार कर आने पर व्यापारियों ने हमारा अभिनंदन किया और आश्वासन दिया कि बस अब कैलास-दर्शन प्राप्त हो ही गये। हमने दूसरे दिन वहाँ आराम किया। अगले दिन सवेरे बड़े-बड़े नंगे पहाड़ों के नीचे हिम या चट्टानों से हीन विशाल मैदानों से होकर त्रिविष्टप भूमि में हम फिर आगे बढ़े। थोड़ी दूर पर एक चट्टान पर अंकित श्रीराम-लक्ष्मण के घोड़ों के खुरों के निशान हमारे अनुचरों ने हमें दिखाये। इस रास्ते पर राम-लक्ष्मण की कैलास-यात्रा के स्मारक हैं अश्व-खुरों के ये चिह्न! कई ऐतिह्य एवं पुराण इसकी साक्षी देते हैं कि पुराने जमाने में कई राजर्षि तथा ब्रह्मर्षि इसी मार्ग से कैलास की यात्रा किया करते थे।

आगे बढ़े तो देखा उस विस्तृत रमणीय मैदानों में झुंड के झुंड जंगली घोड़े अपने विश्राम स्थान के पास स्वच्छंद विहार कर रहे थे। वहाँ एक दिन हमने 'शंकु' कहलानेवाले एक तरह के बाघ को भी देखा था जो जंगली घोड़ों तथा हिरणों का शिकार कर रहा था। सच तो यह है कि आहार, निद्रा आदि व्यापार तथा राग, द्वेष, भय आदि भाव सभी प्राणियों में सर्वत्र—हिम में, जल में, स्थल में, और स्वर्गलोक में, तथा ब्रह्मलोक में सदा सहज हैं।

हम यह सम्भावना न करें कि ऊपर की दुनिया के लोगों में और उच्चपद को प्राप्त लोगों में ये सब नहीं होते। भाष्यकार का सूत्र है कि "पश्वादिभिश्चाऽविशेषात्।" जब तक शरीर की चिंता है तब तक ज्ञानी और अज्ञानी के भेद के बिना मनुष्य तथा देव सब इस विषय में पशु समान ही हैं। अहो! ईश्वर का संगठन-क्रम, जिसमें कभी किसी से कोई त्रुटि नहीं होती, कितना विस्मयकारी है।

इस प्रकार परमात्मा-महिमा की याद दिलानेवाले कई विचित्र दृश्यों को देखते हुए और कई निर्जन एवं विशाल मैदानों को पार करते हुए घाट से प्रस्थान करने के चौथे दिन, अर्थात् ३० जुलाई को हम सुप्रसिद्ध थोलिंग मठ में पहुँच गये। बदरीनाथ से सिर्फ पचहत्तर या अस्सी मील की दूरी पर स्थित थोलिंग मठ में पहुँचने के लिए हमें मार्ग की कठिनता के कारण तेरह दिन लग गये। वहाँ पहुँचकर हम मठ के सामने ही रहने लगे। मठ के लामाओं की संगति के साथ हमने चार दिन आनंदपूर्वक विश्राम किया। मठ में प्रतिष्ठित कई देवमूर्तियों के प्रतिदिन दर्शन किये।

यहाँ मुख्यतः बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठित है, तथा उसके चारों ओर प्रचण्ड-रूपा काली आदि कई हिन्दू देवता प्रतिष्ठित हैं। सूक्ष्म निरीक्षण करके देखें तो ज्ञात होगा कि संसार में पहले-पीछे बने सब धर्मों के बीच संबंध है। कई स्थानों पर यह देखा गया है कि हिन्दू-देवताओं में से कई बौद्ध धर्म में तथा बौद्ध आचारों में से कई आचार हिन्दू धर्म में अन्तर्निहित हो गये हैं। छोटी सी बुद्ध-मूर्ति की ओर इशारा करते हुए उसके दर्शन करानेवाले लामा ने हमें कहा था कि यह बदरीनारायण है। यहाँ के लामाओं तथा हिमालय के नीचे के कई हिन्दू लोगों का यह विश्वास है कि थोलिंग वस्तुतः आदि-काल का बदरी है। चूंकि यह स्थान भारतवासियों के लिए अगम्य है, इसलिए नीचे बदरीनाथ का धाम बाद में बना दिया गया है। परन्तु यह धारणा मुझे ठीक नहीं जँचती। पर मैं विस्तार हो जाने के भय से इस विषय पर यहाँ प्रकाश नहीं डालना चाहता।

मिट्टी की बनी पहाड़ी कन्दराओं तथा मिट्टी के बने झोंपड़ों में रहनेवाले वहाँ के भीमाकार मनुष्य प्रतिदिन बड़ी कुतूहलता से हमारे पास आकर बैठ जाते और हमारे दर्शन करते। मठ के अधिपति बड़े लामा गरमी के दिनों में यह स्थान छोड़कर 'गरतोक्' नामक एक प्रसिद्ध स्थान के पास जाकर रहा करते थे, इसलिए हमें उनके दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला। राजनैतिक कार्यों

में भी उनका बड़ा अधिकार होता है, जो कि प्राय: उनके कर्मचारी दूसरे एक लामा द्वारा निभाया जाता है। सभी कार्यों के संचालक महोदय से हम इस मठ में कई बार मिले थे। बड़े लामा सदा भजननिष्ठ तथा भजन-रत रहते थे। तपस्या में रत तिब्बत के लामा आज के हिन्दू साधुओं की तरह अपने आप को शीघ्र कृतकृत्य नहीं मान लेते। वे आजीवन अत्यन्त नियमित भजन-कर्म में निष्ठा रखते हैं। वे कभी यह अभिमान नहीं करते कि हम मुक्त एवं अकृत्यशेष बन गये हैं।

× × ×

हिन्दू-साधु तो भजन अथवा साधना के बिना एक प्रकार का आलसी जीवन बिताते दिखायी देते हैं। हमारे साधुओं को नासमझ एवं अशिक्षित तथा समझदार एवं शिक्षित इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। परमेश्वर में श्रद्धालु उसकी भक्ति तथा भजन करनेवाले और सदाचारी व्यक्ति यद्यपि अशिक्षित-वर्ग में दिखायी पड़ते हैं, तो भी उनकी संख्या अत्यल्प है, अधिकतर लोगों की दशा शोचनीय एवं दयनीय है। वे निरालस जीवन बिता रहे हैं। शिक्षित-वर्ग में भी कुछ अनुगृहीत व्यक्तियों को छोड़ दूसरों का यह अभिमान है कि वे कुछ ग्रन्थों को पढ़ कर शास्त्र-विषय में इनी-गिनी बातें कह या लिख सकते हैं। अतः इससे उनका काम पूर्ण हो चुका है। इसलिए तीव्र साधनाओं में उनकी रुचि या प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती। वे अपने आपको जीवन्मुक्त एवं कृतकृत्य मानते हैं। यद्यपि तत्त्व-विषयक कितनी ही शंकाएँ तथा विपर्यय भावनाएँ उनके अन्दर उथल-पुथल मचाती रहती हैं तो भी वे उन सब को छिपाकर बाहर से ऐसा प्रकट करते हैं कि यथार्थ को निःशंक समझते हैं। एक सिद्ध व्यक्ति के समान वे ऐसे झूठे अभिनय के कारण, अर्थात् जल्दी ही सिद्ध बन जाने के कारण, उनकी उन्नति रुक जाती है।

पुराणों में प्रसिद्ध शुक ब्रह्म-महर्षि की गर्व-हीनता देखिए। वेदव्यास के पुत्र! जन्म लेते ही आकाश से गिरे हुए कमण्डलु तथा हरिण-चर्म धारण करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी! स्वयं ही प्रकाशमान वेद-वेदांगों से युक्त ज्ञान निधि! सब सिद्धियों को वश में किये महायोगी! इतने महान् होने पर भी तत्त्व-विषय में शंकित होने पर किसी वास्तविकता को छिपाये बिना उस शंका के सम्बन्ध में उनकी स्पष्टोक्ति! अहो उनकी भावबुद्धि कितनी महान है! फिर पिता के आदेश के अनुसार क्षत्रिय एवं गृहस्थ-धर्मी जनक के पास जाकर वह उनसे अपना संदेह स्पष्टतापूर्वक बता देते हैं और उनके उपदेश को

सिर-आँखों पर बिठाकर शंकाएँ दूर करके कृतार्थ हो जाते है। शंकालु होकर उन्होंने कभी यह अभिमान नहीं किया था कि मैं प्रबुद्ध हूँ।

शिखिध्वज की कहानी देखिए! अठारह वर्ष की कठिन तपस्या मे निमग्न वे *'कुंभ' बालक के सामने निस्संकोच यह कह देने मे नही हिचकिचाते* कि मैं अब भी तत्त्वों के अनुभव मे हीन भ्रज एव दुःखी हूँ। उन्होंने यह झूठा अभिनय नही किया कि मैं आत्मसिद्धि को प्राप्त कृतकृत्य व्यक्ति हूँ। इस कारण से वे फिर आगे साधना कर सके और सत्य वस्तु का अन्वेषण एव अनुभव कर सके।

इस तरह कई महात्माओं के चरित्र को देखे तो समझ सकते है कि मानसिक दशा को छिपाकर झूठा अभिनय करना सज्जनो के लिए अनुचित ही नही, बल्कि उन्नति के मार्ग के लिए बाधक भी होता है। प्रासगिक रूप से यहाँ इतना इसलिए कह दिया गया है कि हमारे साधुजन आलसी जीवन न बिताएँ; मिथ्या अभिनय न करें, अपने-आप को शीघ्र ही कृतकृत्य और कृतार्थ न समझने लग जाएँ तथा शुद्ध एव तीव्र भजन-साधनाओं मे हमेशा निष्ठा रखें।

●●

१६. कैलास पर्वत

> नहि पश्यामि जीवन्तं लोके कंचिदहिंसया ।
> सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥
>
> (महाभारत—शांति-पर्व)

यह किसी प्रसंग में अर्जुन ने कहा है। उनका यह कथन सत्य है कि संसार में हिंसा के बिना कोई भी प्राणी जीवन नहीं बिताता। प्राणियों की हिंसा करते हुए ही प्राणी जीवन बिताते हैं और दुर्बल जीव बलवानों के शिकार बन जाते हैं। यद्यपि बहुत पुराने जमाने से लेकर मनीषियों ने अहिंसा पर बड़ा जोर दिया है, तथापि तन, मन एवं वचन के द्वारा जाने-अनजाने संसार में प्राणियों की हिंसा सदा होती रहती है।

हिंसा प्राणियों का सहज स्वभाव है। एक के जिगर का खून चूसे बिना दूसरा मोटा नहीं होता। एक के मरे बिना दूसरा नहीं जीता। एक के सड़े बिना दूसरे की खाद नहीं बनती। एक के दुःखी हुए बिना दूसरा सुखी नहीं बनता। यह प्रकृति का सिद्ध नियम है। बड़ी मछलियों के लिए जिस ईश्वर ने छोटी मछलियों की सृष्टि की है उसके विषय में, "जीवो जीवस्य जीवनम्", इस अलंघनीय नियम को ध्यान में रखते हुए, जितना ही सोचा जाए, उतना ही वह अज्ञेय लगता है! प्रेम-निधि धर्म प्रवर्तक चाहे अहिंसा के बारे में कितने ही उपदेश क्यों न दें, तो भी ईश्वर का यह सुदृढ़ नियम कैसे बदल सकता है? संसार के आरंभ से ही विद्यमान यह नियम आचार्यों के आदेश की अवहेलना करता हुए ही मानो आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

●

यद्यपि कुछ नवीन धर्मों का यह विश्वास है कि संसार के सभी जीवों को ईश्वर ने मनुष्य के फायदे के लिए ही बनाया है, फिर भी बौद्ध धर्म का यह विश्वास नहीं है। बौद्ध धर्म ऐसे पवित्र जीवन का उपदेश देता है कि

जिस में किसी भी प्राणी की किसी प्रकार की हिंसा न हो। फिर भी, भगवान बुद्ध का ऐसा पवित्र धर्म आज कहीं भी प्रचलित दिखायी नहीं देता। विशेषत तिब्बत का बौद्ध धर्म तो तांत्रिक धर्म के साथ अधिक मेल के कारण आज बहुत दूषित हो गया है। आज तिब्बत का धर्म लामा-धर्म के नाम से बौद्ध-तांत्रिक धर्मों के मम्मिलन से बना एक विलक्षण धर्म है। अत तिब्बत देश में प्राणियों की हिंसा मे कोई सकोच नहीं है।

इसके अतिरिक्त इस देश की प्रकृति भी हिंसा की सहायक है तथा इसे और भी बढानेवाली है। भेड़ें और चमरी गाय वहाँ बहुत सुलभ है। अनाज एव शस्य तो बहुत कम है। वहाँ के विशाल ऊसर मैदान जल-शून्य हैं तथा सूखे होने के कारण खेती के बिलकुल योग्य नहीं है। इस कारण वहाँ के ज्यादातर लोग माँस पर गुजर करने के लिए मजबूर हैं। इस प्रकार धर्म एव प्रकृति-सबधी विलक्षणताओ के कारण वहाँ अज, मेष आदि की हत्या बेरोक तथा नि.सकोच रूप मे की जाती है। इन गाँवो मे सब कहीं उनकी हड्डियाँ और खुर बिखरे दिखायी देते है।

थोलिंग मठ से चलकर हम इधर-उधर कुछ गाँवो में रहे। गाँवो के आसपास के सभी स्थान राक्षसीय हिंसा की अधिकता के स्पष्ट उदाहरण थे। यद्यपि वहाँ के ग्रामीण कच्चा माँस खानेवाले राक्षसी प्रकृति के हैं और साधारण लोगो के प्रति वे निर्दय हैं, तथापि गेरुए कपड़े पहने साधुओं में उनका बड़ा प्रेम है। चूँकि वे हिन्दू साधुओं को भी लामा समझते है, इसलिए जैसे लामाओं का आदर करते है, वैसे साधुओं का भी आदर करते हैं। मार्ग मे गाँवो के ग्रामीणों ने हम साधुओं की विभिन्न प्रकार से सेवा की थी।

थोलिंग मठ से मार्ग सीधे पूरब की ओर जाता है। हिमालय की उच्चतम हिम शिखर पंक्तियो के उत्तरी ओर के मैदान से ही मार्ग ऊपर जाता है। धवलिमा के साथ अपनी किरणो को चारो ओर फैलाने वाले हिमकूटो के दर्शन अत्यत आनददायक थे। यह मैदानी मार्ग यद्यपि सुगम था, तथापि प्रचण्ड वायु का प्रहार तथा बिना पुलों की नदियाँ बहुत बडी बाधा थी। तेजी से प्रवाहमान पहाडी नदियो को कमर तक के पानी मे बार-बार उतर कर पार करना बड़ा कष्टप्रद तथा खतरनाक था।

थोलिंग मठ से लगभग तीस मील की दूरी पर 'दाप्पा' नामक गाँव है। पहाडी कन्दराओं में वर्तमान इस गाँव मे एक अच्छा आश्रम तथा बौद्ध मंदिर हैं जहाँ बहुत से लामा लोग रहते हैं। दाप्पा के पास 'नेबू' नामक एक

थे। मैं तो उस डाकू के मानसिक भावों को ताड़ लेने के लिए उसके पास जाकर बैठ गया और देर तक उससे बातें करता रहा। उसने बड़े आदर के साथ मुझसे वार्तालाप किया और यह कहते हुए कि "लामाजी ! इसे खा लीजिए" सुखाया हुआ दही मेरे सामने रखकर उसने मेरा सत्कार किया। उसके बाद मैं फिरसे अपने आसन पर आ बैठा।

रात होने पर अपने पास बैठे साधुओं को मैंने कहा कि यदि वह डाकू वहाँ से उठकर चला जाए तो इसमें सन्देह नही कि डाकुओं का दल रात में यहाँ आएगा। वह दल पास कहीं रहता होगा। यदि हमें लामा समझकर अपनी भक्ति से या हम अधिक लोगों के डर से अगर वह अपने दल को बुलाने जाता तो यहाँ डाकू नहीं आएँगे। अत. हमें यह देखते रहना चाहिए कि यह घोड़े पर चढ़कर रात में कहीं जाता है या नहीं। यदि डाकू रात में भी आ जाए तो गोली मारकर अथवा तलवार के वार से वे हम सबको मार डालना चाहेंगे। जो उन्हें सच्चे लामा लगेंगे शायद वे उन्हे छोड़ भी देंगे। जो भी हो, जब हम डाकुओं के दल को दूर से आता देखें तो अच्छा यही रहेगा कि साधन-सामग्रियां यहीं छोड़कर आत्मरक्षा के लिए कहीं दूर जा छिपें।

सभी साधुओं ने मानसिक भय से उस रात्रि को शिवरात्रि के समान बिता दिया। डाकू की चेष्टाओं का वे सूक्ष्म निरीक्षण करते रहे। कैलासपति की कृपा से, न जाने क्यों, वह उस स्थान को छोड़कर कहीं नहीं गया। रात में डाकुओं का हमला भी नहीं हुआ। वह पाँच बजे घोड़े पर चढ़कर वहाँ से चला गया। तुरन्त हमने भी तेजी से आगे की यात्रा शुरू की। चमरी गायों पर यात्रा की चीज़ों को ले जाने वाले इस देश के हमारे कर्मचारी ने कुछ आगे जाने पर हमें बताया कि "लामाजी ! कल वाले उस डाकू ने कहा था कि आज डाकू आएगे।" यह सुनकर साधु फिर भय-विह्वल हो गये। इधर-उधर डाकुओं के आने का रास्ता देखते आगे बढ़ने लगे। यह खासकर कहने की जरूरत नहीं कि वहाँ के एकांत स्थलों में जहाँ गाँवों का नामोनिशान तक नहीं है, दिन भी रात के समान ही भयानक होता है।

जब मैंने इस क्षेत्र की पहली बार यात्रा की थी तो मैं किसी विशेष साधन के बिना कहीं भी खुले मैदानों में रातें बिता दिया करता था। एक अकिंचन तथा आडम्बर-हीन साधु के रूप में मुझे डाकू आदि से महासंकट का सामना नहीं करना पड़ता था। लेकिन इस द्वितीय यात्रा में एक तो साधुओं की संख्या अधिक थी, और दूसरे उनके साथ सामान था, इसी कारण डाकुओं की कुदृष्टि पड़ जाना

स्वाभाविक था। इसलिए रास्ते में मुझे कई प्रकार के संकटों को झेलना पड़ा। एकाकी एवं अपरिग्रही की स्वतन्त्रता और आनन्द तथा मण्डली एवं सपरिग्रही की परतन्त्रता और दुःख इन दोनों के भय को मैं इन यात्राओं में अच्छी तरह समझ सका। वस्तुतः कैलाश आदि कठिन प्रदेशों में एक अकिंचन एवं तितिक्षु साधु के रूप में ही चलना सबसे उत्तम है। पहली यात्रा में जब मार्ग में मुझे कोई डाकू मिल जाता था तब वह सत्तू आदि खाने की चीजें देकर मेरी सेवा करता था। किन्तु इस बार स्थिति विपरीत थी। अतः मैं कह सकता हूं कि परिग्रह यद्यपि सुख का कारण समझा जाता है, किन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करें तो वह दुःख का ही कारण है। अस्तु !

डाकुओं के हमले के डर से अशान्त साधु लोगों को उस दिन खाना पकाने की भी सुधि न रही और वे दिन भर तेज़ी से चलते रहे। शाम के चार बजे हमें लगभग एक मील की दूरी पर एक नदी के किनारे मार्ग के निकट तीन चार सफेद छोटे-छोटे डेरे दिखायी दिये। चूंकि साधुओं के दिल में 'चोर-चोर' की भावना दृढ़ थी, इसलिए उन कपड़ों के बने घरों को देखते ही यही कहते हुए कि "लो वह, डाकुओं का निवास-स्थान है" भय-विह्वल होकर आगे जाने का साहस न कर सके और वहीं खड़े रह गये। उसी क्षेत्र के अपने साथी से जब हमने पूछा कि वे कौन होंगे तो उसका भी यही जवाब मिला कि इसका निर्णय नहीं हो सकता कि वहां कौन रहता है ?

"मैं वहां जाकर देखता हूं तुम सब यहीं खड़े रहो। मुझे विश्वास है कि डाकू मेरा कुछ नहीं बिगाड़ेंगे," मैं यह कहते हुए के तम्बू की ओर चल पड़ा। दूसरा एक साधु भी मेरे साथ साथ आगे बढ़ा। जो दीख पड़ते हैं, वे सब ईश्वर के रूप ही हैं—इसी धारणा के अनुसार सबको प्रेम रस से सींचने-वाले एक हृदय में भय आदि मलिन विकारों के लिए जगह नहीं हो सकती। लेकिन प्रेम रस का प्रवाह एक दिल में जितना ही कम होता है उतने ही मलिन विकार उसमें समाये रहते हैं। मैं निरीह बालकों के समान आनन्द के साथ उन तम्बुओं की ओर चल पड़ा।

तम्बुओं के पास चंवरी गायें और घोड़े चर रहे थे। कुछ लोग बाहर मैदान में वृत्ताकार बैठे वार्तालाप कर रहे थे। जब मैं पड़ाव के पास पहुंच गया तब वहां बैठे हुए लोगों में से एक व्यक्ति तुरत उठकर मेरी ओर दौड़े आये और प्रणाम के साथ मुझे गले से लगा लिया। मुझे देख आनन्द से वे ऊंची आवाज में हंसने लगे। यह सज्जन मेरे बहुत पुराने परिचित हृषीकेश-वासी

एक महात्मा थे, जो गंगोत्री के पास रहते थे। अब वे व्यापारियों के साथ कैलास-दर्शन करके वापस लौट रहे थे। यह उन्हीं के पड़ाव थे। जब मैं वहाँ जाकर बैठ गया तो पीछे जो साधु रुक गये थे, वे बुलाये बिना ही भी निर्भय आगे आ गये। शिव शिव! मित्रो को शत्रु समझकर सब साधु चकित रह गये।

•

वस्तुतः यह मानव की कल्पना ही है जिसके द्वारा वह किसी वस्तु को सुखदायक या दुःखदायक समझ लेता है। किन्तु ईश्वर की बनी कोई वस्तु किसी के लिए भी सुख या दुःख का कारण नहीं बनती। यह शास्त्र-सम्मत ही है कि जीवों के बने ससार को छोड़ ईश्वर का रचा जगत् सुख-दुःख का कारण नहीं है। ईश्वर का बना स्त्री का शरीर किसीको सहज रूप में सुख या दुःख प्रदान नहीं करता। जब कोई उसमे पत्नीत्व की बुद्धि अर्थात् भोग की बुद्धि रखता है, तब वह उसके लिए सुख का कारण बनता है। दूसरा कोई व्यक्ति उसमे अपनी पत्नी की कल्पना करके दुःख भोगता है। यो जीवो की कल्पना के भेद से एक ही वस्तु कुछ लोगो के लिए सुख और दूसरे कुछ लोगो के लिए दुःख का कारण बनती है। ईश्वर का बना संसार सहज रूप से किसी को सुख या दुःख नही देता। अहो! विचित्र! परम मित्रों के प्रति चोरों की कल्पना करके थोड़ी देर के लिए साधुओं ने महान् दुःख को भोगा था।

•

उस रात सब वहाँ आनन्दपूर्वक सोये और अगले दिन वहाँ से चलने लगे। वहाँ जो महात्मा हम से मिले थे, वे हमारे अनायास दर्शन पर इतने प्रसन्न हुए कि वे हमारे दल का साथ न छोड़ सके और मेरे साथ फिर कैलास-दर्शन के लिए चल पड़े। वहाँ से कई विशाल मैदानों एवं थोड़ी नदियो को पार करके दो-तीन दिनो मे हम सब सकुशल ग्यानिमा पहुँच गये। यह बर्फीले पहाड़ों की तराई में एक मैदान मे स्थित है। यहाँ ठडी हवा जोर से चलती रहती है। तीन-चार सौ वस्त्र-मडपों से भरे इस चातुर्मास नगर में देशीय नगरों की भांति लोगों की भीड़ सदा बनी रहती है और वे हमेशा अपने कामो में जुटे रहते हैं। अन्न, वस्त्र आदि जो चीजें दुर्लभ हैं, उन्हें देकर उनके बदले वहाँ के लोगों से ऊन आदि वस्तुओं को ले लेना ही वहाँ का मुख्य व्यापार है। यहाँ कई अच्छे व्यापारी रहते हैं जो भारतवर्ष की विभिन्न भाषाएँ

खूब जानते हैं। ये व्यापारी ब्रिटिश राज्य की प्रजा है, तथा साधुओं के बड़े भक्त हैं। इसलिए हमने वहाँ यहाँ दो-एक दिन बहुत सुविधा के साथ बिताये।

चूंकि अधिक साधुओं के दल के रूप में चलने में कई प्रकार के संकट आते है, और इधर भाद्रपद मास भी शुरू हो गया था, और हमें यात्रा शीघ्र पूरी करनी थी, इसलिए सिर्फ तीन-चार साधुओं के साथ मे आगे रवाना हो पड़ा। ग्यानिमा से श्री कैलास लगभग चालीस मील पूर्वोत्तर दिशा में स्थित है। ग्यानिमा से ऊपर का मार्ग यद्यपि डाकुओं का केन्द्र था तो भी हमें किसी विशेष विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा था, क्योंकि हम कुछ व्यापारियों के साथ ही चल रहे थे।

तीसरे दिन सवेरे सात बजे हम कैलास की तराई के 'दर्चन' नामक स्थान पर सानंद पहुंच गये। एक दिन का रास्ता तय करते ही हमें श्री रजत-शैल के दर्शन मिलने लगे थे। थोलिंग मठ के मार्ग से जानेवालों के लिए पहले कैलास दृष्टिगोचर होता है। अलमोड़ा के रास्ते से जानेवालों के लिए पहले मानसरोवर दिखायी देता है। 'तीर्थापुरी' नामक एक तीर्थस्थान भी ग्यानिमा से करीब सत्ताईस मील उत्तर की ओर स्थित है, जिसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि पुराण-प्रसिद्ध भस्मासुर के निधन का यही स्थान है। किंतु वहाँ जाने का हमने विचार नहीं किया।

भारतवर्ष मे हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थस्थानों मे जैसे कुंभ मेला मनाया जाता है, वैसे ही कैलास में भी बारह सालों में एक प्रकार का मेला मनाया जाता है। जिस साल हम गये थे, वह मेले का साल था। इस मेले की सूचना बदरीनाथ मे ही हमें मिल चुकी थी। उत्सव में भाग लेने की इच्छा भी उसी साल कैलास-यात्रा के लिए प्रेरक थी। यहाँ इन्हीं दिनों तिब्बत के कई लामा एवं गृहस्थों के डेरे भी जहाँ तहाँ दिखायी दे रहे थे। लासा से तिब्बत के राजा दलाई लामा के मंत्री भी इसी महोत्सव के लिए कई दिनों से कैलास पर डेरा डाले हुए थे। लामा, मंगोलिया आदि सुदूर देशों से भी कई महान लामा यहाँ पधारे हुए थे। चूंकि किन्हीं विशेष दिनों मे मेला मनाने का वहाँ कोई नियम नहीं है, इसलिए यात्री जब-तक आ जाते थे और दर्शन एवं परि-क्रमा करके दो-तीन दिन रहकर लौट जाते थे। अतः वहाँ बहुत बड़ी भीड़-भाड़ दिखायी नहीं दी। मेरी पहली यात्रा मे कैलास के नीचे के मैदान जिस प्रकार विजन एवं बिलकुल शून्य दिखायी दिये थे, मेरी इस द्वितीय यात्रा मे

उनकी वैसी स्थिति होने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। फिर भी अधिक संख्या में लोग इधर-उधर डेरा डाले हुए थे।

पहली यात्रा के विवरण मे कैलास की महिमा एव उसकी लोकोत्तर सुन्दरता के बारे मे कहा गया है कि यह स्थान समुद्र की सतह मे तेईस हजार फुट ऊँचाई पर स्थित है। इसका घेरा अठाईस-तीस मील है। यह मीनार के आकार का हिमाद्रल, धवल एव अत्यत आकर्षक एक पर्वत-शिखर है। पुराणो मे वर्णित रजत-गिरि आदि के नाम से प्रसिद्ध महादेव का स्थान यही शिखर है। अत: यहाँ उसका दोबारा वर्णन नही किया जा रहा।

दर्चेन मे उस देश के कई यात्रियो के पास हम भी तम्बू डालकर रहने लगे। दर्चेन से उत्तर की ओर अति धवल कैलास कूट का दर्शन और दक्षिण मे मे घनी नीलिमा लिये राक्षसताल का दर्शन बड़ा ही रमणीय था। राक्षसताल के पूरब का मानसरोवर वहाँ से नही दीखता था। एक दिन विश्राम करके दूसरे दिन हम खा-पीकर कैलास की परिक्रमा के लिए निकले। पहली यात्रा में स्वास्थ्य के खराब होने के कारण मैं कैलास की परिक्रमा नही कर सका था। वहाँ के लोग कैलास की परिक्रमा को यात्रा का मुख्य अग मानते हैं। लामा लोगों का यह दृढ़ विश्वास है कि कैलास जाकर उस पुण्य शिखर की कम से कम एक बार जो परिक्रमा करता है, उसका जन्म कृतार्थ हो जाता है।

कैलास की चार दिशाओं मे चार गुम्, अर्थात् लामा लोगों के चार आश्रम स्थित है। उनमें बारहो महीने लामा लोग तपस्या मे लीन रहा करते हैं। हम दस बजे परिक्रमा करने लगे। कई लामा और लामिनियाँ भी प्रदक्षिणा कर रही थी। उनमें से कुछ, अधिकतर लामिनियाँ, नमस्कार-प्रदक्षिणा की घोर तपस्या में लगी थीं। ज़मीन पर गिरकर दंड-प्रणाम करना, वहाँ से उठकर उस जगह के आगे फिर दड-प्रणाम करना और उठकर फिर आगे दंड-प्रणाम करना, यो लगातार दड-प्रणाम करते हुए पहाड़ की परिक्रमा करने की उन की महान् तपस्या को देख मेरा मन चकित हो गया। सोलह से उन्नीस हजार फुट तक के ऊँचे कैलास-प्रातो मे मिट्टी और पत्थर पर तथा जल और हिम मे यों प्रणाम करते हुए परिक्रमा करना साधारण लोगो के लिए बिल्कुल असभव है। साथ ही वे 'मामेपेमेहूँ' 'मामापेमेहूँ' के मत्र का उच्चारण भी बिना रुके, निरन्तर बड़ी तेजी से करते रहते हैं। तिब्बत के लामा और गृहस्थ सब हमेशा अपने इष्ट मत्र के जप के महायज्ञ मे श्रद्धा के साथ लगे दिखायी देते हैं। इसके अतिरिक्त इस मत्र को लिखकर उससे भरे धातु के बने एक यत्र-विशेष को हमेशा

अपने हाथ में घुमाते रहना भी उनका अनिवार्य भजन-कर्म है । मार्ग के पास के पत्थरों एवं आश्रम की दीवारों पर इस मंत्र को मोटे अक्षरों में लिखना भी वहाँ प्रचलित है । प्रणति-परिक्रमा करने वाले ये लोग इसी स्थिति में ही खाना खाते हैं । कोई यात्री इन्हें सत्तू आदि कुछ दे देता है तो उसे खाकर ये तृप्त जाते हैं । अन्यथा ये अपने साथ खाने की कोई चीज रखते दिखायी नहीं दिये । अहो ! श्रद्धा की महिमा की कोई सीमा नहीं होती । कड़ी सर्दी और पर्वतीय दशा की कठोरता के कारण जहाँ पैदल चल कर, परिक्रमा करना भी हमारे लिए असंभव लगता है वहाँ उन की ऐसी प्रणति-परिक्रमा देखकर मैं दंग रह गया और उन व्यक्तियों को प्रणाम किया ।

दर्शन से छः-सात मील की दूरी पर स्थित पहले आश्रम में, अर्थात् पश्चिमी दिशा के 'चुकु' नामक आश्रम में हम धीरे-धीरे पहुँच गये । बुद्ध मूर्ति आदि के दर्शन करते हुए हमने लामाओं के साथ वहाँ तीन-चार घंटे विश्राम किया ।

हम में भक्ति रखने वाले एक अमीर भी, जिन्हें वहाँ के लोग राजा कहते थे, सपरिवार हमारे साथ परिक्रमा करने के लिए आये थे । इसलिए हमें रास्ते में बड़ी सुविधा तथा जहाँ-तहाँ लामाओं के आश्रम में विशेष आदर मिला था ।

इसके बाद वहाँ से निकल कर लगभग पाँच मील दूर उत्तर दिशा में स्थित 'डिर फुक' नामक दूसरे आश्रम में हम लोग शाम को आ पहुँचे । वहाँ भी हमने भगवान् बुद्ध आदि के दर्शन किये और रात वहीं बितायी । रात में भयानक वर्षा एवं हिमपात हुआ । वहाँ से कैलास शिखर के निकट के अनावृत एवं संपूर्ण दर्शन मिलते हैं । जैसे यहाँ से कैलास के सुस्पष्ट दर्शन मिलते हैं वैसे और किसी स्थान से नहीं मिलते । शाम और सवेरे कैलास के पूर्ण दर्शन करने से हमें अतीव आनन्द मिला, हमारा जीवन सफल होगया ।

अगले दिन सवेरे वहाँ से चल पड़े । यहाँ से कड़ी चढ़ाई होती है । चढ़ाई पर हिम-राशि बहुत दिखायी पड़ी । उस चढ़ाई की सब से ऊँची सीमा 'डोलमा पास' कहलाता है । इस ऊँचे घाट पर 'गौरीकुंड' नामक प्रसिद्ध रमणीय सरोवर है । कहा जाता है कि वह साक्षात् श्रीगौरी की जलक्रीड़ा का स्थान है । बड़ी कठिनाई से हिमराशि को पार करते हुए हम उस स्वर्गीय सरोवर के किनारे पहुँचे । उसकी सुन्दरता में रमते हुए मैं वहाँ देर तक बैठा रहा । वह सरोवर

इधर-उधर बड़े-बड़े धवल हिम-खंडों से घिरा था। सरोवर के ऊपर शीशे के समान दो-तीन अंगुल की मोटाई में पानी जम कर बरफ बना हुआ था। उसे लकड़ी से तोड़कर और इधर-उधर हटाकर ही यात्री लोग उस सरोवर में स्नान तथा आचमन करते हैं।

दूसरे आश्रम से दस-बारह मील की दूरी पर स्थित 'युतुलफूक' नामक तीसरे गुम्फ में भी भगवान बुद्ध की पूजा आदि कृत्य बड़ी धूमधाम से सम्पन्न होते हैं। मार्ग की कठिनता तथा उस दिन खाना न मिलने के कारण थके मांदे हमने लामाओं से चाय लेकर पी ली और थोड़ी देर तक वहाँ बैठकर विश्राम किया। शाम तक वहाँ से केवल चार मील दूर दर्चन में धीरे-धीरे चल कर पहुँच गये।

यहाँ यह बात विशेषतः उल्लेख्य है कि बड़ी-बड़ी दिव्य जलधाराओं के किनारों और ऊँचे ऊँचे हिम-पर्वतों की घाटियों में साक्षात् दीखनेवाले गौरी-शंकर एवं ऋषीश्वरों के विहार-स्थानों की, तथा प्रकृति-सुषमा की परम-सीमा श्रीकैलास पर्वत की परिक्रमा करने की पुण्यतम तपस्या का वर्णन यदि सैकड़ों पुस्तकों द्वारा किया जाए तो भी वह अपूर्ण ही रह जाएगा।

हमने भाद्रमास की कृष्णाष्टमी के दिन ही कैलास की परिक्रमा पूर्ण की थी। भारतभूमि से दूसरे मार्गों के द्वारा यहाँ की यात्रा करनेवाले साधु तथा अन्य भक्त जन आषाढ़ और श्रावण के महीनों में अपनी यात्रा पूरी करके लौट गये थे। इसलिए हमने किसी भी हिन्दू यात्री को वहाँ नहीं देखा था। चूंकि बद्रीनाथ का मार्ग हिम की अधिकता से श्रावण के महीने में ही खुलता था, इसलिए हमारी यात्रा के लिए विलम्ब हो गया था। इसके अतिरिक्त अन्य मार्गों की अपेक्षा बदरी का मार्ग हिम के आधिक्य से कठिन एवं दुर्गम ही नहीं, बल्कि ज्यादा लम्बा भी है। नेपाल का मार्ग भी यद्यपि लम्बा है, तथापि हिम की कठिनाई उस मार्ग में है ही नहीं। हृषीकेश से बदरीनाथ तक एक सौ सत्तर मील की दूरी है। इसी रास्ते वहाँ से कैलास तक पहुँचने के लिए लग-भग दो सौ पाँच मील के विकट मार्ग पर चलना पड़ता है। यद्यपि हिन्दू साधुओं का समागम हमें वहाँ नहीं मिला था, तो भी बौद्ध साधुओं की संगति का सुख सुलभ था। हम दो दिन और भी कैलास पर्वत पर रहे।

दर्चन से लगभग डेढ़ मील ऊपर चढ़ते जाएँ तो वहाँ चौथा आश्रम, अर्थात् 'ग्यङ्ठा' नामक दक्षिण भाग का आश्रम दिखायी देता है। मैं दूसरे एक साधु के साथ वहाँ चढ़ता गया था। उनके पास 'ग्यिनङ्' नामक एक दूसरा

आश्रम भी है। वहाँ ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता गया, कैलास की दिव्य गरिमा की कई उच्च भावनाएँ मेरे मन में उमड़ती गयी। आश्रम के दक्षिणी दिशा की ओर देखने पर राक्षसताल आदि के दर्शन बड़े ही अपूर्व एवं अलौकिक ही कहे जा सकते हैं। पाठ में लगे हुए आश्रम के लामा लोगों ने हमें देखकर हमारा सोल्लास स्वागत किया और अपने उच्च आसनो पर बिठाया। जिन उच्च आसनो पर बैठकर लामा लोग भजन करते हैं, उन पर बड़े बड़े गृहस्थ भी नहीं बैठा करते। भारतवर्ष के सन्यासियों के समान तिब्बत के लामा भी दूसरे आश्रमियों के लिए गुरु एवं पूज्य होते है। किंतु भारत से जानेवाले कषाय-धारी साधुओं को वहाँ के लोग अपने समान ही उच्च आसन पर बिठाकर उनका आदर करते है, क्योकि वे जानते हैं कि ये भी लामा है।

बुद्ध-मूर्ति आदि के दर्शन करके मैं वहाँ के बड़े लामा के साथ देर तक धार्मिक वार्तालाप करता रहा। मेरी इच्छा जानकर उन्होंने कई महान् ग्रंथ भी मुझे दिखाये थे। बड़े लामा युवक, सुन्दर तथा तेजस्वी थे। उनकी वर्ण-कान्ति भी आकर्षक थी।

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणान्तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॥

महाभारत के उक्त प्रसिद्ध कथन को प्रमाण मानें तो पीले वर्ण की मिलावट होने पर भी मुख्यतः गौर वर्ण के वे लोग ब्राह्मणो के वर्ग मे आ सकते है। इतना ही नही, वे बड़े ही सात्विक भी दिखायी पड़े। दूसरे कुछ लोगों ने भी उनकी शुद्ध प्रकृति एवं भजन-निष्ठा की प्रशंसा की थी। सात्त्विक गुणों की संपत्ति के द्वारा भी वे एक ब्राह्मण गिने जा सकते थे।

× × ×

हमारे पूर्वजो का यह सिद्धांत सत्य ही है कि ब्राह्मण ही सन्यास के अधिकारी हैं। ये सबके लिए माननीय हैं। परन्तु विवाद का विषय यह है कि ब्राह्मण कौन है? यदि इस पक्ष के सहारे विचार करेंगे कि जो सात्त्विक प्रकृति है, वही ब्राह्मण है, तो हम यह पाएँगे कि सन्यास की इच्छा, सन्यास-कर्म एवं ईश्वरीय जीवन एक ब्राह्मण को छोड़ और किसी के लायक नहीं हो सकते। यदि कोई सात्त्विक गुणो एवं अध्यात्म-संस्कृति के बिना किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सन्यास लेता है तो वह सन्यासी नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो चूंकि सभी उत्तम संन्यासी सत्त्वगुणी ही होंगे, इसलिए ब्राह्मणत्व भी निस्सदेह

उनको सिद्ध हो जाता है। अत बौद्ध धर्म मे, इस्लाम धर्म मे, ईसाई धर्म में अथवा और किसी भी धर्म मे, यदि सात्विक-वृत्ति हो तो वे सभी प्रस्तुत मत के अनुसार उत्तम ब्राह्मण ही हैं। किन्तु गुणों के आधार पर वर्ण-विभाजन करने का यह मत यद्यपि पहले की तरह आज भी सर्वमान्य नही हुआ है, तथापि वह न्याय के अनुकूल है, और इसलिए सनातन होकर विराजता आ रहा है।

कैलाश पर्वत के बीच ऊँचे विशाल मैदान मे तथा विदूरता एव निगूढ़ता मे विराजमान उस आश्रम की प्रशात-गभीर स्थिति ने मेरे मन मे बड़ी विचित्रता और शान्ति को पैदा कर दिया। यद्यपि लामा लोग ज्ञान-चर्चा और ध्यान-समाधि में लगे नही दिखायी देते; पाठ-पूजा आदि ही उनका मुख्य भजन है, तो भी उन्होने अपने आश्रम बड़े एकात स्थान मे बनवाये हैं। सासारिक प्रलोभनों से दूर रहकर विरक्त जीवन बिताना लामाओ का मुख्य धर्म है। आज भी वहाँ दिखायी पड़ने वाली एकात जीवन आदि की कई उपादेय मर्यादाएं इस तथ्य का प्रमाण हैं कि किसी समय सन्यास-कर्म अपने सभी कठोर नियमों के साथ तिब्बत देश मे प्रचलित था।

इतिहास मे यह देखा जा सकता है कि एक-एक काल मे एव एक-एक देश मे केवल एक-एक धर्म ही मुख्य रूप मे प्रचलित रहा है। बुद्ध धर्म एव हिन्दू-धर्म मे किसी समय सन्यास-धर्म तथा विरक्त जीवन मुख्य और पूज्य माना जाता था। कुछ इतिहासकार प्रमाण के साथ इस बात का समर्थन करते हैं कि वैदिक, कर्मनिष्ठ तथा भजनशील हिन्दुओ के धर्म मे बौद्ध-धर्म की छाया पर चलने से ही कर्म-त्याग रूपी सन्यास को इतनी प्रधानता मिल सकी थी तथा इसका इतना प्रचार हो सका था।

जैसे आज के नवीन शिक्षितो का आक्षेप है कि कर्म-त्याग श्रेयस्कर नहीं है, वैसे ही पुराने ज़माने में भी कई सप्रदाय के लोगो का यह तर्क था कि संन्यास-मार्ग अशास्त्रीय एवं अविहित है। शास्त्रों में वे लोग 'समुच्चयवादी' कहे जाते हैं, जिन्होने यह प्रबल तर्क दिया था कि ब्रह्मज्ञान को ही मोक्ष का साधन मान लें तो भी वह कर्म का सहकारी होकर मोक्ष को प्रदान करता है और कर्म एवं ज्ञान के बीच कोई विरोध नही है।

लेकिन सन्यास-पक्ष के लोगों ने उस तर्क का शतश: का खडन किया था। उनका सिद्धान्त है कि केवल यह कह देना ब्रह्मज्ञान नही है कि "मैं ब्रह्म हूँ ?" अपितु शम, दम, तितिक्षा आदि साधनो के साथ दीर्घकाल तक एकान्त

देश में रहकर ब्रह्म का अभ्यास किये बिना ब्रह्म का निर्णय असंभव है। 'मैं देह हूँ' का विपर्यय ज्ञान, दिन-रात देह का अभिमान करते हुए और नाना प्रकार के कर्मों में डूबे हुए कभी एक बार 'मैं ब्रह्म हूँ' कह देने-मात्र से—इतनी आसानी से—नष्ट नहीं हो सकता। कारण यह है कि साधकों के लिए कर्म-त्याग का निर्विशेष सन्यासाश्रम अनिवार्य हो जाता है। फिर सिद्ध बुद्धों के लिए तो सन्यास स्वतः सिद्ध है।

ब्रह्मनिष्ठा में रमनेवाले तो सन्यासी है ही, ब्रह्मनिष्ठा ब्रह्माकार मनोवृत्ति का प्रवाह है। जिस मन में आत्माकार-वृत्ति अर्थात् सहज समाधि का प्रवाह हो रहा है, उसमें देह आदि अनात्म-पदार्थों का अभिमान भला कैसे पैदा हो सकता है? आत्मा का अभिमान तथा अनात्मा का अभिमान—ये दोनों एक सी प्रवृत्तियाँ एक-साथ नहीं हो सकती। देह आदि में दृढ़ अभिमान के बिना उसके व्यवहार कैसे संभव हो सकते है? इस प्रकार ज्ञान-निष्ठा में आरूढ़ सिद्धों के पास लौकिक व्यवहार की गंध तक नहीं पहुँच पाती। इसी लिए उन्हें सन्यास-धर्म स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वे संन्यास-पक्ष का प्रबल रूप से समर्थन करते है कि साधन की दशा में कर्म-त्याग रूपी सन्यास आवश्यक कर्तव्य है। सिद्ध की दशा में तो यह स्वतःप्राप्त है, अतः कर्म एवं ज्ञान एक ही अधिकरण में स्थित नहीं हो सकते। जनक, विदुर आदि के कर्म केवल कर्माभास थे और केवल भोगोन्मुख विषयी लोग ही चिरकाल से चली आनेवाली सन्यास-मर्यादा का निषेध करते है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि बौद्ध धर्म में भी यह सिद्धांत है कि सदा विषयोन्मुख होकर चलने वाले मन एवं ज्ञानेन्द्रियों को रोककर पारलौकिक अनुष्ठानों को निर्विशेष रूप से निभाने के लिए यतित्व तथा एकांत देश का निवास अनिवार्य है, और उस सिद्धांत के फलस्वरूप ही तिब्बत आदि बौद्ध देशों में सन्यास-पद्धति बहुत प्रचलित दिखायी देती है। बौद्ध धर्म भी दृढ़ रूप से इस पर विश्वास रखता है कि गृहस्थ-जीवन धोखा तथा पापों से भरा है।

किन्तु प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों कालों में कई कर्मनिष्ठ लोगों की यह सदा जिज्ञासा रही है कि यों व्यवहार और संसार को छोड़ कर एकांत देश में भजन-समाधि में निमग्न रहनेवाले लोगों से इस संसार का, जो कि कर्म-जटिल है, कर्म पर आधारित है तथा कर्म से ही चलायमान है, भला क्या लाभ होता है? निवृत्तिवादी लोगों के लिए इस प्रश्न का उत्तर सरल है।

उनकी अचचल निष्कर्म-स्थिति ही सन्यास के लिए बड़ी उपकारी है। उनका *निर्विकल्प समाधि-भाव ही दुनिया में बड़े बड़े पंडितों के दिये अनेकानेक* प्रभावशाली व्याख्यानों तथा उनके लिखे अनगिनत महान् ग्रंथों से बढ़कर संसार को प्रभावित करता है और उसके द्वारा संसार का उद्धार करता है। उनका सकल्प-हीन निष्कर्म भाव ही दुनिया में द्रुत गति से होनेवाले कर्म-कलापों से भी बढ़कर संसार का उपकार करता है तथा उसे प्रोत्साहन प्रदान करता है। इतना ही नहीं, वह समुद्र से भी अधिक अपार है, तथा चतुरंगिणी सेना से भी अधिक शक्तिशाली है।

●●

१७. मानसरोवर

: १ :

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नम्
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम् ।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥

यह श्रीमद्भागवत का एक सरस एवं प्रसिद्ध श्लोक है। कहा जाता है कि अप्सराएँ मानसरोवर में नग्न होकर स्नान किया करती थीं। ऐसे ही एक अवसर पर शुक सामने की ओर से और व्यास पीछे की ओर से मानस के किनारे से होकर ऊपर जा रहे थे। शुक यद्यपि नग्न थे तो भी चित्र-सदृश उन्हें देखकर देवियाँ लज्जित नहीं हुईं, किन्तु व्यास यद्यपि नंगे न थे, तो भी उन्हें देख स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं और उन्होंने जल्दी कपड़े पहन लिये। यह देख चकित व्यास मुनि ने इसका कारण पूछा तो देवाङ्गनाओं ने उत्तर दिया कि 'आपके मन में अब भी स्त्री-पुरुष का भेद है। किन्तु ब्रह्ममात्र की दृष्टि रखनेवाले आपके पुत्र में उस भेद की लेशमात्र भी प्रतीति नहीं है।' इस प्रकार जिन विवेकशालिनी अप्सराओं के बारे में यह वर्णन किया गया है कि वे मानसरोवर में स्नान करती थीं क्या वे उसी देश की नारियाँ होंगी? माना जाता है कि अप्सरोवृत्ति नारियाँ प्राचीनकाल में यहाँ बहुत थीं। धर्म और अधर्म की चिंता किये बिना मांस, मद्य एवं मैथुन में अधिक रमकर, आनंद भोगने का भोगोन्मुख जीवन आज भी यहाँ साधारण लोगों के बीच कम नहीं है।

कुछ अन्य पुराणों में यह भी उल्लिखित है कि यक्ष, किन्नर, अप्सरा, गंधर्व आदि देववर्गों से कैलास की गुफाएँ तथा आसपास की भूमि आबाद है। आकृति, प्रकृति एवं व्यवहार में जो हम भारतीयों से ज़रा भी समता नहीं रखते, जो हमारे जैसे पाप-भीरु नहीं हैं और जो भोग-विलास में रमते जीवन बिताते हैं, उन तिब्बत-निवासियों का यदि मनुष्य-वर्ग से पृथक् देवयोनि

के रूप में पौराणिकों ने वर्णन किया तो वह अनुचित नहीं है। पुराणों में यह प्रसिद्ध ही है कि भारतवर्ष के उत्तर के किन्नर आदि वर्गों में वर्णाश्रम आदि की मर्यादा, कर्म का अधिकार अथवा धर्म और अधर्म की चिंता नहीं थी। यदि आज तिब्बत में परलोक की चिंता एवं धर्म-चिंता प्रचलित दिखायी देती है तो यह अनुमान करना गलत न होगा कि वह बौद्ध-धर्म के प्रचार का ही सुपरिणाम है।

इस प्रकार अमानुष-मनुष्य त्रिविष्टप के निवासी—अर्थात् पौराणिकों की दृष्टि में अमानुष तथा आधुनिक दृष्टि में मनुष्य—तिब्बत देश के रहनेवाले स्त्री-पुरुष, इस साल मेले के कारण कैलास की तराई एवं मानस के तट पर अधिक संख्या में दिखायी दे रहे थे। कैलास की परिक्रमा में जब मैं दूसरे 'गुम्मे' में एक रात रहा था, तब वहाँ बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठित थी, उस रमणीय एवं बुद्धमूर्ति के सामने वहाँ के पुजारी लामा के साथ रात के बारह बजे तक मैं चिन्तनात्मक बातें करता रहा। रात के दस बजे तक अनेक स्त्री-पुरुषों को कई उपहारों के साथ भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए आते देखा। उस साल बहुत अधिक लोग सरोवर की परिक्रमा करते भी दिखायी दिये। लासा से आये हुए एक बड़े तेजस्वी लामा तथा उनके शिष्यों के एक दल को हमने सरोवर के किनारे देखा था। हमें देखते ही उन्होंने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। हमने उन प्रभावशाली व्यक्ति को प्रणाम किया। सब लोग मैदान में देर तक बैठे रहे और धार्मिक चर्चा करते रहे। कुछ मिठाइयाँ देकर हमने उन का सत्कार किया और उनके दर्शन से अति आनन्दित हुए।

परिक्रमा आदि के लिए कैलास के पास हमने पाँच दिन बिताये। बाद में हम मानसरोवर की ओर निकले। जब हम कैलास के पास रहते थे तो उन दिनों उस देश के कई लोग—सुलक्षणी और कुलक्षणी लोग—हमारे डेरों के पास आकर गौर से हमारी ओर देखा करते थे। चूंकि कैलास और मानसरोवर के निकटवर्ती देश डाकुओं के लिए मशहूर थे, इसलिए हमारा ख्याल था कि इन घूरनेवाले लोगों में डाकू भी होंगे।

× × ×

ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य-वर्ग एक विलक्षण सृष्टि है। दूसरे सभी प्राणी अन्दर और बाहर एकरूप के होते हैं, अर्थात् अन्दर जो भाव है, वही मुख पर स्पष्ट दिखायी पड़ेगा। उनके अन्दर यदि अनुराग का भाव है तो वही भाव मुख आदि बाहरी अंगों से भी प्रकट होगा। यदि द्वेष है तो द्वेष, दु:ख

है तो दुख और मुख है तो मुख उसी प्रकार बाहर भी प्रकट दीखेंगे। वे अपने अन्दर के भाव को छिपाने की न इच्छा करते है और न चेष्टा। परन्तु केवल मनुष्यो की ही सृष्टि परमात्मा ने वैसी नहीं की है। मनुष्य अपने वास्तविक भाव को छिपा सकता है। अन्दर के भाव को छिपाता ही नहीं, बिल्कुल विपरीत भाव को भी प्रकट कर सकता है। यद्यपि वह आन्तरिक रूप से तो अनुरक्त होता है, किन्तु बाहर चेहरे के भावों, वेष भूषा आदि तथा आचरणो से विरक्त भाव का अभिनय कर सकता है। अन्दर से शत्रु है तो भी बाहर मित्रता का भाव प्रकट कर सकता है। अन्दर से क्रुद्ध होने पर भी बाहर प्रसन्न होने का भाव दिखा सकता है। अहो ! मनुष्य-सृष्टि बड़ी विचित्र ही कही जा सकती है।

यद्यपि विद्वान् लोग मानव-जन्म की यह प्रशंसा किया करते हैं कि यह पशु-पक्षी आदि सभी के जन्मो से श्रेष्ठ है, तथापि उन्हें यह भी स्वीकार करना होगा कि मनुष्य का शरीर कुटिलता, अपवित्रता तथा झूठे आचरणो का आकार है। प्रासंगिक बातो को छोड़ अब हम प्रकृत विषय पर आएँ।

× × ×

हमे आशंका थी कि यो मित्र-भाव एवं उदासीन भाव मे आकर हमसे मिलनेवाले लोगो मे धोखेबाज तथा डाकू लोग भी होंगे और इसी कारण हम आगे की यात्रा के बारे मे गहरी चिंता मे डूबे रहे। फिर भी ईश्वर की कृपा से हमें नीचे की ओर जानेवाले कुछ व्यापारियों का साथ मिल गया, और इसलिए उनके साथ चिंता एवं कष्टो के बिना हम कैलास से मानसरोवर के मार्ग मे नीचे की ओर चलने लगे।

कैलास से दक्षिण-पूरब की ओर स्थित मानस के किनारे तक लगभग पन्द्रह मील की दूरी है। पहले दिन रजतगिरि के नीचे विशाल मैदान से राक्षसताल मे गिरनेवाली कई जलधाराओं को पार कर शाम को हम 'वर्क' नामक छोटे गाँव के पास पहुँच गये। अगले दिन सवेरे राक्षसताल के किनारे से पूरब की ओर यात्रा करके तीन चार घंटो मे सरोवर के पश्चिमोत्तरी कोने के 'चीयू' नामक गुम्बे मे पहुँच गये। सरोवर की आठ दिशाओं में जो आठ आश्रम हैं, उनमें से एक यही गुम्बा है।

राक्षसताल तथा मानसरोवर के बीच मे स्थित इस मनोहारी गुम्बे मे वहाँ के लामा के पास बैठकर हमने थोड़ी देर तक विश्राम किया। इसी गुम्बे से मानसरोवर के दिव्य-दर्शन भी संपूर्ण रूप से हो जाते हैं। अहा ! जिसकी

महिमा एवं सौन्दर्य का पुराने बौद्ध ग्रंथों और हिन्दू ग्रंथों में नाना प्रकार का वर्णन किया गया है, आधुनिक काल के विदेशी भी जिसकी सुन्दरता को सुन उस पर मोहित हो जाते हैं, और अन्वेषक यात्री जिसे एक बार देखकर कृतकृत्य होना चाहते हैं, उस अति दिव्य मानसरोवर को मैं अपनी क्षुद्र वाणी से भला कैसे पाठकों के मन पर समग्र रूप से प्रतिबिम्बित कर सकता हूँ ? संक्षेप में यही कह सकता हूँ कि हृदय को बलात् आकृष्ट करने वाली संसार की शोभायमान वस्तुओं में से यह सबसे बढ़कर है। मैं यह नहीं मान सकता कि इस पुराण-प्रसिद्ध मानसरोवर की रमणीयता की तुलना में संसार में और कोई रमणीय वस्तु विद्यमान है—ऐसे मानसरोवर की तुलना में जो समुद्र की सतह से करीब सोलह हज़ार फुट की ऊँचाई पर हिमाच्छन्न शिखरों तथा कृष्ण-शिलाओं वाले नंगे पहाड़ों से घिरा हुआ है, जो ऊँची लहरें मारते हुए समुद्र के समान शब्दायमान होता हुआ भी हवा के न चलने के कारण जिसका नील-निर्मल जल बड़ा ही शान्त है। अनेक छोटे-छोटे हंस इस बार भी हमें इधर-उधर विहार करते दिखायी दिये थे। इनकी आकृति हमारे यहाँ के बत्तखों से मिलती-जुलती है।

गुम्फे में ज़रा विश्राम करके हम स्नान के लिए नीचे उतरे। 'गंगाचू' नामक सतलज की मूल धारा के पास तट के निर्मल एवं मनोहारी जल में उतरकर हमने धीरे-धीरे आनंद के साथ स्नान किया। गंगोत्री के गंगा के जल, केदार की मंदाकिनी के जल तथा बदरी की अलकनंदा के जल की अपेक्षा मानस का जल कम शीतल है। इसका कारण यह है कि मानस का जल अन्य उक्त नदियों के जल के समान प्रवाहमान न होकर एक स्थान पर स्थिर रहता है। अतः इसके समग्र धरातल पर सूर्य की किरणें पड़ती रहती है। अतः इसमें दो तीन मिनट तक खड़े होकर धीरे-धीरे शरीर को धोते हुए गोता लगाने में कोई कठिनाई नहीं होती। गंगोत्री आदि में गंगा आदि के जल में दस-पन्द्रह सेकेंड भी खड़ा रहना एक घोर तपस्या के समान है।

स्नान के बाद जल के पास ही बैठे बड़ी देर तक हम जप आदि भजनों में प्रवृत्त रहे। दो बजे के बाद हम वहाँ से ऊपर चढ़ गये जहाँ व्यापारी लोग खाना पका रहे थे और वहाँ खाना खाकर विश्राम करते रहे। व्यापारियों की इस बात को मानकर कि यहाँ डाकुओं का डर अधिक है, इसलिए थोड़ी दूर आगे चलने पर गड़रियों के जो पड़ाव दिखायी पड़ेंगे, उनके पास रात को विश्राम करना ही श्रेयस्कर है—हम तीन बजते-बजते सरोवर के

पश्चिमी किनारे से हमको सुषमा निहारते-निहारते आगे तीन-चार मील चलते गये और सरोवर के बहुत ही निकट एक विशाल स्थान पर शाम को हमने डेरे डाल दिये।

सन्ध्या-समय मानसरोवर की शान्तिदायक सुषमा प्रकृति के चित्त को ब्रह्म-समाधि की ओर उन्मुख करनेवाली थी। यद्यपि सर्दी कठिन थी, तथापि मैं काफी रात गये एकाकी रूप से जल के पास बैठ विचारों में अथवा समाधि में लगा रहा। उसके बाद खाने के लिए दल में जा पहुँचा। हंसों के दल जल में विहार कर रहे थे और अपनी एक विलक्षण एवं मनोमोहक आवाजें दे रहे थे।

रात बिताकर सवेरे हम सबने बड़ी श्रद्धा से सर्दी की परवाह न करके पवित्र सरोवर में गोता लगाया। हमारे साथ के व्यापारियों ने पिछले दिन केवल सरोवर का जल अपने शरीर पर छिड़क लिया था, स्नान आदि नहीं किया था। तिब्बती लोगों को यद्यपि सरोवर के प्रति बड़ी श्रद्धा है, तथापि वे इसमें उतर कर स्नान नहीं किया करते। सरोवर के जल में ही क्यों, उन्हें किसी भी जल में नहाना पसन्द नहीं है। हाँ, सर के पानी को श्रद्धा से पी लेते हैं। ठंडा पानी वे अक्सर नहीं पिया करते, चाय बनाकर ही पिया करते हैं। उनका पूर्ण विश्वास है कि सरोवर का जल पियें तो बाघ आदि वन्य जन्तुओं तथा भूत, प्रेत, पिशाच आदि का डर नहीं रहता। सरोवर के किनारे हंसों के खाने के बाद जो मछलियों के टुकड़े पड़े रहते हैं वे उन्हें प्रसाद के रूप में अपने घर ले जाते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि उसे घर में रख लेने से बाघ, भूत, प्रेत आदि के भय से, तथा नाना प्रकार के रोग आदि के कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। अस्तु !

नहा धोकर हमने चाय बनायी और सत्तू के साथ पी लेने के बाद सरोवर के किनारे से आगे ऊपर की ओर यात्रा आरम्भ की। मानसरोवर के तट पर किसी गुफा में कुछ दिन रहने की मेरी तीव्र इच्छा थी, किन्तु दूसरे साधुओं के साथ होने के कारण मैं इसे पूरा नहीं कर सका। दल के कुछ लोगों के अस्वस्थ हो जाने के कारण मुझे भी उनके साथ जल्दी ही नीचे आ जाना पड़ा। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मानस का किनारा छोड़ धीरे-धीरे पश्चिम की ओर स्थित राक्षसताल के किनारे से होकर जाने लगा। ग्यारह बजे तक राक्षसताल के किनारे से उसके दर्शन का सुख भोगते हुए हमने उसके तट पर आराम करने के लिए डेरा डाल दिया। राक्षसताल टेढ़ा होने पर भी मानस के समान ही विशाल है तथा आनन्दोत्पादक विचित्र सुषमा लिये

हुए है। किंतु मानस के समान यह सर उतनी पवित्रता एवं श्रद्धा का तीर्थ नहीं माना जाता और उसकी पूजा या सेवा नहीं की जाती।

तीन बजे विशाल मैदानों में यात्रा शुरू करके राक्षसताल को भी पार कर हम आगे बढ़ चले और हिम-पर्वतों की तराई में एक छोटी सरिता के पास रात में रहने का निश्चय किया। यहां प्रचंड तथा असहनीय हवा चल रही थी। यद्यपि यह प्रदेश डाकुओं का केन्द्र था तो भी अधिक यात्रियों के रहने से उनका कोई उपद्रव नहीं हुआ। मेरी पहली यात्रा में इसी मैदान में शाम के समय डाकू मेरे पास आये थे और मुझे असहाय एवं अपरिग्रही देख सत्तू आदि देकर उन्होंने मेरा सत्कार किया था। निर्भय, निश्चित तथा शुद्ध जीवन के लिए ही शास्त्र सन्यासियों को अपरिग्रह की सलाह देता है। जिसमें अपरिग्रह एवं असंग की भावना है, उसे कहीं किसी प्रकार का डर नहीं हो सकता। इसके विपरीत जिसमें पदार्थों का परिग्रह है और जो परिग्रहियों का संग करता है, उसे सदा सब कहीं डर लगा रहता है।

•

उस मैदान में जो यात्री जहां-तहां रहते थे, उनमें अपनी पत्नियों के साथ आये हुए कुछ लामा भी दिखायी पड़ते थे। यदि साक्षात् भगवान के रूप में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर को भी अगनाओं ने अपने वश में कर लिया था तो उनकी तुलना में क्षुद्रजीवी लामा और सन्यासी उनके लिए कितने निस्सार हैं। कामनी एवं कंचन की मोहन-क्षमता सब देशों तथा सब कालों में एकसमान प्रभावशाली है। कैलास-भूमि हो, स्वर्ग-लोक हो अथवा मनुष्य-लोक—सब कहीं कामिनी कामिनी ही है, तथा कंचन कंचन है। कनक एवं कामिनी से विरक्त यति बौद्ध लामाओं में अथवा हिन्दू साधुओं में आजकल बहुत ही विरले हैं। इसीलिए प्रकांड पंडित मंडनमिश्र ने सन्यास की हंसी उड़ाते हुए कहा है कि "क्व सन्यासः क्व वा कलिः"। कहां सन्यास और कहां कलि का प्रभाव! कुछ धर्म-शास्त्रकारों ने भी कलि-काल में सन्यास का निषेध किया है। उत्कट श्रद्धा एवं विशुद्ध संस्कृति के बिना वस्तुतः अपने धर्म में अचंचल निष्ठा नहीं हो सकती। श्रद्धालु कभी पतित नहीं होते। जिनमें श्रद्धा नहीं है चाहे कितने ही पंडित एवं बुद्धिमान क्यों न हों अवश्य ही भ्रष्ट हो जाते हैं। बुद्धि-शक्ति एवं पांडित्य-महिमा का अध्यात्म-साम्राज्य में कोई बड़ा मूल्य नहीं है। श्रद्धा—कभी चंचल न होनेवाली दृढ़ एवं शुद्ध श्रद्धा—अध्यात्म-साम्राज्य में केवल एक यही सबसे बढ़कर अमूल्य साधना-रत्न है। अस्तु!

भी बहुत लामा लोग रहते हैं। एक पहाड़ की कुछ ऊँचाई पर उनके एक 'शिमलिङ' नामक आश्रम में जाकर मैं कई लामाओं से मिला था। वहाँ के लोगों से राजा कहलाने वाले एक महाशय से भी मिला था, जो 'जगभग' की उपाधि से भूषित तथा वहाँ के सबसे अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली अधिकारी है। मैं उनसे पहाड़ पर स्थित उनके राजभवन में मिला था। व्यापारियों के सरकार में भी वहाँ दो दिन विश्राम किया।

हमारा उद्देश्य था कि वहाँ से 'लिप्पू' दर्रे को पार करके अलमोड़ा के मार्ग से नीचे उतरें। लिप्पु घाट की सत्रह हजार फुट की ऊँची सीमा यहाँ से केवल सात मील की दूरी पर है। उस को पार करने पर अँग्रेज द्वारा शासित देश एवं जहाँ-तहाँ कई गाँव दिखायी भी देते हैं। अगस्त की २४ वीं तारीख को सवेरे के समय खाना खाकर हम अपनी मातृभूमि भारतवर्ष के लक्ष्य में तक्लाकोट से नीचे की ओर चलने लगे। बदरीनाथ से हम जुलाई की २५वीं तारीख से तिब्बत में चलने लगे थे। इस प्रकार जुलाई की २५वीं तारीख से अगस्त की २४वीं तारीख तक पूरे एक महीने का समय विचित्र त्रिविष्टप भूमि में इधर-उधर घूमते तथा रहते हुए आनंद बिता दिया।

इसके बाद जब हम त्रिविष्टप भू-माता के चरणारविन्दों में भक्तिपूर्वक प्रणाम करके नीचे की ओर लौटने लगे तो मेरा अतृप्त मन आगे बढ़े बिना पीछे की ओर ही जा रहा था। यद्यपि शरीर तिब्बत को त्यागकर आगे बढ़ रहा था, तथापि मन उसे त्यागने की इच्छा नहीं कर रहा था सौन्दर्य की प्रतिमा तिब्बत भूमि में शांति, गंभीरता एवं पवित्रता के अनन्त साम्राज्य में— मेरा मन को अतिशय आनन्द मिला था इसलिए मैं उसके वियोग में उसी तरह *बड़ा ही व्याकुल हुआ था जिस प्रकार एक बालक प्रिय जननी के वियोग* में होता है, अथवा एक कामुक अपनी प्यारी कामिनी के विरह में होता है। क्या करें? ईश्वर की आज्ञा माने बिना मुझ जैसे क्षुद्र जीवों में कौन-सी स्वतन्त्रता है?

भाद्रपद मास के होने के कारण तथा उस साल शीतकाल में अधिक वर्षा के न होने के कारण लिप्पु घाट में अधिक बरफ नहीं थी। अतः घाट को पार करने में हमें कोई कष्ट नहीं हुआ था। पहली यात्रा में एक तो प्रारम्भ में शरीर के अस्वस्थ होने के कारण तथा दूसरे वर्षा के अधिक होने के कारण मैंने कठिनाइयों का सामना करते हुए लिप्पु घाट को पार किया था। किन्तु इस बार उन्हीं कष्टों को नहीं भोगना पड़ा। दसवें दिन हम धारचूला पहुँच गये

जो तवला से लब्बे मील की दूरी पर है। प्रथम यात्रा में तवलाकोट से अलमोड़ा पहुँचने में अस्वस्थता के कारण मुझे एक महीने से अधिक समय लगा था।

वेणीनाग से मेरे सब साथियों को अलमोड़ा के द्वारा नीचे उतर कर रेलगाड़ी में हृषीकेश जाने की अनुमति देकर अब मैं पहाड़ के रास्ते पैदल ही हृषीकेश जानेवाले दूसरे मार्ग पर अकेला चलने लगा। मेरा मन राजसी रेल-यात्रा की अपेक्षा सात्त्विक पहाड़ी यात्रा को अधिक पसन्द करता है। वेणीनाग से निकल कर मैं दूसरे दिन 'वागेश्वर' नामक एक प्रसिद्ध पुण्य-स्थान पर जा पहुँचा, जो सरयू के किनारे पर है। इन एकांत एवं सुन्दर वनांतरों में यह मेरी एकान्त यात्रा अति आनंददायक थी। किसी भी मानसिक चंचलता के बिना परमानन्द के सागर मे तैरते हुए मैं वनों-पहाड़ों को धीरे-धीरे पार करता रहा था। सरयू-तीर्थ का सेवन करते मैं वागेश्वर के मन्दिर मे एक सप्ताह रहा। उस रमणीय धाम मे कई साधु आनंदपूर्वक जीवन बिताते दिखायी दिये। पुण्य-सलिला सरयू की उत्पत्ति का स्थान 'सरयू-मूल' नामक तीर्थ यहाँ से लगभग तीस मील उत्तर की ओर स्थित है।

वागेश्वर से निकलकर कई मनोहारी महीधरों, काननों तथा बीच-बीच मे अनेक गाँवों को लाँघते हुए नवें दिन मैं बदरीनाथ के मार्ग में अलकनन्दा एवं पिंडरा नदी के संगम कर्णप्रयाग मे पहुँच गया। हृषीकेश वहाँ से लगभग सौ मील नीचे की ओर है। यह मेरा चिर-परिचित मार्ग है, इसलिए जहाँ-तहाँ के रमणीय स्थानों मे कई दिनों तक रहकर विश्राम करते हुए बहुत धीरे यात्रा कर कार्तिक के महीने में मैं हृषीकेश क्षेत्र मे आ पहुँचा।

इस प्रकार कैलासपति की प्रेरणा से अविचारित रूप से कैलास की जो दूसरी यात्रा मैंने शुरू की थी वह उसी कैलासपति की ही कृपा से प्रथम यात्रा के समान ही शारीरिक कष्टों के बिना, सुगम एवं सुमंगल रूप से सम्पन्न हुई और मैं अति कृतार्थ हुआ।

: २ :

मान सरोवर कौन परसे। बिना बादल ही बरसे॥

उत्तरप्रदेश मे यह एक अमर कहावत है। इसका शाब्दिक अर्थ है कि मानसरोवर में कौन जा सकता है? वहाँ तो बादल के बिना ही हिम

बरस रहा है। किन्तु बादल के बिना हिम का बरसना उतना ही असम्भव है जितना माता के बिना पुत्र का जन्म लेना। अतः इस कहावत का भावार्थ यह है कि वहाँ निरन्तर हिमवृष्टि होती रहती है। बादल बनते दिखायी ही नहीं देते। कुछ लोग इस कहावत की व्याख्या भी करते है कि घर के बाहर सूर्य के प्रकाश में निर्मल आकाशमडल को देखता हुआ आनन्दित होने वाला कोई व्यक्ति अदर जा कर थोड़ी देर विश्राम या नीद लेकर जब फिर बाहर आता है तो देखता है कि सब कही बरफ पड़ी हुई है, पर आसमान तो बिना बादलो के ज्यो का त्यो दिखायी पडता है। अर्थात् बादलों का छा जाना, बरफ का गिरना एव काली घटाओ का हट जाना—यह सब बहुत जल्दी घटित हो जाते है। इस प्रकार इस कहावत का तात्पर्य है—हिमवृष्टि की निरन्तरता अथवा हिमवृष्टि की क्षिप्रता। निस्सन्देह मानस के प्रात-देश में हिम का साम्राज्य है।

•

हिमगिरि की आसमान को छूनेवाली पर्वतमालाओ के उस पार का मानस-प्रान्त सर्वत्र हिमाच्छादित होने के कारण पुराने जमाने में सामान्य लोगों के लिए अगम्य था। वह केवल देवो एव सिद्धो का का स्थान माना जाता था। उस समय लोग कल्पना मे भी कैलास की यात्रा करने का साहस नही करते होगे। किन्तु काल के बीतते उसकी अगम्यता धीरे-धीरे लुप्त हो गयी और तितिक्षु एव बलवान साधु बडे साहस के साथ वहाँ की यात्रा करने लगे और इस प्रकार वह प्रदेश अगम्यता के स्थान पर दुर्गमता की दशा को प्राप्त हो गया।

मैंने पहले पहल देवो के इस स्थान की यात्रा सन् १९२५ में की थी। उस यात्रा में मुझे अनिवार्य रूप से कई कठिनाइयो तथा कष्टो को झेलना पडा था। कई अवसरो पर मृत्यु का डर भी प्रत्यक्ष हो जाता था। किन्तु सन् १९-३० की दूसरी यात्रा मे पहली यात्रा की अपेक्षा मार्ग की कठिनाई बहुत कम हो गयी थी। पहली बार अन्न आदि मुफ्त मे या दाम पर भी नहीं मिलते थे, किन्तु दूसरी बार वे चीजें मिल जाती थी। लोगो का आवागमन भी रास्ते में अधिक दिखायी पड़ा था, और अब तो सामान्य रूप से कैलास के सभी मार्गों मे तथा विशेषकर अलमोड़ा से जाने वाले मार्ग मे तथा सुविधाए प्रति वर्ष बढ़ती जा रही हैं और कठिनाइयाँ कम हो रही है। दूसरे मार्गों की अपेक्षा

अलमोडा का मार्ग प्राकृतिक रूप से ही कम दूरी का एवं कम कठिनाई का है। इस सरलता के कारण आजकल उस मार्ग के द्वारा अधिक यात्री हर साल कैलास की यात्रा किया करते है।

परन्तु फिर भी कैलास का मार्ग दुर्गम ही है। किन्तु इस अनुमान मे कोई भूल नही होगी कि अनतिदूर भविष्य मे वह मार्ग धीरे-धीरे सुगम होता जाएगा। आजकल के अनेक अनुसन्धाता कैलास की तराई के बड़े विशाल 'बर्का' अथवा 'पर्का' मैदान मे हवाई जहाजों के सुन्दर अड्डे की कल्पना कर चुके हैं।

यद्यपि अनेक पूर्वी तथा पश्चिमी यात्रियो ने मानसरोवर का वर्णन कई रूपो मे किया है तो भी यह आज तक अवर्णनीय ही बना हुआ है। इसके अपार रस का मैने इन दोनो यात्राओ मे उत्सुक हृदय के साथ अतृप्त रूप से पान किया था। अहो! धन्य धन्य! मैंने स्वयमेव अपने आप की प्रशंसा की है। प्रातः सायं अरुण भगवान की अरुण किरणें जब उस सरोवर के नील-निर्मल नीर मे प्रतिबिम्बित हो कर उस विशाल सर को विभिन्न वर्णों से भरी एक निराली दिव्य सुषमा की ओर ले जाती है तो उस मनोहारी दृश्य की ओर प्रत्येक व्यक्ति के मन तथा नयनो का आकृष्ट होना नितान्त सम्भव है। इन दोनों यात्राओ में मानस के तट पर ही नही, कैलास के पास तथा मार्ग के दूसरे सुन्दर स्थानों पर भी मेरा मन आनन्दानुभूति की परमोच्च सीमा की समाहित दशा को प्राप्त हो गया था।

"प्रतिक्षण नयी नयी स्फूर्ति प्रदान करनेवाले इस स्वर्गीय सरोवर के अनुपम दृश्य को कभी तृप्त हुए बिना देख-देखकर मैं यही जीवन बिताना तथा यही मर जाना चाहता हूँ—"ये उद्गार स्वेन हेडिन नामक स्वीडन देश के पंडित के हैं, जिन्होंने सन् १९०७ में वहाँ की यात्रा करते समय इस सरोवर के दर्शन व अतृप्त आनदानुभूति का अनुभव किया था। चाहे कितने ही लोग यों इसका मनोहारी वर्णन करें, फिर भी यह आशा नही की जा सकती कि वे सब वर्णन इस सौन्दर्य-परिवार की थोड़ी-सी बिन्दुओ को छोड़ इसके समूचे शरीर को छू भी लेने मे समर्थ हो सकेंगे।

किन्तु जिन का हृदय पेडो की भाँति या बच्चो की तरह शून्य है, उन्हें इसमें कोई सौन्दर्य नही दिखायी देता। जोंको का निवास छोटी तलैया मे होता है तथा राजहंसो का निवास मानसरोवर मे—ये दोनो बातें उनके लिए एक समान हैं। हृदयशून्यता का यहाँ एक दृष्टांत दे रहा हूँ। मैने अपनी पहली यात्रा में अनेक साधुवेष-धारियों को देखा था जो कि मानसरोवर में विहार

करनेवाली मछलियों को पकड़कर पकाकर खा जाते थे। कहाँ सुन्दरता, महिमा एवं पवित्रता की चरम सीमा मानसरोवर और कहाँ उनका यह अपवित्र तथा अति नीच कुकृत्य ? उस पुण्य-राशि सरोवर की मीनों को यदि बौद्ध एवं हिन्दू लोग देवताओं के समान पूज कर प्रणाम करते हैं तो कुछ असुर-प्रकृति बुभुक्षु उन्हें केवल स्वादिष्ट मांस के रूप में ही देखते हैं। अहो ! मनुष्यों में परस्पर भावना तथा कल्पना का कितना भेद है ?

जिस प्रकार हम वेष को सरलता-पूर्वक और यथाशीघ्र बदल सकते हैं, उसी प्रकार किसी के हृदय को बदल सकना सरल नहीं है। अहा ! वेष कितना आकर्षक होता है ? अच्छा वर्ण, सुन्दर आकार और बढ़िया कपड़ा ! भस्म, चन्दन, माला केश, जटा या मुंडन ! ये सब कितने श्रेष्ठ हैं ! कितने भले लगते हैं ! किन्तु हाय ! दिल कितना घृणित है, कितना मलिन ! दिल में ऐसा एक भी भाव नहीं है जिसे भला कहा जा सके। सभी भाव दूषित एवं घृणित हैं। यह कितनी ही बड़ी लज्जा की बात है कि आध्यात्मिक जीवन या धार्मिक जीवन बिताने का अभिमान करनेवाले पूज्य वर्गों की श्रेणी में भी ऐसे कई लोग दिखायी देते हैं जो घृणा के पात्र हैं। इसके विपरीत सुन्दर वेष या वर्ण-सुषमा के बिना लौकिक जीवन बितानेवाले साधारण लोगों में भव्य भावों से भरे विशाल-हृदय वाले कई लोग मिल जाते हैं।

मानस के किनारे जब हम रास्ता भूलकर घबरा रहे थे तो थोड़ी दूर पर आग से उठनेवाले धुएँ के पास दो आदमियों को कुछ करते हुए, अस्पष्ट किन्तु शंकाहीन रूप से, हमने देख लिया। सहृदयता के दृष्टान्त के रूप में मैं यह घटना यहाँ लिख रहा हूँ, जो मानस के किनारे घटित हुई थी और जिसे मैं कभी-कभी अपने भाषणों में भी सुनाया करता हूँ। जब हम उन दोनों के पास पहुँचे तो हमें ज्ञात हुआ कि वे स्त्री तथा पुरुष हैं। वे अपने अति भीषण एवं मलिन राक्षस के वेष में हमें राक्षस या राक्षस के समान दीख पड़े। फिर भी सरोवर, सर के पक्षी, सर की मछली, सर की घास, सर के पत्थर, सर की रेत आदि—सर की प्रत्येक चीज में उनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर तथा हमारे प्रति उन्होंने जो सम्मान-भाव प्रकट किया तथा हमारे साथ जो भद्र व्यवहार किया उसे देख मुझे उनके प्रति भय नहीं, मन में आदर हुआ था। जब इस प्रकार के व्यक्ति हमारे जीवन में आते हैं तो 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' वचन अनुचित प्रतीत होने लगते हैं।

तिब्बत के लामा धार्मिक विषयों पर श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं। नयी शिक्षा तथा उस से उत्पन्न मतभेदों एवं तर्क-वितर्कों में उनकी रुचि

नहीं है। वे निडर होकर अपनी परम्पराओं का पालन करते चलते हैं। इस दृष्टि से संसार का कोई अन्य वर्ग शायद ही उनकी समता कर सकता हो।

× × ×

भारतवासी हिन्दू भी यद्यपि 'संशयात्मा विनश्यति' इस गीता-वाक्य को प्रतिदिन पढ़ते और सुनते हैं, तथापि धर्मानुष्ठान, ईश्वर-भजन आदि पारलौकिक विषयों में किसी भी रास्ते पर पैर जमाये बिना वे शंका के वन में भ्रमते रहते हैं। यदि हमारे यहां धार्मिक शिक्षा का अभाव है, अथवा हम मोक्ष की कामना को छोड़ अर्थ की कामना में लगे हुए हैं तो इसका एक कारण यह भी है कि हमारा विदेशी संस्कृति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। हमारे यहां शिक्षित और विशेषतः अल्प-शिक्षित वर्ग धर्म और ईश्वर पर शंका करते है। शंका का फल है— इह लोक एवं परलोक को बिगाड़ बैठना और यह फल इस वर्ग को भोगना पड़ता है।

विधि की विडम्बना तो यह है कि नास्तिकों की इस धारणा को भी वे स्वीकार नहीं करते कि 'सब कुछ करके भी विषयों का यथेष्ट भोग करना चाहिए।' परिणामत, इहलोक का भोग भी उन्हें नहीं मिलता। आस्तिकों की इस धारणा का तो उन्हें यथावत् ज्ञान तक नहीं है कि 'परलोक के साधक धर्मों का—यम-नियमों का अनुष्ठान करना चाहिए।' इसलिए उनका परलोक भी नहीं सुधर सकता। यों बुद्धिमान होने का गर्व करने पर भी वे नहीं जानते कि शंकालु लोगों की गति कितनी शोचनीय होती है।

यह ज्ञातव्य है कि जैसे अधिभौतिक शास्त्रों के विषय—भौतिक पदार्थ इन्द्रियों के लिए गोचर होते है, वैसे धर्मशास्त्र या अध्यात्मिक शास्त्र के विषय—अदृष्ट, स्वर्ग, आत्मा, अपवर्ग आदि इन्द्रियों के लिए गोचर नहीं होते। इन्हें आँख या नाक का विषय बना सकना बिल्कुल असम्भव है, और कर्मों का फल व शुभ और अशुभ कर्मों का फल अदृष्ट ही होता है इन्द्रियगोचर नहीं होता। ऐसे विषयों के निर्णय का उपाय है—धार्मिकता तथा अध्यात्मिकता का उच्च अनुभव तथा अलौकिक बुद्धि-सपन्न ऋषियों के उपदेशों को सुनना। इसलिए जो लोग अध्यात्म-मार्ग में प्रविष्ट होकर आगे बढ़ना चाहते हैं, उनको चाहिए कि वे अपनी बुद्धि का सम्यक् प्रयोग करते हुए भी ऋषि-प्रवरों के अनुभवों पर निःशंक रूप से श्रद्धा रखें। शंका सभी उन्नतियों को समूल नष्ट करने वाली महाशत्रु है। 'क्या इस कर्म के करने से

पुण्य मिलेगा ? क्या इस कर्म के करने से पाप होगा ? क्या शरीर में आत्मा नामक कोई है वस्तु भी ? यदि है तो उस के ज्ञान से मोक्ष कैसे मिलता ?—यों शका के ढेर के ढेर उठाये मुर्दा होकर जीवन बिताने से एक शुद्ध नास्तिक जीवन बिताना—जिस में पुण्य-पापों और आत्मा-अनात्माओं की चिंता की गंध तक न हो—कहीं अच्छा कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त तिब्बत के लामाओं में एक और महान गुण है कि वे निरंतर तपस्या के आचरण में दृढ़ता के साथ लगे रहते हैं, पर उसके प्रचार के लिए वे नहीं चल पड़ते। उनका आचरण में ही विश्वास है—उपदेश देने में नहीं। हमारे देश में भी पुराने ऋषि-पुंगवों का आचरण में ही अदम्य विश्वास था। आचरण में परम निष्ठा को प्राप्त, उनमें भी केवल इने-गिने अधिकारी व्यक्ति ही प्रचार के काम में लगे रहते थे। ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्म, वैराग्य, त्याग आदि का प्रचार लोकोपकार के उद्देश्य से ही किया जाता था न कि स्वार्थ-लाभ की इच्छा से। ज्ञान, भक्ति आदि की निष्ठा में लगे लोगों का भला स्वार्थ हो भी क्या सकता है ?

ज्ञान और वैराग्य में दृढ़ निष्ठा रखने वाले लोग यदि दूसरों में भी इन का उपदेश देकर प्रचार करें तो वह कितना लाभदायक है ? यदि अज्ञानी ज्ञान का तथा रागी वैराग्य का उपदेश दें तो वह कितना उपहासास्पद है। यह कितना अनर्थ है कि हमारे देश में, शायद विदेश-शिक्षा के संपर्क से, आज आचरण की अपेक्षा प्रचार में ज्यादा प्रयत्न दिखायी दे रहा है। हमारी श्रुतियों, स्मृतियों और हमारे आचार्यों ने हमें यही उपदेश दिया है कि सब से पहले अपना उद्धार करो। अपना उद्धार करने से पहले औरों के उद्धार की कोशिश करना ऐसे विपत्ति का कारण बन जाता है जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को राह दिखाने जाता हो। इस प्रचार के जमाने में राजनीति एवं व्यापार में जिस प्रकार मर्यादाहीन मिथ्या प्रचार होता रहता है, उसी प्रकार अध्यात्मविषय में भी अपने को बड़े ज्ञानी, भक्त तथा योगी दिखाने के निर्लज्ज प्रचार में लगे हुए 'कर्मवीर' भी यहाँ दुर्लभ नहीं हैं। यह सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि इसका एकमात्र कारण लोक-कल्याण की इच्छा नहीं, अपनी प्रतिष्ठा की उत्कट तृष्णा है। ऐसे दम्भी जन अपने अनुभव तथा निष्ठा की महिमा से नहीं, मिथ्या-प्रचार की सामर्थ्य से अपनी तपस्या योग एवं ज्ञान को महिमा तथा प्रतिष्ठा पर पहुँचा देते हैं। यदि कुछ किताबें पढ़कर ये लोग योग या ज्ञान के बारे में कुछ लिखने या कहने की

क्षमता पा जाते है तो फिर उनका अभ्यास या उन पर आचरण करते नही, फौरन उन का प्रचार करने पर तैयार हो जाते हैं। यो आचरण-हीन प्रचार के बढ जाने के कारण ही समाज मे कीर्ति-प्राप्त लोगो मे आचरण-निष्ठ धन्यात्माओ की सख्या आजकल बहुत कम दिखायी देती है। उधर प्रचार और प्रसिद्धि की इच्छा किये बिना अज्ञात रूप से जो लोग जीवन बिताते हैं। उनमें अचचल अनुष्ठान करने वाले सच्चे निष्ठावान महात्माओ की संख्या अधिक मिल जाएगी।

अहो ! दु ख ! सक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अनुभव-प्रधान अध्यात्मिक क्षेत्र मे हमारा देश कितना नीचे गिर रहा है। इधर ये लामाएँ है कि बाहरी चिंता, नाम-महिमा और प्रचार की तृष्णा अथवा अपने धार्मिक सिद्धातो मे जरा भी मतभेद या शका किये बिना भजन आदि कर्मो मे दृढ रूप मे सदा प्रवृत्त रहते हैं। उनके पवित्र जीवन के लिए मेरी वाणी 'धन्य धन्य' पुकार उठती है। किंतु शायद हमारा शिक्षित वर्ग इन्हे अशिक्षित, अज्ञ, कूप-मडूक आदि कहकर परिहास के साथ इनकी उपेक्षा करेगा। अशिक्षा, अज्ञान और विचार-हीनता का, यदि कोई अश इनमे हो तो उसका हमे समर्थन करना है। हम तो केवल उनके श्रद्धाभाव की ही प्रशसा करते है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा-सम्पन्न व्यक्ति बुद्धि-पूर्वक श्रद्धा करें और श्रद्धा की बात का बिना शका के दृढ रूप से अभ्यास कर उसे अनुभव-सिद्ध कर ले।

× × ×

मानस-प्रदेश की मार्ग-दुर्गमता ज्यो ज्यो हर साल कम होती जा रही है त्यो त्यो वहा जाने वाले शिक्षित और गवेषणा-पटु लोगो की संख्या भी बढती जा रही है। इसलिए उस प्रदेश के समाचार अधिकाधिक मिलते आ रहे है। श्रीमान स्वेन हेडिन ने जो ग्रन्थ लिखा है, उसी से हमें उस प्रदेश का थोडा सा प्रकाश मिल जाता है। परतु आज के कुछ गवेषक उनसे कई विषयो में मतभेद करते दिखायी देते हैं। सर्वसाधारण के लिए दुर्गम, अज्ञात एव अज्ञेय उस प्रदेश की भू-स्थिति आदि पर गवेषको में मतभेद हो जाए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। जब तक लोगो को वहाँ यात्रा करने की सुगमता तथा स्वेच्छा से गवेषणा करने की सुविधा नही होती तब तक वहाँ की भू-स्थिति और इतिहास पर मतैक्य नही हो सकता। अतः यह नही कहा जा सकता कि यात्रियो ने अब तक वहाँ की जो खोज की है, वह एक निश्चित एवं अन्तिम परिणाम तक पहुँच चुकी है।

कुछ आधुनिक लोगों की राय है कि कैलास पर्वत का घेरा श्री स्वेन हेडिन के कहे अनुसार अठाईस मील नहीं, बल्कि लगभग बत्तीस मील है। यह अभी तक अज्ञात है कि कैलास के उच्च शिखर पर अब तक कोई चढ़ा है या उस पर चढ़ने की अनुमति तिब्बत वालों ने किसीको दी है। पर यह अवश्य कहा जाता है कि बहुत कष्ट झेलने पर ही कैलास की चोटी की ऊंचाई पर चढ़ना संभव हो सकता है। अनुमान के द्वारा इन्होंने यह हिसाब लगाया है कि मानसरोवर का घेरा पैंतालीस मील नहीं, करीब चौवन मील है। इनका कहना है कि सरोवर का पूर्वी किनारा करीब सोलह मील लम्बा, दक्षिणी किनारा दस मील लंबा, पश्चिमी किनारा तेरह मील लंबा तथा उत्तरी किनारा पन्द्रह मील लंबा है।

तिब्बत वालों के पुराणों तथा उनकी भाषा में कैलास गिरि 'कङ्रीम पोच्छे' के नाम से प्रसिद्ध है। मानसरोवर 'सोमावाङ्' कहलाता है, और राक्षसताल 'लगवतो'। मानसरोवर के किनारे 'ग्रूसल, चियू, चेरकिप, लङ्बोणा, पणरी, सेएलङ्, यणगो और तुगुलो' के नाम के आठ गुम्मे हैं। पहली यात्रा में मैं आठवें 'तुगुलो' गुम्मे में तथा पहले 'ग्रूसल' गुम्मे में रहा था, दूसरी यात्रा में दूसरे चियू गुम्मे के दर्शन कर वहाँ मैंने कुछ घंटे तक विश्राम किया था।

कहा जाता है कि राक्षसताल के पश्चिमी किनारे पर 'सपगे' नामक एक आश्रम भी है। दिसम्बर के महीने में सरों में दो से छः फुट तक का पानी जमकर बरफ बन जाता है। मई के महीने में पिघलकर वह फिर पानी बन जाता है। कुछ प्राकृतिक कारणों से मानसरोवर की जमी हुई हिम की चट्टानें इधर-उधर निम्नोन्नत भाव में वर्तमान हैं और उनमें जहाँ-तहाँ गहरे छिद्र हो जाते हैं। इसलिए सरोवर के बीच से बड़े कष्ट एवं साहस के साथ यात्रा करनी पड़ती है। लेकिन कहा जाता है कि चूंकि राक्षसताल में ऐसे उच्च-नीच भाव तथा छिद्र बहुत कम हैं, इसलिए जाड़े के दिनों में उस पर जमे हुए हिमावरण पर से स्वच्छन्द और सुगम रूप से यात्रा की जा सकती है।

आधुनिक गवेषकों द्वारा यह निर्णय किया गया है कि तिब्बत की राजधानी लासा से श्री कैलास करीब ८०० मील है, काठमाडु से ५२५ मील अलमोड़ा से २३० मील है, बदरीनाथ से २४० मील है, बदरीनाथ से १८ मील नीचे स्थित ज्योतिर्मठ से २०० मील है, गंगोत्री से २४५ मील है, शिमला से ४८० मील है और श्रीनगर (काश्मीर) से ६०० मील है।

●●

श्रीगोमुख प्रान्त

१८. श्री गोमुख

: १ :

पुण्यवासो विशाला भूस्तदूर्ध्वं मुनिपुंगव !
दिव्यानां बहुपुण्यानामुद्यानं विद्धि नारद !
तत्र श्रीगोमुखं स्थानं साक्षाद् गंगावतारभूः ।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं पुण्यात् पुण्यतरं भुवि ॥
शैलश्च गैर्महोच्चायैर्वेष्टितं हिमशोभितैः ।
द्युलोकनिकटस्थं वै द्युलोकिभिरधिष्ठितम् ॥
तत्र प्रालेयसंघातभूषिते भुविभूषणे ।
गोमुखे गोमुखाकारमहातुहिनगह्वरात् ॥
निर्गच्छति महावेगा गंगा सुरतरंगिणी ।
पावनी पावनार्थाय पृथ्वीलोकनिवासिनाम् ॥

इस प्रकार श्रीगंगोत्तरी क्षेत्र की महिमा के वर्णन मे गोमुख स्थान का विवरण मैंने उक्त रूप में प्रस्तुत किया है। वहाँ के बडे बूढ़ों का कहना है कि गंगोत्तरी धाम मे गोमुख अठारह मील ऊपर है। लेकिन आज के सर्वेक्षण-विभाग के लोगो ने निर्णय किया है गोमुख तक दस मील से अधिक दूरी नही है।

सन् १९३२ मे मैने पहले पहल गंगोत्तरी से गोमुख की यात्रा की थी। उसके बाद १९३६ से हर साल वहाँ की यात्रा करना मेरे लिए एक पवित्र नियम बन गया। तभी से गोमुखी के अलौकिक आलोक मे आवर्जित होकर मैं उस रमणीय स्थान की कल्पना को छोड़ देने में असमर्थ रहा। आषाढ़ के मध्य से भाद्रपद के मध्य तक वहाँ का वायुमंडल अपेक्षाकृत कम शीतल रहता है। इसलिए वह समय वहाँ जाकर रहने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। इसलिए मैं प्राय इन्ही दिनों वहाँ की यात्रा किया करता था।

इस मार्ग की कठिनता तथा उसके कारण यात्रा की कठिनाई शब्दो मे प्रकट करना असभव है। नीचे बहती आती छोटी भागीरथी के आश्रय मे पहाड़ो

की बगलो से धीरे-धीरे ऊपर की ओर कदम बढ़ाने के सिवा वहाँ न कोई मार्ग है और न मार्ग पर चढ़ने की बात ही उठती है। यद्यपि वर्तमान मे यही दशा है, तथापि यह अनुमान के करना असगत नही है कि आसन्न भविष्य में इस ओर अच्छा रास्ता खुल जाएगा।

बदरीनाथ के चौखबा शिखर तक करीब सोलह मील की लबाई तथा आध मील से लेकर कही पाँच मील तक की चौडाई मे गंगोत्तरी हिमधारा के नाम से विख्यात महा हिमधारा (Glacier) वहाँ अपनी दिव्य महिमा मे विराजमान है।

यह गगोत्तरी हिमधारा दोनो ओर की रक्तवर्ण, चतुरग, स्वच्छन्दा, कीर्ति, मेरु आदि कई बडी बडी हिमधाराओ से पुष्ट होकर शिवलिग, मेरु, सुमेरु, भागीरथी आदि कई हिम-शिखरो मे अलकृत होकर ब्रह्मनिष्ठ लोगो के मन को आकृष्ट कर लेती है। इस गभीर हिमधारा का मुख-छिद्र ही गोमुख नाम से विख्यात तीर्थ है।

इसी मुख-छिद्र से त्रैलोक्य-जननी श्रीभागीरथी निकलती है। इस हिम-गुहा के उपर कही भी गगा के प्रत्यक्ष दर्शन नही मिलते। यह अनुमान किया जाता है कि विस्तृत हिम-सघातो से आच्छन्न उस प्रदेश मे अदृश्य रूप से हिम के नीचे श्री भागीरथी की जलधारा बह रही है। हिम की चट्टानो के पिघलने से जो छोटी-छोटी जलधाराएँ बहती है, वे सब गगोत्तरी मे इधर-उधर रास्ता काट कर अन्दर आ मिलती है, और सब मिलकर भागीरथी जलधारा के रूप में गोमुख स्थान मे बाहर आ प्रकट होती है। अत. यहाँ के आधुनिक लोगो ने ही नही, विदेश से आकर खोज मे लगे हुए पर्वतारोहको के दल ने भी यही निर्णय किया है कि गगोत्तरी हिम-धारा ही गगा की प्रत्यक्ष जननी है।

●

लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा वस्तु-निर्णय करनेवाले आधुनिक लोगो के इस मत से शब्द-प्रमाण के द्वारा वस्तु-निर्णय करनेवाले पौराणिक लोग सहमत नहीं है। वे गगा के उत्पत्ति-स्थान का निर्णय करने के लिए गोमुख-प्रात से फिर ऊपर की ओर चले जाते है। श्रीगगाजी विष्णु-पादी है, अर्थात् विष्णु के पाद से उत्पन्न है। पुराण वाक्यों के द्वारा उनका विश्वास है कि श्री जाह्नवी त्रिदिव लोक से उतर कर पहले श्री कैलास मे शिव की जटा पर तथा इसके बाद भू-लोक मे अवतीर्ण हुई हैं। श्री भगीरथ की तपस्या, गगा का अवतार आदि

पुराण-कथाएँ तो हिन्दुओं के बीच विश्रुत है। यद्यपि आज के प्रसिद्ध श्री कैलास से या उसके पास के मानसरोवर से भगीरथी का कोई संबंध वर्तमान काल में नहीं दिखायी देता, किन्तु फिर भी ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि पौराणिक विश्वासों के अनुसार पूर्वकाल में इन दोनों में शायद कोई संबंध रहा हो।

लेकिन उन आधुनिकों को भी, जिन का यह मत है कि गंगा के विषय में सब आख्यायिकाएँ पौराणिक एवं कल्पित हैं और गंगोतरी की हिमधारा ही गंगा का साक्षात् जन्मस्थान है, गंगा की परमेश्वरी के रूप में उपासना करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि विशिष्ट आलंबन में ईश्वर की उपासना, अर्थात् प्रतीकोपासना, वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। शालग्राम में विष्णु की उपासना कौन सनातन-धर्मी नहीं जानता। श्री भगीरथी का सर्वतोमुखी वैभव अतुल्य है।

जिस स्थान में गंगा की उत्पत्ति होती है उसकी सुन्दरता एवं महिमा तो निरतिशय है। परमेश्वर की निरतिशय सुन्दरता उस दिव्य-स्थान में समग्र रूप से प्रकाशमान है। परमेश्वर की सुन्दरता ही प्रकृति के दर्पण में प्रतिबिंबित है, अन्यथा प्रकृति की अपनी कौन-सी सुन्दरता होती है? अश्रद्धालु नास्तिक *पुरुष का चित्त भी उस अलौकिक स्थान में परमेश्वर-महिमा की भावना में प्रवृत्त* हुए बिना नहीं रहेगा। ऐसे दिव्य स्थान से निकलती हुई, समस्त आर्यावर्त को पुष्ट तथा शुद्ध करनेवाली विशिष्ट महिमाशालिनी श्री गंगा माता की परमेश्वरी रूप में उपासना कैसे अनुचित हो सकती है? और आस्तिक लोगों के लिए तो भागीरथी स्वयं वैकुंठ-पाद से निकलने वाली हो अथवा गंगोतरी हिम-धारा से, यह दोनों रूपों में ही पतित-पावनी हैं, परब्रह्म-स्वरूपिणी हैं तथा जगज्जननी है। इसी विचार को मन में रखकर ही मैंने श्री गंगास्तोत्र में इस *प्रकार पद्य-रचना की थी.—*

पादांगुष्ठाद्वोदिता देवी विष्णो-
र्गंगोत्तर्यां गोमुखी शृंगतो वा
गंगा गंगैवात्र बाधो न किंचित्
सर्वेशित्री सर्वदा हि स्वरूपम् !

●

गंगा के एक अनन्य उपासक के रूप में कितनी असीम श्रद्धा एवं भक्ति के साथ मैं हर साल वहाँ आकर गंगा-सेवन करता था। इतने दुर्गम स्थान पर कई खाद्य पदार्थों को कठिनाई से पकाकर भी गोमुखी गंगा के लिए नैवेद्य

अर्पण करने में मेरा मन अमित आनंद का अनुभव करता था। स्नान और भजन के बाद गंगा के निर्गम-द्वार के पास में एक विशाल एवं देवों के लिए दुर्लभ शिलासन पर बैठा-बैठा बाल-गंगा की जननी हिमसंहति को तथा आस-पास के हिम-शृंगों को प्रायः सवेरे दस बजे से शाम के चार बजे तक एक टक देख देखकर आनन्द-सागर में गोता लगाया करता था।

यहाँ अति कृतकृत्यता के साथ केवल प्रासंगिक रूप से ही यह उल्लेख कर रहा हूँ कि इस लेख के लिखने तक बारह बार अर्थात् लगभग बारह साल, गंगोत्तरी से गोमुख तक की कठिन यात्रा को सरलता से निभाकर गंगा-सेवन करने का सौभाग्य इस शरीर को प्राप्त हुआ है। मुझे विश्वास है कि वैदिक धर्म को न मानने वाले विदेशी जन और वैदिक धर्मी होने पर भी तीर्थ आदि पर विश्वास न रखनेवाले लोग भी यदि वहाँ जाए तो वहाँ की सुषमा से आकृष्ट होकर भक्तिपूर्वक गंगा को प्रणाम करेंगे, गंगाजल हाथ में लेकर सिर पर डाल लेंगे। किन्तु मैं तो गंगा को साक्षात् परमेश्वरी मानता हूँ। अतः मुझ जैसे लोग गोमुखी के दर्शन और सेवन से अत्यंत जिज्ञासु एवं आनंदित हो जाएँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

× × ×

गोमुख के पास जाकर जो मनुष्य उस अति धवल हिमप्रदेश के उन्नत हिमशिखरों की तराई में चारों ओर दृष्टि दौड़ाएगा, उसका मन संसार की सहज चिंताओं तथा दुःखों से नितान्त विमुक्त हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि वहाँ पहुँचकर मन निश्चित एवं समाहित हो जाता है। वहाँ प्रकृति की अलौकिक हिम-सुन्दरता के दर्शन से उत्पन्न एक विचित्र आनंद-रस में निमग्न होकर मन संकल्प-विकल्पों से हीन एक समाहित दशा की ओर उठ जाता है। यह आनंद पंडित-पामर, भक्त-अभक्त और ज्ञानी-अज्ञानी—सबको अनुभूत होता है।

किंतु ईश्वर-तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला ज्ञानी ही यह जानता है कि वह आनन्द शुद्ध सात्त्विक ईश्वरानंद है और वह समाधि महायोगियों से प्राप्य ईश्वर-समाधि है। दीर्घकाल की अभ्यस्त साधना के द्वारा ही सात्त्विकानंद कठिनाई से प्राप्त होता है, किन्तु वह यहाँ सरलतापूर्वक हो जाता है। इस असीम प्राकृतिक रमणीयता से उत्पन्न अलौकिक आनंद की तुलना में राजस आनन्द अति तुच्छ है। शृंगार-मूर्ति कामिनी के दर्शन से उत्पन्न राजस आनन्द की तुलना शान्त मूर्ति एक महात्मा के दर्शन से होनेवाले सात्त्विकानन्द के साथ

भला कैसे की जा सकती है ? कौन नहीं जानता कि एक अनर्थ परंपराओं का आयोजना-केन्द्र है तथा दूसरा कल्याण-परंपराओं का उद्‌गम-स्थान । यद्यपि श्री निकेतन एवं ईश्वर के हाथों सकलित ऐसे हिम-शिखरों के दर्शन से और मनुष्य के हाथों निर्मित अश्लील सिनेमा के दर्शन से आनन्द की ही प्राप्ति होती है, किन्तु दोनों में महान् भेद है। एक ईश्वर की ओर ले जानेवाला सात्त्विक आनन्द है और दूसरा ईश्वर से अधिकाधिक दूर खींच ले जानेवाला राजस आनन्द है ।

सभी प्रबुद्ध लोग जानते है कि यहाँ का एक-एक हिमकण, तथा एक-एक पाषाण-खंड, एक-एक कुसुमदल तथा एक-एक तिनका मानों उच्च स्वर में यह उपदेश दे रहा है कि शांति ही सत्य है, सत्य ही सौन्दर्य है, सौन्दर्य ही आनन्द है तथा आनन्द ही ईश्वर का तत्त्व है ।

यदि अनुभव के आधार पर मैं यह कहूँ कि शांति की निरतिशय सीमा पर चित्त को विश्राम देने के लिए प्रकृति का ऐसा दिव्य सौन्दर्य-शास्त्र के बड़े योगाभ्यासों से बढ़कर उत्तम साधन है तो नाना शास्त्रों का अध्ययन करने वाले अभिमानी पंडित तथा भगीरथ-प्रयत्न करके ध्यान आदि का अभ्यास करने वाले अभिमानी योगी उसका विरोध करेंगे, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है ।

इसी शांति-रस को पीने के लिए मैं हर साल मार्ग-दुर्गमता का सामना करते हुए भी उस स्थान पर पहुँच जाने की कोशिश करता हूँ । चिरकाल के ध्यान के अभ्यास और वासना के नाश के द्वारा साधना में निपुण योगीश्वर इसी शांति का, आनन्द का, अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं ।

शांति एक सहज रूप है । वह प्रत्येक के लिए स्वतः सिद्ध है । इसलिए उसके पाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । जो है, उसके पाने का प्रयत्न क्यों ? यह ठीक है कि शांति हमारा सहज रूप है, किन्तु अशांति से आच्छन्न होने के कारण हमें उसकी अनुभूति नहीं होती । शांति को दूर कर दो, शांति स्वयं प्रकाशित हो जाएगी । शान्ति पैदा करने में नहीं शांति को दूर करने में ही प्रयत्न करना चाहिए । प्रकाश का आकर सूर्यमंडल बादलों से ढक जाता है । बादलों के हट जाने से तत्काल सूर्यमंडल प्रकाशित हो जाता है । इसी प्रकार अशांति दूर हो तो शांति प्रकट हो जाती है ।

किन्तु अशांति का रूप क्या है ? कर्तृ-कारक-क्रिया रूप अथवा नाम-रूप-क्रिया रूप यह संसार ही अशांति है । वह कैसे ? शांति के सच्चे रूप का निद्रा की दशा में महामूर्ख भी अनुभव करता है । फिर उस दशा से जाग

उठता है। अर्थात् 'मैं, मैं' का कर्तृभाव पहले आ जाता है, इच्छा आदि प्रवृत्तियाँ पैदा होती है। इसके पश्चात् आँख, कान आदि इन्द्रियाँ जागती है और विषयो को ग्रहण करने लगती हैं। इसके साथ ही अनुकूल-प्रतिकूल आदि भाव तथा सुख दुःख आदि भोगो की कल्पना की जाती है। इस प्रकार पैदा होने वाले अहकार आदि का सघात तथा उनके विभिन्न व्यापारो का नाम अशाति है। व्यष्टि-सबन्धी इस सघात एव व्यवहार का समष्टि रूप ही तो यह ससार है। शाति, सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि शब्द एक ही वस्तु के नाम है। इसी प्रकार अशान्ति देहादि-सघात समार नाम रूप, विक्षेप, दुःख अशाति ये सब केवल एक ही शब्द के पर्यायवाची है। 'मैं और यह' का ज्ञाता एव ज्ञेय बन जाने वाला अन्तःकरण ही अशाति का बीज अथवा अशाति का रूप है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण की विभिन्न कल्पनाएँ ही अशाति है और उन का निरोध शान्ति है। मन की कल्पनाओ का निरोध शान्ति है। गम्भीर समाधि मे लीन एक मुनि के सामने बाघ भयानक गर्जन करे अथवा सुन्दरी मधुर गान करे, किन्तु मुनि का शान्ति-भग नही हो सकता। क्योंकि इस स्थिति मे उसका मन ग्राह्य विषयो को ग्रहण किये बिना समाहित एव शान्त होकर वर्तमान है। इसलिए बाहरी विषयो के होने पर भी वे मुनि के लिए नही के बराबर होते है। अतः वे उसके लिए अशाति के कारण नही बनते। इसलिए कुछ आचार्यों ने यह निर्णय किया है कि ईश्वर से रचे जगत् का नही, जीवों से रचे जगत् का, अर्थात् विभिन्न जीवन कल्पनाओं का नाश करना चाहिए, यही शाति-पद का एक मात्र साधन है।

सब शास्त्रो या सिद्धात तथा सब महात्माओ का यह अनुभव है कि मन में उत्पन्न विषयों का सकलन ही अशाति है और इसीका नाम संसार है। इन सकल्पो का अस्त होना ही शाति है और इसी का नाम मोक्ष है। इन विषयो के निरोध से शाति रूपी परम तत्त्व उसी प्रकार प्रकाशित हो जाता है जिस प्रकार बादल के हट जाने से सूर्य स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। उसी परम तत्त्व को भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने यद्यपि विभिन्न नाम दिया है, किन्तु इसमें शका नही कि यह एक ही है। नाम की विभिन्नता या विचार की विभिन्नता से वस्तु का भेद नही हो जाता।

देह, इन्द्रिय एव मन के व्यापार रूपी विक्षेप को साधना के द्वारा दूर करके चित-निरोध की दशा पर पहुँच कर नाम-रूप-विकल्पों के सम्बन्ध से हीन निरतिशय शाति का पुण्यात्मा विद्वान लोग ही अनुभव करते हैं। किन्तु

देह, इन्द्रिय एवं मन के व्यापार काल में विद्वानों की भी क्या दशा हो जाती है ? क्या वे भी मूर्खों के समान अशान्ति-मय दुःखी जीवन बिताते हैं ? कभी नहीं। अशांति में भी वे नित्य शांति का अनुभव करते हैं। शान्ति तत्त्व सदा उनकी बुद्धि में प्रकाशमान है।

इस सम्बन्ध में यह शंका की जा सकती है कि प्रकाश में अन्धकार के समान अशांति में शांति कैसे हो सकती है ? दुःख में आनन्द कैसे हो सकता है ? भयानक गर्मी में, कड़ी धूप में गहरे तालाब में कमर तक ठंडे जल में खड़े रहने वाले पुरुष के शरीर के आधे भाग में गर्मी तथा दूसरे भाग में सर्दी एक ही समय प्रतीत होती है। लंका की अशोकवाटिका में जनक-नन्दिनी राक्षसियों के बीच जहाँ नारकीय दुःख भोगती थी, वहाँ श्री रघुपति के सतत स्मरण से वह आनंद रस का भी अनुभव करती थी। वैसे ही प्रारब्ध-कर्मों से उत्पन्न मन एवं इन्द्रियों का व्यापार तथा उसके कारण होने वाले सुख-दुःख आदि यद्यपि *विद्वानों के लिए भी अनिवार्य है, तो भी ऐसे महाविक्षेप में भी शांति-तत्त्व का* साक्षात्कार किये हुए महात्माओं के लिए अभग्न रूप से सदा बुद्धि में उस के प्रकाशमान होने से शांति भी अनुभूत हो जाती है।

शांति-स्वरूप परम-तत्त्व की झलक कहें या शांति का अनुभव कहें, दोनों में अर्थ का कोई भेद नहीं है। यह आचार्य-वचन प्रसिद्ध है—

निमेषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयं विना।

अर्थात् ज्ञानी लोग ब्रह्माकार की वृत्ति के बिना आधे क्षण भी नहीं रह सकते। ब्रह्मवृत्ति ही ब्रह्म की झलक है। व्यवहार-बहुलता में भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार प्रति क्षण परिणत होकर विकृत होनेवाले चित्त में भी ब्रह्म-वृत्ति की रक्षा करना यद्यपि साधारण ज्ञानियों के लिए असंभव है तो भी श्रेष्ठ ज्ञानियों के लिए संभव ही है। कितने बड़े व्यवहारों की बहुलता में भी शरीरात्मा एवं शरीरासक्त प्राकृतों के लिए शरीर की झलक जैसे सहज है, वैसे ही ब्रह्मात्मा एवं ब्रह्मवेत्ताओं के लिए ब्रह्म की झलक भी सहज होती है। इस *सहज समाधि की उच्च भूमि पर पहुँचे हुए ईश्वर-तुल्य प्रबुद्धों के लिए* चित्त-वृत्ति के निरोध और चित्तवृत्ति के प्रसार—इन दोनों में ही समाधि होती है। समाधि-दशा और विक्षेप-दशा दोनों उन के लिए समान होती हैं। फिर भी एक में दृश्यों की अप्रतीति तथा दूसरे में उनकी प्रतीति का भेद द्वैत-दृष्टि में माना जाता है। अस्तु ! अब प्रकृत विषय पर आएँ।

× × ×

गोमुख के मैदान मे जाकर रहते हुए हिम-सुन्दरता से उत्पन्न अलौकिक आनंद तथा उस के आत्म-सुन्दरता से उत्पन्न अतिशय आनन्द को प्रति वर्ष अतृप्त रूप से भोगते हुए इस साधु के भाग्य के प्रति अन्य सन्यासी लोग यदि आश्चर्य करे तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है।

गंगोत्तरी से ऊपर की ओर दुर्गम मार्गों से खाद्य वस्तुएँ आदि ले जाना यद्यपि कष्ट साध्य है, तथापि जगन्माता भागीरथी के अनुग्रह से यह सब बेखटके हो जाता था। प्रेम-प्रवाह मे नदी-प्रवाह के ही समान कुमार्ग भी सुमार्ग बन जाता है।

दो-तीन साधु और गंगोत्तरी के गंगा के पुजारी ब्राह्मणो में दो एक युवक इस साधु के प्रति श्रद्धा-भक्ति मे प्रेरित प्रतिवर्ष गोमुख में एक साथ रहा करते थे, इसलिए खाद्य-पदार्थों के अतिरिक्त छोटे डेरो की भी आवश्यकता होती थी। कुछ लोग छोटे डेरो में और कुछ लोग वहाँ प्राप्त छोटी पाषाणी गुफाओ मे शांतिपूर्वक रहा करते थे।

शिक्षित हो या अशिक्षित, साधारणतया कोई भी मनुष्य इस दुर्गम स्थान पर आकर दो दिन भी रहने का साहस नही कर सकता। गंगोत्तरी मे आने वाले पुण्यात्मा यात्रियों मे कुछ लोग अधिक पुण्य की इच्छा मे बड़ी कठिनाई से वहाँ जाकर बाल गंगा के पानी मे एक बार गोता लगाकर लौट जाया करते हैं। सुन्दर होने पर भी रणभूमि के समान भयानक तथा हृदय को कँपाने वाले उस निर्जन स्थान मे रात बिताने का साहस साधारण मनुष्यो में कहाँ ? सामग्रियाँ कहाँ ?

वहाँ दो तरह के लोग आकर कई दिनों तक निवास किया करते हैं। एक भेड़ें चरानेवाले पहाडी लोगो का दल और दूसरा महोन्नत हिम-पर्वतो के उच्च शिखर पर, जहाँ आज तक कोई नही पहुँच सका है, चढ़ने की इच्छा मे यूरोप से आनेवाले गवेषको का दल।

भेड़ें चरानेवाले इन पहाड़ी लोगो के बारे में यही कहा जा सकता है कि वे भेडो के समान ही अत्यंत तितिक्षु हैं। रहने के डेरे या और किसी आश्रय के बिना, विशेषकर किसी ऊनी कपडे के बिना और आग जलाने के लिए ईंधन के भी बिना अपनी भेड़ों के साथ ही खुले हिम-मैदानो में पानी एवं हिम की वर्षा सहते हुए दिन-रात उनकी कठिन किंतु साधारण दैनिक वृत्ति को देखकर कठिन तितिक्षा के लिए प्रसिद्ध दिगंबरो के मन मे भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता।

नियम-पूर्वक प्रतिवर्ष वहाँ की यात्रा करने के कारण ये भेड़ें चराने वाले हमारे परिचित हो गये, और भक्तिपूर्वक बहुत-सा दूध आदि देकर हमारी परिचर्या किया करते थे। उस उन्नत हिमप्रदेश में उनका यह उपकार कितना महान् है?

किन्तु गवेषकों के दल तो गोमुख के ऊपर के प्रदेशों में दो-एक महीने जाकर रहने के लिए लाखों रुपये खर्च करते हैं। नियत भोजन आदि में कोई कमी हुए बिना वहाँ सब बना-पकाकर, खा-पीकर वे सहज राजस ढंग से अपने गवेषणा के कामों में लगे रहते हैं।

गोमुख के निकट नीचे की ओर भूर्ज वृक्षों का छोटा-सा रमणीय वन ही मेरा मुख्य वासस्थान है। उस वन से ऊपर में ईंधन बिलकुल नहीं मिलता, इसलिए कड़ी सर्दी को सहने में अभ्यस्त लोगों को छोड़ दूसरों के लिए वह रहना असंभव है।

●

तितिक्षा, शम, दम, संतोष, वैराग्य आदि ये सब इस संसार में सापेक्ष है, अर्थात् एक की अपेक्षा दूसरे में वे अधिक दिखायी दे सकते हैं। शास्त्रों का सिद्धान्त है कि विवेक से उत्पन्न तितिक्षा आदि गुण अध्यात्म-जीवन में सहायक होते है। भैंसों की तितिक्षा तथा कुत्ते का संतोष चूँकि विवेक से उत्पन्न नहीं होते, इसलिए वे अध्यात्म-भाव के गमक या जनक नहीं होते। एक गरीब व्यक्ति गरीबी के कारण जिस क्षुधा को सहन करता है, उसी को दूसरा कोई विवेकपूर्वक तपस्या के रूप में सह ले, तो वह बड़े पुण्य का साधन बन जाता है।

आध्यात्मिक उन्नति के तपोमार्गों को ईश्वर के अनुग्रह से शास्त्र द्वारा, आप्त पुरुषों अथवा वृद्ध-परंपरा के माध्यम से जानकर विवेक-पूर्वक यथाविधि उनका अनुष्ठान करने में जो लोग स्वेच्छा से नाना कष्टों को सहन करते हैं, वे ही तपस्वी कहलाते हैं। शीत आदि कष्टों को सहने का हमारा साहस आपेक्षिक रूप से उतना प्रचंड न होने पर भी तपस्या का एक रूप होने के कारण दूसरों के साहस की अपेक्षा कहीं अधिक प्रशस्त है तथा हमारे लिए गर्व करने योग्य है।

●

हमारी विश्राम-स्थली वन-कुमारी रंग-बिरंगे मनोमोहक विचित्र पुष्पों से शोभित तथा कई तृण-लता-गुल्म आदि से मंडित होकर स्वर्गीय सुषमा

धारण किये थी। गोमुख के पास की यह पहाड़ी भूमि वर्षा के दिनों में फूलों से लदी रहती है, इसीलिए वृद्धों ने इसे 'पुष्पवास मैदान' का नाम दिया है। उस मनोहारी मैदान में पर्यटन करते हुए हिम-शोभा के साथ-साथ सुमनों की सुन्दरता का भी मैं प्रतिदिन उपभोग करता रहता था।

रात रात भर पहरेदारों के समान रीछ हमारे निवास के चारों ओर निर्भय घूमते फिरते थे और स्वेच्छा से बीच-बीच में लौटकर विश्राम करते थे। दिन-रात आनंद की वर्षा करनेवाली उस दिव्य भूमि में भयानक रीछ हिंस्र जन्तुओं का हमें कोई भय नहीं था। वहाँ लाल रीछ बहुत थे। शायद इन्हें मनुष्यों पर हमला करने का अभ्यास नहीं होगा। इसी कारण वे मनुष्यों को नहीं सताते होंगे।

दिन-रात कभी-कभी कुछ लोगों की बातचीत की आवाज वहाँ ऊपर के प्रदेश में पास ही सुनायी पड़ती थी। ऐसी आवाजें कभी कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट रूप में कानों में आ जाती थी। श्रद्धावादी पुरातन लोगों का कहना है कि यह यक्ष, गंधर्व आदि देव-वर्गों का आलाप ही है जो कि सुनायी पड़ता है और बुद्धिवादी नवीन लोगों का कहना है कि यह वायु के प्रवाह के कारण पाषाण-छिद्रों से निकलने वाली आवाज ही है।

•

पुरातन लोगों की यह धारणा उपहासास्पद न होकर विचारणीय है। यक्षों की राजधानी अलकापुरी यहाँ से बहुत दूर नहीं है, बहुत पास ही है। यदि ये लोग यह विश्वास करें कि आकाशचारी यक्ष-गंधर्व लोग अपने सबसे प्यारे इन विजन-देशों में स्वच्छंद विचर रहे हैं तो इसमें क्या गलती है? यक्ष-गंधर्व और भूत-प्रेत-पिशाच आदि के बारे में हिमालय के ऊपर के देशों के रहनेवालों में जो विश्वास है, वह दृढबद्ध एवं अटूट है। वहाँ यह साधारण बात है कि उन्मत्त यक्ष युवतियाँ एकांत स्थान में पहाड़ी युवकों से मिलने पर उन पर हमला कर देती हैं। यदि कोई तर्क करे कि सचमुच यक्ष, गंधर्व आदि कोई नहीं है और उनकी कल्पना केवल अंधविश्वास है तो उन्हें ऐसा कहने दें। उनको प्रत्यक्ष देखनेवाले ये लोग भला कैसे उनके तर्क का कोई मूल्य समझें? यक्ष-गंधर्व और देवों के होने या न होने का ईश्वर ही निर्णय करें। अस्तु! न केवल ऊँचे हिमालय-प्रदेशों में, अपितु भारत के निम्न प्रदेशों तथा अन्य प्रदेशों में भी कई मनुष्य-वर्गों में इनके होने का विश्वास किया जाता है।

यद्यपि मन में भय, चिंता आदि कलुषताओं को पैदा करने वाले भालू, यक्ष-गन्धर्व, गिरने की इच्छा में खड़े पर्वततट, हिम-मचान आदि पदार्थ गोमुख के पास बहुत हैं, *तथापि हम सन्यासियों के लिए ये सब मन में बड़ी प्रसन्नता पैदा कर देते थे।*

× × ×

यह विद्वानों का मान्य कथन है कि 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्।' इसका अनुभव करके उसमें निरंतर निष्ठा करने के समान सब तापों, अनर्थों और चिंताओं को दूर करने की और कोई औषधि इस संसार में नहीं है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' का उपनिषद्-वाक्य किसने नहीं सुना होगा? *कितना ही बड़ा भय तथा कितना ही बड़ा दुःख हो वह ब्रह्मवित् की नित्य* शांति का भजन नहीं करता। जिन्होंने ईश्वर को नहीं देखा है, वे ईश्वर को *ही हमेशा सब कहीं देखते हैं। ईश्वर-तत्त्व तो आप स्वयं ही है। अपने में स्वयं* डर क्यों? दुःख क्यों? ईश्वर-तत्त्व का नित्य अनुसन्धान करने वाले तथा सब चराचरों को अविनाशी आनंदघन परमात्मा के रूप में निःशंक रूप से देखने- *वाले हम लोगों को यदि देह-चिंता में डूबे प्राकृत जनों को डराने वाले ये पदार्थ* नहीं डराते तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है?

तात्पर्य यह कि देहासक्ति के कारण ऐसे भयानक हिम-प्रदेशों में साधारण लोगों के मन में जो भय, आशंका आदि भाव उठा करते हैं, उनकी कल्पना तक हमने वहाँ नहीं की थी। सदा प्रसन्न-भाव, आनंद का भाव, उसको *छोड़ किसी अन्य भाव का अनुभव हमें वहाँ नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में शंका* की जा सकती है कि भय के अनेक कारणों के विद्यमान होने पर भी हमारी निर्भयता और प्रसन्नता हमें कैसे सुरक्षित रखेगी? इसका समाधान केवल यह है कि जैसे आसमान में उड़नेवाले पक्षियों की गति उनको छोड़ और कोई नहीं जानता, वैसे ही आंतरिक लोक में अर्थात् अध्यात्म-लोक में चलने वाले साधु- *सन्यासियों की गति सिर्फ वे ही जानते हैं, बाहरी दुनिया में अर्थात् भौतिक लोक* में भ्रमण करने वाले साधारण लोग उसे नहीं जान सकते। ज्ञानी लोगों के बीच एक प्रसिद्ध कहावत है कि ज्ञानियों को ज्ञानी ही जानते हैं।

●

*फिर भी यदि कोई शंका करे कि ईश्वरदर्शी सदा सब कहीं ईश्वर-*दर्शन करते हैं, इस कथन का क्या मतलब है? ईश्वर का स्वरूप क्या है?

और ईश्वर-दर्शन का रूप कैसा है ? वस्तुतः ऐसी शंकाओं का समाधान शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। ईश्वर के सच्चे रूप को शब्दों के द्वारा वर्णन करके कैसे समझा जा सकता है ? जिन्होंने उसका साक्षात्कार किया है, वे भी उसे वाणी का विषय नही बना सकते। कितना ही विस्तृत वर्णन क्यो न हो उसके तत्त्व का पूर्ण स्पर्श करने में समर्थ होना असम्भव है। अनुभव के द्वारा समझे बिना उसको जानने का और कोई उपाय नही है।

यद्यपि श्रुतियो और विद्वानो द्वारा परमात्मा का वर्णन किया गया है कि वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्त है, सृष्टि-स्थिति-संहार का कर्ता है, मधु-सागर के समान अपार माधुर्य रस की लहरी है, करोडो सूर्यों के समान उज्ज्वल तेज का पुंज है, सब चराचरो को नियम से चलाने वाला शासक है, अन्तर्यामी है, सत्य-ज्ञान-आनंद-स्वरूप है, आकाश के समान सब कही फैला हुआ है, या शब्द-स्पर्श-रूप आदि से हीन निर्गुण-स्वरूप है, तो यह माना जा सकता है कि ये सब परमात्मा के ही वर्णन हैं तथा परमात्म-तत्त्व को थोडा-बहुत समझा देने मे सहायक भी हैं, किन्तु परमात्मा तो इनके ऊपर उतने ही ऊँचे पद पर विराजमान है, जहाँ इनकी पहुँच नही हो सकती। कितना ही व्यापक और विस्तृत वर्णन किया जाए, उसकी सीमा मे परमात्मा को नही ला सकते। परमात्मा जल में पड़े तूँबी-फल के समान बड़े-से बड़े वाणी-विलास के ऊपर उठा रहता है, कभी उसके अन्दर नही फँसता। जैसे जल जितना-जितना ऊपर उमड़ता आता है, तूँबी-फल भी उतना-उतना ऊपर उठता जाता है और उसके ऊपर तैरता रहता है, वैसे ही परमात्म-स्वरूप का जितना ही वर्णन होता जाता है, उतना ही वह ऊपर उठकर सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान रहता है। वर्णन उस का स्पर्श तक नही कर सकता।

भगवान विष्णु चार भुजाओं वाले हैं, मेघ जैसे श्यामल वर्ण वाले हैं, कमलदल के समान विशाल नयनो वाले हैं, आदि उनके रूप का कितना ही वर्णन किया जाए, फिर भी उस की मनोहारिता को आँखो से देख लिये बिना -वर्णन-ऐसे समझ लेना असभव है। वर्णन सब ठीक ही है; गलत नहीं। भगवान कोई नही है ॰र भुजाएँ हैं; दो या आठ नहीं। विष्णु की मूर्त्ति श्यामल रंग उनको प्रत्यक्ष देखा लाल रंग की नही। किन्तु इन वर्णनो के पढ़ने या सुनने यक्ष-गंधर्व और देवो के ॄआकार-सुषमा को कोई कैसे जान सकता है ? विष्णु न केवल ऊँचे हिमालय-ओं से देखे बिना, अनन्य भक्तो को छोड़कर, और प्रदेशो में भी कई मनुष्य-वग, मनोहारिता की महिमा को नहीं जान सकता।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अति विलक्षण तथा अलौकिक परमात्म-तत्त्व शब्दो के व्यापारो से अद्भुत एव शब्दों द्वारा अवर्णनीय है और केवल स्वानुभव के ही योग्य है।

तब क्या श्रुतियों-स्मृतियो के परमात्मतत्त्व के बारे मे नाना प्रकार के वर्णन व्यर्थ है ? कभी नही। हमारा उद्देश्य शास्त्रो और विद्वानो द्वारा किये गये तत्त्वविवेचन के उपकार का यहाँ निषेध करना नही है। यदि ईश्वर अवर्णनीय है तो ईश्वरीय वर्णन वर्णनीय कैसे हो सकता है ? चूंकि घट का रूप कहकर समझा सकते है, इसलिए घट-दर्शन के स्वरूप के बारे मे भी किसी को कहकर समझा सकते हैं। अवर्णनीय वस्तु का दर्शन भी अवर्णनीय हैं, अत वह शब्दो का विषय नही हो सकता।

परमेश्वर-तत्त्व को देखने का साधन क्या है ? जिस प्रकार हम आंखो से घट आदि को देखते हैं, और बुद्धि से काम, क्रोध आदि को देखते है, उसी प्रकार नाम-रूपो से परे परमात्म-वस्तु को न आँखो से देख सकते हैं और न बुद्धि से। तत्त्वदर्शी प्राचीन भारतीय ऋषियो ने उसे अवाङ्-मनो-गोचर कहा है। ईश्वर के समान ईश्वर-दर्शन भी अलौकिक है, इसलिए उसे भी शब्दो का विषय बनाना असाध्य है।

वेदाती लोग व्याख्या करते हैं कि जैसे अतःकरण का घट के आकार मे परिणत होना घट-दर्शन होता है, वैसे नाम-रूप परिमाणो से ऊँचा उठकर ब्रह्माकार में परिणत होना ही ब्रह्म-दर्शन है। किन्तु ब्रह्म का कोई आकार नही होता। वह निराकार है। निराकार ब्रह्म का कौन दर्शन कर सकता है ? निराकार तथा अपरिच्छिन्न ब्रह्म तक परिच्छिन्न मन कैसे पहुँच सकता है ? यदि कहें कि मन की कल्पना-हीन दशा मे ब्रह्मतत्त्व निरावरण, शुद्ध, केवल एक एव अद्वितीय होकर स्वमहिमा मे स्वय प्रकाशमान है, तो वेदान्त-पक्ष मे भी यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म-दर्शन, द्रष्टा आदि की कल्पनाएँ निरर्थक हैं, ब्रह्म-दर्शन लोक-साधारण दृश्य-दर्शनों के समान नहीं है, तथा ब्रह्म का दर्शन बड़ा ही अलौकिक अदृश्य दर्शन है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर के समान ईश्वर का दर्शन भी यों बड़ा ही विलक्षण इहलोक के परे हैं। वह वर्णनो से भी ऊपर विराजमान है। उसके बारे में सुनकर जान लेना असभव है, उसे देखकर ही जाना जा सकता है।

× × ×

गोमुख के पास अधिक दिनो तक रहते हुए मैं गोमुख के गुहा-स्थान पर जाकर कई दिनो तक स्नान किया करता था। एक छोटी-सी बालिका के समान उस कृशकाय हिम-गगा मे एक बार गोता लगाना सामान्य लोगों के लिए असभव है। आस्तिक लोगो का विश्वास है कि इस गोमुखी जल मे एक सप्ताह स्नान करना इस नर-शरीर को निष्पाप एव सफल बना देगा। सनातन-धर्मियो का यह विश्वास है कि प्रयाग आदि निम्न तीर्थों के गगा-जल की एक बूद भी यदि मरणासन्न व्यक्ति के मुख से छुआ दी जाए तो वह सद्गति को प्राप्त हो जाता है। उनकी दृष्टि में गोमुख से पहले-पहल निकलने वाली सुरसरिता गगा की एक बूंद के विषय में कितनी उच्च एव पवित्र भावना होगी, मेरे लिए यह निर्णय दे सकना अति कठिन है। परम-पवित्रा गोमुख-गगा के स्नान-पान आदि के फल का भला कौन निर्णय कर सकता है?

निम्नोन्नत तथा अति विकट पाषाण-गणो के बीच, महाहिमधारा से सतत गिरती रहने वाली बर्फीली चट्टानो के समीप गोमुख-गुहा के पास जाकर स्नान करना यद्यपि बड़ा ही साहसिक कर्म है, तथापि श्रद्धा-भक्ति के असीम उद्रेक के कारण बार-बार वहाँ जाकर स्नान करने मे मुझे कोई कष्ट या भय नही था, वरन् मेरे मन मे उत्साह, आनद और उल्लास ही उत्पन्न होता होता था। अनवरत श्रद्धा और भक्ति के साथ ही कई बार मैंने वहाँ जाकर गगा-स्नान तथा गगा-पूजन को यथाविधि सम्पन्न किया था। जिन वर्षों मे मै अधिक दिनो तक वहाँ नहीं रह सका था, तब एक ही बार गोमुख मे स्नान आदि करता था। जब एक ही स्नान का मूल्य चुकाने मे कर्म-फलो के दाता परमेश्वर को कष्ट उठाना पड़ेगा तो यह देखकर ही जाना जाएगा कि इतनी स्नान-पूजा आदि के स्वामी इस साधु के लिए उन सब का मूल्य सर्वज्ञ ईश्वर कितना चुका देंगे?

: २ :

भोग-प्रधान एव भोग-तृष्णा से कलुषित इस घोर कलिकाल में निष्काम कर्म, ध्यान-समाधि या ज्ञान-विचारो का अभ्यास शास्त्रो के अनुसार करना आसान नहीं है। इसीलिए हमारे दूरदर्शी पूर्वाचार्यों ने कलिकाल मे भक्ति-साधनाओ को शक्ति के अनुसार ही करने का बार-बार आदेश दिया है।

भक्ति-साधनाओ मे भगवान का नामोच्चारण बहुत आसान है। कोई भी पापी या विषयी "हे शिव !, हे कृष्ण !" का जप कर सकता है। चित्त को निष्काम बनाना, चित्त को एकाग्र बनाना अथवा चित्त को विचारशील बनाना विषयी लोगो के लिए असभव है। इसलिए इस मे पक्षान्तर नही है कि इस काल मे भक्तिसाधनाओ की ही सुलभता और प्रधानता है।

सरलता मे हो सकने वाले जप, प्रार्थना, कीर्तन, श्रवण आदि साधनाओं को नित्य करते रहने से भगवान् के चरणारविंदो का सच्चा अनुराग छोटे-से अकुर के रूप मे हमारे मन मे उठने लगता है। इसके बाद दुर्दम विषय तृष्णा तथा बहिर्मुखता धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है, और फिर चित्त भगवान् के अभिमुख प्रवाहित होने मे उत्सुक तथा उद्यत हो जाता है, सदा भगवान् के आकार के ध्यान में चित्त रमने लगता है। ज्ञानी लोग निराकार की चिंता मे रमते है तो भक्त साकार के ध्यान मे आनद का अनुभव करते हैं। साकार और निराकार मे ईश्वर-वस्तु दो नही होती। ईश्वर एक ही है। इसलिए *जिस भक्त को ईश्वर के साकार रूप मे अनन्य अनुराग प्राप्त हुआ हो, उसके* लिए और कोई लाभ पाना शेष नही है।

ऐसा नही समझना चाहिए कि निराकार एव निर्विशेष पर-ब्रह्म-तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, और यदि वह भक्त को प्राप्त नहीं हुआ है तो भक्त कृतकृत्य नही हुआ है। यदि कोई ऐसा निर्विशेष रूप भगवान् का हो तो उस कैवल्य-साधन-स्वरूप को आज नही तो कल वह अपने अनन्य भक्त को दिखाकर उन्हें कैवल्य-पद की ओर उठा देंगे। इसलिए *साकार-निराकार के कोलाहल मे भाग लिये बिना एक मुमुक्षु साधक को* चाहिए कि वह साकार की दृढ़-भक्ति अथवा निराकार का दृढ़ ज्ञान बड़ी तत्परता से अभ्यास करके पा ले। ज्ञान का परम एव चरम परिणाम एक ही है। इसमे सन्देह नहीं कि वह ब्रह्म-प्राप्ति रूपी निर्वाण-पद ही है। ब्रह्म-ज्ञान रूपी गंभीर एव विकट महागिरि-शिखर पर चढ़ने की कोशिश करके कोई रास्ता पाये बिना मुँह के बल नीचे गिर कर नष्ट होने वाले अनधिकारियों की अपेक्षा वे व्यक्ति कितने भाग्यवान् हैं जो "हे शिव ! हे कृष्ण ! हे भगवान् !" का केवल नाम-स्मरण श्रद्धा के साथ करते हुए भक्ति के मार्ग में धीरे-धीरे आगे बढ़ते जा रहे हैं।

पडित और पामर दोनो के लिए ईश्वर के पास पहुँचने के लिए भक्ति का मार्ग बड़ा सुगम है। इसलिए कई वैदिक तथा ईश्वरदर्शी भक्त आचार्यों ने

इस प्रेम-मार्ग की अत्यंत प्रशंसा करके त्रिविध तापों से तप्त इस संसार में बड़ी संलग्नता के साथ भक्ति का प्रचार किया था।

न्याय, शास्त्र या अनुभव से यह तो सिद्ध है कि सर्वशक्त भगवान अपने भक्तों की भावना के अनुसार कुछ रूप धारण कर उन पर अनुग्रह करते हैं अथवा उनको साक्षात् दर्शन देकर उन्हें आशीर्वाद देते हैं। अतः भगवान के प्रेमियों को 'हे शिव ! हे कैलाशपति ! हे कृष्ण ! हे वैकुंठवासी ! पाहि, पाहि" का प्रेमोन्मत्तता के साथ उच्चारण करके रोदन करते सुनकर यदि कोई लोग उन्हें मूढ़-मति कहकर उनका उपहास करें तो अहो ! वे अभिमानी लोग अपना ही उपहास करते हैं।

दार्शनिक विचार-दृष्टि से प्रेम का हेतु एवं ज्ञान का हेतु तथा प्रेम का स्वरूप एवं ज्ञान का स्वरूप आदि का यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप से निरूपण किया जाता है तो भी यह तो निश्चित है कि उनके साधकों के लिए प्राप्त अन्तिम फल भिन्न नहीं, एक ही है। जो लोग ईश्वर-भक्तों का परिहास यह कहकर करते है कि ये तो मार्ग भूले हुए है वस्तुतः वे परिहास के पात्र हैं। मन विषय-प्रेम को छोड़ भगवान के रूप में अनुरक्त हो जाए, महान् पुण्य का यही महान् फल है।

भगवान् का स्वरूप जो भी हो, सांसारिक प्रलोभनों से बिलकुल मुक्त मन ही उसके प्रेम में लीन हो सकता है। भगवान् के प्रति प्रेम-प्रवाह में जिन की सांसारिक वासना समूल नष्ट हो गयी है, वे यदि ईश्वर की सत्ता में दृढ़ रूप से विश्वास करें तथा अद्वैत ज्ञान की कामना करें तो यह नितान्त स्वाभाविक है। जो धन्यात्मा लोग यह श्रद्धा रखते हैं कि ईश्वर विद्यमान है और ईश्वर ही सारे संसार का पालन करने वाला जगत्-पिता है, वे अपने संस्कार के अनुसार चाहे किसी भी आकार में भगवान की कल्पना करें, चाहे किसी भी विशिष्ट लोक में, किसी भी श्रेष्ठ आसन पर बिठाकर मन से उसकी पूजा करें, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर परमात्मा उनसे अवश्य प्रसन्न हो जाएगा।

'हे परमात्मा, तुम्हारे मनोहारी रूप को मैं अपनी इन आँखों से कब तक देख सकूँगा ?' भक्त की इस प्रार्थना में उमड़े हुए गहरे प्रेम-रस की दिव्य मधुरिमा वही जान सकता है जिसने इसका अनुभव किया हो। इस प्रकार ज्ञान के समान जब भक्ति भी उत्तम ही है तो दार्शनिक प्रक्रियाओं के अनुसार ज्ञान और भक्ति के बीच उत्तम और अधम भाव के निर्णय में व्यर्थ

समय गँवा देना बुद्धिमत्ता नही है। बुद्धिमानो को चाहिए कि वे अपने अधिकार के अनुसार किसी एक के आश्रय मे साधना करके दुर्लभ ईश्वर-दर्शन को पाकर इस अमूल्य मानव-शरीर को कृतार्थ करें।

ईश्वर-प्रेम के साधक भी गोमुख के समान ऐसे एकात स्थानो को बहुत चाहते हैं जो ईश्वर-महिमा की सतत उद्घोषणा करने वाले है। विरहिणी नारी प्रत्येक क्षण अपने प्रियतम का स्मरण करने वाली वस्तुओ से भरी कोठरी के एक कोने में चुपचाप बैठी अपने प्रियतम के ध्यान मे लीन रहती है। एक आहट की बाधा भी उसके लिए असहनीय हो जाती है। अपने प्राणप्रिय के ध्यान को चचल बनाने वाली सभी बाधाओ से वह घृणा करती है। इसी प्रकार अपने परम प्रेम के आधार भगवान के ध्यान एव प्रार्थना मे विघ्न-बाधाओ को जरा भी न सहने वाले भक्त के लिए ऐसे प्रशात और एकात स्थान से बढ़कर और कौन उत्तम स्थान मिल सकता है? ध्यान एव प्रार्थना के रस को अधिकाधिक सिद्ध कराने वाले पदार्थों को छोड़कर वहाँ उपस्थित करने वाली चीज भला और क्या हो सकती है? ईश्वर-दर्शी, ईश्वर-प्रेमी और ईश्वर-ध्यायी अपने ईश्वर के दर्शन, अनुराग तथा ध्यान की प्रवृत्तियो के अखंड अभ्यास के लिए अपने सस्कार-सम्पन्न मन के अतिरिक्त और किसी बाह्य पदार्थ का आधार ग्रहण नही करते। इसलिए इन तीनो के लिए एकात देश अत्यधिक उचित है। एकात देश उनकी साधनाओ को बढ़ाने मे बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

यह गोमुखी स्थान, जो नितांत एकातता की दृष्टि से ही नही, अध्यात्मिक शुद्ध वातावरण की दृष्टि से भी इस ससार मे अनुपम है।

●

ऐसे स्थान ईश्वरकर्मी केलिए, अर्थात् फल की कामना किये बिना ईश्वर-पूजा का अनुष्ठान करने वाले कर्मयोगी के लिए, अत्यन्त उपयोगी होते हैं। कर्मयोगी गोमुखी जाकर श्रद्धा के साथ स्नान करके ईश्वर-प्रसाद पा सकता है, उसके द्वारा पाप का नाश एव मन की शुद्धि कर सकता है तथा इस दिव्य स्थान को देखकर ईश्वर पर दृढ़ विश्वास कर सकता है।

कर्मयोगी अपनी साधनाओ के लिए बाहरी चीजों का आश्रय लेता है। प्राचीन आर्यो का मत यह है कि वर्णाश्रम के योग्य अग्निहोत्र आदि श्रौत-स्मार्त कर्मों का ईश्वर-अर्पण, बुद्धि के साथ निष्काम रूप से, करना ही कर्मयोग

है। किन्तु नवीन शिक्षित लोग तो कर्मयोग की नवीन व्याख्या करते हैं। उन का तर्क है कि पुराने जमाने में जब कि जीवन के विषय में इतना संघर्ष नहीं था और जो कि समृद्ध एवं निरुपद्रव था, देवताओं का निष्काम यजन-याजन आदि करके पूर्वज मन को परिमार्जित करके पवित्र बनाते थे। यह उचित ही है, लेकिन आज वह ज़माना नहीं है। इस ज़माने मे, जब कि मनुष्यों की संख्या और साथ ही साथ जीवन का संघर्ष बढ़ता जा रहा है, परोक्षवर्ती देवों से बढ़कर कठिनाई के साथ जीवन बिताने वाले अपरोक्षवर्ती मनुष्य ही पूजनीय हैं। इसलिए मनुष्यों के सुखमयजीवन के लक्ष्य से स्वार्थ-कामना के बिना सब तरह से उनकी सेवा करना ही आज का कर्मयोग है तथा देव-यजन आदि वैदिक-काल के आचरण आज बिलकुल व्यर्थ हैं।

इनका यह तर्क उपहास के साथ त्याज्य नहीं है। यद्यपि ईश्वर की पूजा एक ही है, तथापि प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में पूजा की वस्तुएँ एवं पूजा-विधियाँ भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ सकती हैं। इस प्रकार ईश्वर-पूजा के कर्मयोग में देश-कालो की भिन्नता के कारण कर्मों में भी भेद आ जाता है, यह तर्क बुद्धिशून्य नहीं कहा जा सकता। उनका यह उपपादन सुन्दर हुआ है कि जैसे पुष्प, निवैद्य आदि पूजा द्रव्यो एवं पूजा रीति के भेद में भी ईश्वर की अर्चना दूषित हुए बिना ईश्वर-प्रसाद का कारण बन जाती है, वैसे ही कर्मों के भेद में भी कर्मयोग दूषित हुए बिना ईश्वर-प्रसाद का साधन बन जाता है।

वर्णाश्रम नियम, उसके आधार से होनेवाले कर्मानुष्ठान-नियम तथा उन नियमों के ज्ञापक माने जानेवाले वेद अनादि तथा सनातन हैं—ऐसा विश्वास सनातन-धर्म की इसी भूमि में आज नष्टप्राय हो गया है। उसका कारण यही है कि आज के भारतीय श्रद्धा एवं परंपरा को प्रधान माने बिना बुद्धि को मुख्यता देने वाली नवीन शिक्षा से दीक्षित है। वैदिक धर्माभिमानी लोगों का यह धर्म-सिद्धांत कि जन्म के आधार पर ही वर्ण हैं, सब कुछ वर्णानुसार ही करना चाहिए तथा उसके विरुद्ध काम करना पाप है, आदि धारणाएं आज आदर का पात्र नहीं, वरन् बड़े परिहास का पात्र बन गयी हैं। केवल भारत-भूमि ही कर्म-
र्ग पैदा हुए ब्राह्मण आदि वर्णाश्रम-अभिमानी ही कर्म के अधिकारी
हैं परमा
च्छ आदि विदेशी कर्म के अधिकारी भी नहीं हो सकते,
तक देख सकूंगा
प्राचीन मान्यताओं की ओर ध्यान देने वाला आज कोई
दिव्य मधुरिमा
व दिखायी नहीं देता।
प्रकार ज
अनुम आज के लोगों का यही निर्णय है कि चाहे जिस वर्ण में या देश मे पैदा

हो, सब मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार सकाम अथवा निष्काम कर्म करने के अधिकारी हैं। सनातन-धर्म के नियमों को मानें तो क्षत्रिय ही राज्य-शासन कर सकता है, दूसरे राजा बनने के अधिकारी नहीं होते। विद्या का समग्र अध्ययन एवं विद्या का अध्यापन करने के अधिकारी ब्राह्मण ही है। शूद्र वर्ण मे जन्म लेने वाला परिचर्या के कर्म को छोड़ और किसी कर्म के करने योग्य नहीं होता। वर्णों के परे रहने वाले यवन, मलेच्छ आदि के अधिकारों का कहना ही क्या है?

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसे अभागे इस ससार मे शोचनीय ही होते हैं। ऐसे धार्मिक नियम यदि आज के स्वतन्त्र-बुद्धि शिक्षित लोग सुनना ही न चाहे तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। आज का सामान्य धार्मिक नियम है कि मनुष्य कोई भी कर्म कर सकता है। जो काम ससार एव अपने लिए कल्याणकारी है, उसके करने मे सभी लोग समान रूप से अधिकारी हैं, पर ध्यान देने की बात यह है कि जो व्यक्ति कोई काम शुरू करता है, वह होशियार हो।

आज के धार्मिक एव अधार्मिक लोगो का सिद्धान्त है कि गुण तथा निपुणता के सिवा जन्म कर्म-विभाग का मानदड नही हो सकता। ईश्वर-तत्त्व को मानकर एवं ईश्वर-तत्त्व की प्राप्ति को ही परम-पुरुषार्थ समझकर उसके लिए उस ईश्वर की पूजा के रूप में कर्मों का निष्काम अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति धार्मिक कहाते हैं, तथा इसके विपरीत ईश्वर, ईश्वर-प्राप्ति या परलोक का विश्वास किये बिना केवल सासारिक सुखो को ही परम पुरुषार्थ मानकर उसके लिए, अर्थात् मनुष्य-वर्ग की ऐहिक उन्नति के लिए, कष्ट झेल-कर सदा कर्म करनेवाले अधार्मिक कहाते हैं। यह कहने की जरूरत नही है कि ये अधार्मिक लोग नास्तिक हैं, और इसी कारण कर्मनिष्ठ होने पर भी कर्मयोगी के पवित्र नाम के योग्य नही होते। इस वर्ग के बारे मे या उसकी दुर्गति के बारे मे मैं यहाँ कुछ आलोचना नही करना चाहता। इनके विपरीत कुछ प्राचीन पद्धति से कर्मयोग का अनुष्ठान करनेवाले तथा अर्वाचीन सिद्धान्तों के अनुसार निष्काम रूप से लोक-सेवा करनेवाले आस्तिक और कर्मयोगी भी हैं।

यद्यपि कर्म-विभाग तथा अधिकारि-विभाग के निरूपण मे इनके मत भिन्न-भिन्न हैं, तथापि यह मानना ही पड़ता है कि इस जग के मूल तत्त्व एव कर्म-फलों के दाता परमेश्वर की सत्ता मे दृढ़ विश्वास रखकर अपने कर्मों से

नित्य उसकी पूजा करने वाले ये व्यक्ति धीरे धीरे चित्त की शुद्धि पाते हुए परम पद को प्राप्त हो जाते हैं

यह तर्क हो सकता है कि प्राचीन सिद्धान्तवादियों के अग्निहोत्र आदि कर्म ससार के कल्याण के लिए उतने लाभकारी नहीं हैं, फिर भी वे ईश्वर की भक्ति, विश्वास एव पूजा में पीछे नहीं हैं । इसलिए वे सद्‌गति के अधिकारी होते हैं। यह ठीक है कि अन्धविश्वास, विचार-सकोच, धार्मिक ज्ञान की अपूर्णता, ससार-कल्याण में असमर्थता, आदि त्रुटियों के कारण यद्यपि ऐसे व्यक्तियों की मानसिक शुद्धि तथा सद्‌गति के विलंब हो सकता है, किन्तु ये व्यक्ति उन वास्तविक व्यक्तियों के समान दुर्गति को नहीं प्राप्त हो सकते । जो इहलोक मे लिप्त रहते हुए ईश्वर पर जरा भी विश्वास नहीं करते ।

•

किसी भी प्रकार का कर्मयोगी हो वह, कर्म के साधन के रूप मे कई बाहरी चीजे चाहता है । इसलिए कर्मयोग के अनुष्ठान के लिए गोमुख जरा भी अनुकूल नही होता । पुरातन रीति के पचयज्ञ आदि नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान हो, अथवा आधुनिक रीति के विद्या-प्रचार, राष्ट्र-शासन, खेती, व्यापार, नाना प्रकार की कलाओ की उन्नति आदि कर्मों का अनुष्ठान हो, जो सुख-समृद्धि के उपाय समझे जाते हैं, धन और जन के अत्यत अभाव के कारण वे यहाँ नितान्त उपलब्ध नहीं हैं । इसीलिए सकाम या निष्काम रूप से कर्म-जटिल जीवन बितानेवाले कर्म-रसिक और विषयो मे आनन्द लेनेवाले देहाभिमानी जन निर्विषयक एव नित्य-शान्त अद्वैत पद के समान कर्म या कर्म-साधनों से बिलकुल हीन इस नितान्त शात स्थान से डरते हैं ।

वेद वाक्य है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति ।' द्वैत से ही डर पैदा होता है । एक से भय कैसे हो ? द्वैत-कल्पना एव उससे होनेवाले इन्द्रिय-व्यापार ही भय तथा दु:ख पैदा करते है,फिर भी इन्द्रिय-व्यापार के कर्म या उसके साधन विविध विषय जहाँ नहीं होते, वह स्थान सचमुच भयदायक नही, अभय का हेतु है । पर जैसे आचार्य गौडपाद ने परिहास किया था कि 'अभये भयदर्शिन:,' वैसे अभय से निरतिशय आनन्द को अनुभव करनेवाले इस स्थान पर ये धर्मशील लोग भय से होने वाला विक्षेप-दु:ख भोगते हैं । चूकि अब वे नैष्कर्म्य रूपी नित्य शाति को जान कर भोगने के अधिकारी नही है, इसलिए उनका भय यह अनुचित नहीं है ।

अपनी विद्वत्ता एवं जन-नेतृत्व के द्वारा ऊँची श्रेणी मे विराजमान कई

स्वदेशी तथा विदेशी व्यक्ति गंगोत्तरी और गोमुखी में जाकर नैष्कर्म्य-निष्ठा मे रहनेवाले इस साधु से इस विषय में, अर्थात् नैष्कर्म्य-स्थिति के रूप एवं उपयोगिता के बारे में, श्रद्धापूर्वक, पर आलोचना के रूप मे, अक्सर कई प्रश्न किया करते है। किन्तु ऐसे प्रश्नो का समाधान देते-देते मुझे बड़ा अनुभव हुआ है। इसलिए अनायास ही उनके हर एक प्रश्न का स्पष्ट निरूपण करके समाधान देते हुए उनको पूर्ण संतोष प्रदान करता था। किया, कारक और फल का द्वैत ही ससार है। उसकी निवृत्ति ही सांसारिक निवृति है। यदि सक्रिय दशा ही ससार हो तो यह कहने की आवश्यकता ही क्या कि निष्क्रिय दशा सांसारिक निवृत्ति है ? यह प्राकृत लोग भी जानते है कि क्रिया, कारक और व्यवहारो की जागृत एव स्वप्न दशाएं ससार है, और सुषुप्ति की दशा सांसारिक निवृत्ति है। निष्काम होने पर भी कर्मों की आसक्ति के कारण यदि कोई इस शरीर मे कर्मों से शून्य नित्य-शांति-पद की इच्छा नही करता तो उस आसक्ति के कारण ही इस शरीर के गिर जाने के बाद भी उसे दूसरा शरीर ग्रहण करने की इच्छा हो सकती है।

जो यह जानता है कि जन्म, जरा, मरण आदि दोषो से दूषित एवं द्वैत व्यवहारो से भरा यह ससार दु ख रूप है, उसकी निवृत्ति ही मोक्षपद है और वह मोक्षपद त्रिकाल में एकरस, निश्चल एव नित्य शांत होकर विराजमान ब्रह्मवस्तु है, तथा उसकी निष्ठा करता है या निष्ठा करने की कोशिश करता है, तो उस दार्शनिक के बारे मे यह कल्पना कैसे की जा सकती है कि वह द्वैत के अनुसधान, उसके विभिन्न कर्मानुष्ठान एव संघर्ष में आनंद प्राप्त करेगा तथा नैष्कर्म्यरूपी नित्य शांति-पद से डर जाएगा। चित्त एवं इन्द्रियो के चलनात्मक कर्म ही यदि कोई चाहता है तो कर्म के साधन शरीर को बार-बार ग्रहण करने के अतिरिक्त उसके नाशरूपी मोक्ष की इच्छा वह क्यो करेगा ? जो अशरीर भाव की इच्छा नहीं करता, उसके लिए तत्त्वज्ञान, कर्मक्षय, वासनाक्षय, आदि सब पाने के वास्ते भगीरथ प्रयत्न करने की जरूरत ही क्या है ?

तात्पर्य यह है कि यों कर्मवीरों के लिए भय का स्थान होने पर भी वासनाहीन एवं उपरत-चित्तवृत्ति शान्तिप्रिय लोगों के लिए नैष्कर्म्य रूपी ब्रह्मपद के समान नैष्कर्म्य रूपी यह गोमुख प्रांत भी सर्वाधिक प्रिय अभयस्थान बन जाता है। नैष्कर्म्य रूपी ब्रह्मपद मे निष्ठित लोग भी यदि लोकसंग्रह के कामो मे लगे रहे तो यहां न तो यह निषेध किया जाता है कि वह

न करें और न यह विधि कि वे उसे करें। स्वभाव का निग्रह भला कौन कर सकता है ? कर्मों की प्रवृत्ति की मात्रा के अनुसार उस ज्ञानी जीवन में भी अनुकूल एवं प्रतिकूल वेदनाएं जरूर होती रहती है। ऐसे इष्ट एवं अनिष्ट अनुभव ही का नाम संसार है तथा शांतिपद का मोक्षस्थान तो संसार के नाममात्र में भी स्पर्शहीन है।

●

यहाँ मेरु हिमधारा और गंगोत्तरी हिमधारा के बीच में गोमुख से केवल दो मील ऊपर की ओर विराजमान 'तपोवन' नामक विशाल मैदान विशेष रूप से मन को आकृष्ट करनेवाला एक सुंदर स्थान है। जिन यात्राओं मे मैं गोमुख के पास रहा करता था, तब कई बार वहाँ जाकर मैं उस मैदान का दर्शन करता था तथा वहाँ प्रसन्नता के साथ बैठकर इस पार और उस पार के शिवलिंग, भागीरथी आदि रँगीले मनोहारी पहाड़ों को, दोनों ओर फैली हुई उज्ज्वल हिम-शिखरों की पंक्तियों को, सामने ही उस पार विराजमान 'नंदनवन' नामक विशाल मैदान को एवं बदरीनाथ के मार्ग की 'चतुरंगी' नामक प्रसिद्ध जलधारा को अतृप्त मन के साथ देख-देख कर आनंदित हो जाता था। जब चारों हिम-सघातों और हिम-शिखरों से भरकर रजत एवं सुवर्ण की शोभा मे चम-चम चमकते उस अद्भुत स्थान से अनमना होकर अपने निवास की ओर लौट आता था, तब मन को बड़ी कठिनाई से यों समझा देता था कि अगले वर्ष फिर तू इसी शिवलिंग मैदान में आनंद उठाएगा।

तपोवन मैदान से फिर कुछ दूर आगे बढ़ें तो वहाँ एक लंबा-चौड़ा नील निर्मल सरोवर प्राप्त होगा। यदि दिन में धूप हो तो उस सरोवर में श्रद्धा के साथ गोता लगाते, बड़ी देर तक जल-क्रीड़ा करते और उस के मनोहारी किनारे पर बैठकर खाना खाते, इहलोक-परलोक की चिंता छोड़ कर अति आनंदित होता रहता था। यद्यपि ऐसे कई छोटे सर गंगोत्तरी धारा में इधर-उधर दिखायी देते हैं, तो भी धारा के बीच वे सब सुगम या स्नान-क्रीड़ा आदि के लिए उपयोगी नहीं होते। वहाँ से कुछ आगे 'कीर्ति' नाम से प्रकीर्तित हिमधारा के पास भी कभी-कभी जाकर मैं जल-प्रपात तथा चारों ओर के दृश्य देखकर अद्भुत रस का अनुभव करता था। इस कीर्ति हिमधारा के मार्ग से यद्यपि यहाँ से केदारनाथ का शिखर सिर्फ पाँच मील की दूरी

पर है, तथापि हिमसंघातो से भरे-पूरे उस भयानक प्रदेश को पार करने की सामर्थ्य किसमे है ?

सन् १९४७ में स्विट्जरलैंड के कुछ पर्वतारोही लोगो ने परिश्रम किया था, अर्थात् कीर्ति हिमधारा के मार्ग से कठिनाई के साथ तीन-चार मील आगे बढ़ने में वे विजयी हुए थे। फिर भी उससे आगे जाने मे असमर्थ होकर वे निराश ही लौटे थे। विशाल गगोतरी हिमधारा के रास्ते पर यहाँ से करीब सात मील की दूरी पर सुमेरु का शिखर विराजमान है। भूगोल-शास्त्री कई आधुनिक लोग यह विश्वास करते है कि पुराण-प्रसिद्ध कनकादि का शिखर अर्थात् महामेरु का शिखर यही है, और वे अपने पक्ष के समर्थन के लिए कई प्रमाण प्रस्तुत करते है। गोमुख के निवास के समय मैं एक बार विशाल एव विकट गगोतरी हिमधारा को कठिनाई से पार कर उस पार की चतुरंगी हिमधारा के सगम पर जा पहुँचा था और वहाँ की लालिमामय ललामता का बड़ी देर तक उपभोग करता रहा था। यहाँ से इस कठिन चतुरगी हिम-धारा के द्वारा ही उद्यमी लोग दो-तीन दिनो मे बदरीनाथ पहुँच सकते हैं।

गोमुख के पास नीचे की ओर भूर्ज-वृक्षो के सुन्दर वनान्तरो मे लालिमा के साथ प्रकाशमान भृगुपथ हिम-धारा के पास भी मैं कभी-कभी कई दिनो तक रहा करता था। बडे बड़े रीछो के विहार-स्थान के रूप मे प्रसिद्ध उन वनो मे भी कभी-कभी ऊपर की ओर चढ़ता जाता था और वहाँ के विशाल हिम-सघातो के किनारे शाम को अकेले ही सब भय-चिंताएँ छोड़कर उनकी सुन्दरता देख-देख आनदोन्मत्त होकर देर तक भ्रमण करता रहता था। इन वनों मे ऐसे कई दिव्य वृक्ष, लताएँ तथा वनस्पतियाँ दिखायी पड़ती हैं जो और कही नही दिखायी पड़ती। कई छोटे-छोटे विचित्र पुष्पो को तोड़कर उनके गुच्छे बना लेना शाम का भ्रमण करते समय मेरा एक आनंददायक काम था। शायद स्वय देवराज भी ऐसे वनो एव हिम-धाराओं में स्वच्छद विहार करने तथा अन्यत्र अप्राप्य दिव्य शोभावाले ऐसे पुष्पों को तोड़कर हाथ में लिये आनदित होने की इच्छा करते होगे। किंतु महाभागी एवं स्वर्गपति होने पर भी इन्द्र के लिए इसका भाग्य कहाँ ? यहाँ के निवास के बाद गगोत्तरी की ओर लौटने पर मैं ब्रह्म-कमल—जल-कमल के आकार में ही बहुत ऊँचे हिम-प्रदेशों में पैदा होनेवाला एक प्रकार का स्थल-कमल—आदि बड़े आकार के फूलों तथा कस्तूरी-पुष्प आदि छोटे आकार के

फूलों को इकट्ठा करके ले गया था। वस्तुतः सब कुछ भूल जाने पर भी मेरे लिए यह न भुलायी जाने वाली बात थी।

सन् १९४१ के अगस्त महीने में मुझ पर अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले एक गुर्जर ब्राह्मण, मेरे संस्कृत-ग्रंथों के प्रकाशक वैद्यनाथ और वेदांत के पंडित श्री वल्लभराम शर्मा तथा दूसरे कुछ उच्च शिक्षित युवक अपने मित्रों के साथ मेरे दर्शन के लिए मेरे निवास-स्थान पर आ गये। उनके आगमन से मेरे मन में भी अति आश्चर्य तथा अति आनंद पैदा हुआ था। हिमालय के अत्यंत उन्नत तथा एकांत-शिखर प्रदेशों में मेरे ऐसे जीवन और उसमें मेरे ऐसे असाधारण प्रेम के बारे में जो व्यक्ति अब तक परोक्षरूप से जानते थे, अब इसे प्रत्यक्ष देख कर वे अति संतुष्ट एवं कृतार्थ हुए थे।

यद्यपि यह सज्जन अंग्रेजी में शिक्षित थे तो भी वे ईश्वर तथा महात्माओं में श्रद्धालु थे। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं उन्हें कुछ सन्देश लिख दूं। शायद वे इसे अखबारों में प्रकाशित कराना चाहते थे। उनकी उस इच्छा की पूर्ति करते हुए मैंने इस प्रकार लिखा---

"निरतिशय आनंद भोगने का भाग्य चिंताओं से संतप्त इस संसार में बहुत कम लोगों को ही मिल पाता है। नाना वासनाओं एवं विभिन्न कार्य-भारों से चंचल चित्त वाले साधारण लोग इस महाशान्ति का एक कण भी भोगने के अधिकारी नहीं होते। जैसे द्रव्य, प्रभुता आदि सम्पत्ति के बिना केवल इच्छा से राजभोग नहीं किया जा सकता, वैसे तत्त्वनिष्ठा, वासना-क्षय, उपरति आदि की सम्पत्ति के बिना इच्छा-मात्र से कोई आत्मशान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए साधारण लोग पहले कर्मों को छोड़ एकांतवास के लिए तैयार न हों, बल्कि तत्त्वनिष्ठा रूप मुख्य साधन का उपार्जन करें, और अंतःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम कर्म का निरंतर अभ्यास करें।"

मेरे इस लिखित सन्देश को लेकर वे बहुत प्रसन्न हुए, और गोमुखी-स्नान करके वे जल्द ही चले गये, मानो वे अपने अधिकार को जान गये हों।

•

ऐसे स्थानों पर जब मैं तंबू नहीं ले जाता था और पाषाण-गुफा आदि भी तत्काल नहीं मिलती थी तो कई बार भूर्जवृक्षों के नीचे बड़े आनंद से रहा करता था। सब तरह की सुविधाओं से पूर्ण निवास-स्थानों की अपेक्षा वे वृक्ष-मूल कितनी निवृत्ति देते थे, यह अनुभव करने की ही बात है।

वस्तुत: प्रतिकूलता की निवृत्ति ही अनुकूलता है। यह एक शास्त्र-सत्य है कि प्रतिकूलता का अनुभव दु:ख है एवं अनुकूलता का अनुभव सुख। आशय यह है कि प्रतिकूल दु:ख की निवृत्ति मे ही अनुकूल सुख की उत्पत्ति है। प्रतिकूलता जितनी दु:खद है, उसकी निवृत्ति मे अनुकूल बुद्धि भी उतनी ही सुखद होती है।

अधकार जितना गहरा होता है, उसके ध्वस का प्रकाश भी उतना ही तेरा प्रतीत होता है। बरसात मे वर्षा होती रहती है। हिमालय के हिम-प्रदेशो की शीत तो वर्षा में असहनीयता को पहुँच जाती है। ऐसी कठिनाई के समय उस कठिन प्रदेश में वृक्ष की छाया ही बडे-बडे महलों से भी अधिक आनद-दायक आश्रय बन जाती है। हिम-शिखरो की तराइयो मे वर्षा की ठड से कांपते हुए चलनेवाले मुसाफिर जब भूर्जवृक्षो की छाया मे यथेच्छ लकड़ी बटोर कर आग जलाकर उसके पास बैठे विश्राम करते हैं, तब उनका आनद एक विशाल महल मे सुवर्ण-मच पर विराजमान एक सम्राट् भी नही पा सकता। उस उन्नत भूमि में भूर्जवृक्षो से होने वाले उपकार को मेरा मन कृतज्ञता के साथ स्मरण किया करता है।

हिमगिरि के उन्नत-प्रदेशो मे भूर्जवृक्ष समाप्त हो जाए तो और किसी वृक्ष की पक्ति शुरू नहीं होती, अर्थात् हिमगिरि के हिम-प्रदेशो मे दिखायी पड़ने वाले आखिरी वृक्ष हैं भूर्ज। इसके बाद ऊपर की ओर यद्यपि कुछ दूर तक छोटे-छोटे पौधे दिखायी देते हैं, तथापि यही से वृक्षों से हीन और हिम से ढँके नगे हिमालय का अत्यत उन्नत प्रदेश शुरू होता है। हिमालय के सभी विभागों में से यहाँ का यह दुर्गम प्रदेश सबसे अधिक दिव्य, मनोहारी एव विचित्र है।

यह सबको ज्ञात है कि चर्मी का पेड़ निम्न प्रदेशो में नही पनपता, तथा यह एक अजीब और पवित्र वृक्ष है। भूर्जवृक्ष के वल्कल कपड़ो के समान पहनने, मत्र-तंत्र लिखकर पत्रों के रूप मे गले पर या हाथ पर बाँधने, ताम्र-पत्र या कागज के समान ग्रंथ लिखने आदि के काम मे आते है। इस विचित्र भूर्ज-वृक्ष के प्रति मेरे मन मे आदर तथा भक्ति की कोई सीमा नही है। ज्योंही रास्ते पर भूर्जवृक्ष दिखायी देता, त्योंही बड़े प्रेम-भाव से उसको प्रणाम करता। गोमुख की पहली यात्रा के बाद 'गोमुखी-यात्रा' नाम से जो दस श्लोक मैंने रचे हैं। उनमें से एक श्लोक भूर्ज के विषय में है—

> भ्रातर्भूर्ज ! नमस्कृतिस्तव पदे पुण्यातिपुण्यात्मन् !
> त्वां निन्दन्ति कपुयपोनिरिति ये धिक्तान् सुधीमानिनः ॥

स्थावर्यं तव गांगनीरलहरीसंघट्टितांगस्य यद्—
धन्यं धन्यमतीव धन्यममरेन्द्राद्यैश्च संप्रार्थितम् ॥

'हे भाई भूर्ज ! लो, सुकृतियों में भी सुकृति तुम्हारे चरणमूलों में नमस्कार ! स्थावर योनि के नाम से जो तुम्हारी निन्दा करते हैं, उन अभिमानी पंडितों को धिक्कार है ! क्योंकि वे नहीं जानते कि गंगाजल की लहरों से टकरानेवाला तुम्हारा स्थावरत्व धन्य, अतीव धन्य तथा देवेन्द्र आदि से इच्छित है।'

●●

१९. उपसंहार

हिमगिरि-विहार के विवरण-रूपी इस ग्रन्थ को यहीं समाप्त कर देता हूँ। इसे आगे बढाने के लिए मेरा मन इच्छा नही करता। मैंने नागाधिराज पर अपनी परिव्रजनात्मक तपस्या की महिमा का ढिंढोरा पीटने के लिए यह ग्रन्थ नही लिखा है। प्रस्तुत ग्रथ से मेरा उद्देश्य है कि हिमालय की प्राकृतिक, ऐतिहासिक एव अध्यात्मिक महिमा को थोडा बहुत मलयाली[1] पाठकों के दिल मे बिठा दू। किंतु हिमगिरि की महिमा का विवरण केवल उसकी सुषमा का निदर्शन कराने के लिए नही किया गया, बल्कि यह विवरण इसलिए किया गया है कि यह स्थान पुरुषार्थों मे श्रेष्ठतम अध्यात्मज्ञान के लिए अति उपयोगी है। इसी ज्ञान को उत्पन्न करने मे ही प्रस्तुत ग्रथ की चरितार्थता निहित है। वह कैसे ? अध्यात्मज्ञान तथा हिमालय की महिमा के वर्णन के बीच साध्य-साधन का भाव कैसे हो सकता है ? यह एक प्रश्न है।

ससार मे केवल हिन्दू ही नही, ऐसे दूसरे धर्मवाले भी हैं जिनमे से देवात्मा हिमालय की सर्वतोमुखी महिमा मे श्रद्धा एव आदर का भाव है। महा-महिमाशाली हिमालय सबके लिए श्रद्धा एव आदर का पात्र बनकर विराजमान है। हिमालय का नाम सुनते ही लोग आदर के कारण सिर नवाकर हाथ जोडे उसे प्रणाम करते हैं। इस प्रकार सब केद्वारा एव सब तरह से माननीय तुषार-गिरि की लोकोत्तर-महिमा को जो लोग उत्कठा के साथ इस ग्रन्थ के द्वारा विशेष रूप से जान लेते है, उनको कठिन अध्यात्मतत्त्व भी, आसानी से सरसता से सप्राप्त हो जाता है।

इस गिरि का हरएक मुख्य-धाम इस की महानता के विजय-स्तभ के रूप में विराजमान है। इस ग्रथ मे इन धामो की यात्राओ के विवरण के साथ-साथ इनमे सम्बद्ध अति निगूढ अध्यात्म-विषयो का भी सरल, सम्यक् एव विशद प्रतिपादन किया गया है। उसमे दार्शनिक विषयो को जो स्थान दिया

---

१. मूल ग्रन्थ मलयाळम में है, इसलिए 'मलयाळी' पाठकों का नाम विशेष रूप मे लिया गया।

गया है, उसका महत्व धामों एव यात्रा के विवरण से जरा भी गौण नही है, अपितु वस्तुत उससे भी मुख्य है। इसलिए यदि हम उत्साह के साथ हिमगिरि की महिमा का अभ्यास करें तो उसके द्वारा उत्साह तथा सुख के साथ अध्यात्मिक सिद्धात भी अवश्य बुद्धि आ जाएगे। अत. इसमे सन्देह नही कि एक विशेष ढग से दार्शनिक चिंतन मे तुहिन-गिरि के महिमा-वर्णन एव साध्य-साधन का एक महान् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है कि 'मैं' 'मैं' के प्रयोग का विषय बनकर सब की बुद्धि में स्थित आत्मवस्तु वही है जो ईश्वर, ब्रह्म आदि कई नामो से कहलायी जाती है, और जो जगत् की सृष्टि, स्थिति एव सहार के लिए हेतु-भूत स्वतत्र वस्तु है। इस ग्रन्थ का ही नहीं, सभी उपनिषदों का मुख्य विषय यही है। इस चेतन आत्मवस्तु को छोडकर और कोई ईश्वर नही होता। जो इसको जानता है, वह ईश्वर को जानता है। इस आत्मवस्तु के सिवा और उससे अन्य कोई तटस्थेश्वर या किसी लोक-विशेष मे छत्रपति के समान रहने वाला कोई साकार ईश्वर नही होता। 'नेदं यदिदमुपासते' आदि वाक्यो से हजारो वर्ष पूर्व ही हमारे उपनिषदो ने तटस्थेश्वरवाद का खडन किया है। यही अद्वितीय एक सत्य वस्तु है। दूसरी सब वस्तुएँ विकारी एव विनाशी हैं और इसलिए असत्य भी हैं।

देश-काल-वस्तुओं में अछिन्न आत्मरूपी यह ब्रह्मवस्तु निर्विकार रूप मे आकाश आदि के क्रम में इस जगत् की सृष्टि करती है। वह कैसे ? सृष्टि की हेतुभूत वस्तु मे विकार हुए बिना सृष्टि कैसे सभव हो सकती है ? उसमे स्थित एक शक्ति विशेष अपने आधार ब्रह्मवस्तु मे जरा भी विकृत हुए बिना इस ससार का सृजन करती है। उसके कारण ब्रह्म दशा-भेद या विकार पाये बिना सदा एकरूप मे विराजमान रहता है। यही शक्ति महान् विचित्रता के कारण, माया और जगत् की उपादान होने के कारण, प्रकृति आदि कई नामो से जानी जाती है। यही विचित्र शक्ति अथवा इस विचित्र शक्ति से युक्त ब्रह्म ही इस जगत् के परिणाम को पा गया है।

इस कल्पना का कोई न्याय नहीं दीखता कि चेतनता हर शरीर में भिन्न-भिन्न हो। यदि जड-स्वरूप ससार ही जगत् से भिन्न न हो तो चेतना-मय प्राणी ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकता है ? यो वेदान्त-दर्शन के कर्ता बादरायण एव उनके अनुयायी शकर आदि का यह मत है कि यह चेतनामय जगत् अद्वितीय चेतन ब्रह्म का ही परिणाम-भेद है—स्वय अपरिणामी होते पर

भी अपनी शक्ति के फैलाव से ब्रह्म परिणामी कहलाता है—अन्यथा वह स्वतंत्र पदार्थ नहीं है और सर्वोच्च सत्य भी है। उनका सिद्धांत है कि अपने और इस सारे संसार को ब्रह्म ही समझ लेना ब्रह्मज्ञान है।

इस प्रकार स्व-स्वरूप जगत्-स्वरूप उस अद्वितीय ब्रह्म में सतत रमते रहना ही परम पुरुषार्थ है और वही जीवन-मुक्ति की दशा है। जीव एवं ब्रह्म की एकता के इसी तत्त्व को, अर्थात् 'अद्वैत ही सत्य है' इस त्रिकाल-सत्य-सिद्धांत को, उसके अंगोपांगों तथा उसके सम्बन्धी दूसरे कई विषयों के साथ इस ग्रंथ में सरल रूप से संग्रह किया गया है।

संसार में पुरानी, नयी, प्राच्य तथा प्रतीच्य कई दर्शन-प्रणालियों ने जन्म लिया है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वे सब कई अंशों में अपूर्ण हैं। यह सर्वमान्य है कि ऐसा कोई दर्शन अभी तक संसार में नहीं हुआ है जो सभी प्रापंचिक रहस्यों को सब को समझा देने में समग्रत: समर्थ हुआ हो। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में कभी ऐसा कोई संपूर्ण एवं सर्वमान्य महादर्शन होगा या नहीं होगा। फिर भी कई दार्शनिक अंशों की उन्नति अभी होनी है, इसलिए इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा प्रयास करते रहना अति आवश्यक है। किन्तु पुराने ऋषियों के समान तत्त्व विचार में अभिलाषा एवं सामर्थ्य रखनेवाले, अतर्मुखी दृष्टि के पंडित, आजकल हमारे देश में या विदेशों में, बहुत कम हैं, और मानव की इस शोचनीय भाग्यहीनता तथा दुर्दशा पर दु:खी हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

संसार में आज दर्शन कितने अधूरे क्यों न हों, फिर भी उन सब में अनेक ग्रहणीय सत्य छिपे हुए हैं, और इसलिए उन में से कोई दर्शन त्याज्य नहीं है। अनेक लोग यह विश्वास करते हैं कि दूसरे दर्शनों की अपेक्षा वेदांत-दर्शन, अर्थात् शंकर-मत के नाम से प्रसिद्ध अद्वैत-दर्शन, उसमें भी चाहे कितनी ही कमियाँ हों, तथा समझ में न आनेवाले तर्कभीत बुद्धिमानों की बुद्धि के विषय न बन पाये हों, तो भी अधिक वास्तविक है, अध्यात्मिक रहस्यों से भरा है और इसलिए यह सर्वोत्तम है। ऐसे लोगों में से मैं भी एक हूँ। इसी विश्वास के फल-स्वरूप वेदांत में प्रतिपादित उसी अखंड वस्तु में मगन, अर्थात् चित्त-निरोध की समाधि-काल में और चित्त-व्यापार के विक्षेप-काल में, अटूट रूप से रमते तथा उसी में अटूट आनंद लेते विहार करने वाले इस साधु के अनुभवों एवं विचारों का इस ग्रन्थ में कई स्थलों पर उल्लेख किया गया है।

हिमालय के शिखर, कैलास के शिखर तथा मानस के किनारे में उसी

पूर्ण वस्तु को देखता हूँ। किसी भी देश, काल, वस्तु या दशा में मैं उसी स्वयं प्रकाशमान वस्तु का साक्षात्कार कर लेता हूँ। उस सत्य वस्तु को छोड़कर और किसी वस्तु को मैं नहीं देखता, और कुछ सुनता भी नहीं, और किसी को मैं छूता भी नहीं, और किसी की मैं रसानुभूति नहीं करता, और किसी को मैं सूँघता नहीं तथा और किसी की मैं चिंता भी नहीं करता। उस आनंद-वस्तु के बिना और किसी में मैं रमता नहीं, और किसी में क्रीड़ा नहीं करता, और किसी में आनंदित भी नहीं होता।

इस प्रकार बुद्धि तथा बुद्धि में थोड़ी शुद्धि रखनेवाले सभी मानव-बंधुओं से प्रार्थना है कि मानव-जीवन को कृतार्थ करने वाली इस ब्रह्मानुभूति का—इस अत्यंत मधुर ब्रह्मानुभूति का—आनंद उठा लें। घर में रहनेवाला कोई गृहस्थ भी एक वनवासी सन्यासी के ही समान अध्यात्म-विचार कर सकता है। सभी वर्णी तथा सभी आश्रमी आत्मानंद भोगने के अधिकारी हैं। यदि मानसिक शक्ति हो तो कितने ही व्यस्त व्यवहारों के बीच भी आत्मभावना असंभव नहीं है।

यह लेखक सन्यास लेकर हिमगिरि में ही परमात्म-महिमा का अनुसंधान करते हुए निर्वाप रूप से रहने वाला एक एकांत-प्रिय व्यक्ति है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि सन्यासाश्रम मानव-जीवन का पवित्रतम दशा-विशेष है, तथा वह दुःखमय कहलाने वाले इस संसार को आनंदमय बना देनेवाली एक विचित्र वस्तु है। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि विक्षेप के हेतु सब कर्मों के परित्याग के बिना कुछ अधिकारी लोगों के लिए अध्यात्म-विचार करना बिलकुल असंभव है, फिर भी मेरा यह मत नहीं है कि गृहस्थ आदि अन्य आश्रमी लोग अध्यात्म-विचार के अनधिकारी है, अथवा उन आश्रमों में अध्यात्म-विचार की चर्चा करना सहज नहीं। यद्यपि मैं यह बात पहले भी कई बार कह आया हूँ, तथापि दृढ़ता के लिए फिर बताये देता हूँ। हम कोई भी कर्म क्यों न करते हों, हमें आत्मा की चिंता करनी चाहिए। स्त्री, पुत्र और पौत्रों में घिरे घर में रहते हुए भी उस परमात्मा को प्रेमपूर्वक प्रणाम करो। इंद्रियों को चलानेवाली उस चेतनता का सतत स्मरण करते हुए ही इंद्रियों को उचित चेष्टाओं में लगाओ। सुरा-कुंभ पर मोहित हुए बिना सुधा-कुंभ का पान करके सदा आनंद प्राप्त करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।